

शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका : केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

शोध अंक 26

अप्रैल-जून 2014

200 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 07838090732

ई-मेल : shodhdisha@gmail.com

वेब साइट : www.hindisahityaniketn.com

क्षेत्रीय कार्यालय

दिल्ली एन०सी०आर०

डॉ० अनुभूति

सी-106, शिव कला

बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा

फोन : 09958070700

हरियाणा

डॉ० मीना अग्रवाल

बी-203, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,

गुडगाँव (हरियाणा)

फोन : 0124-4076565, 07838090237

डॉ० हरिशरण वर्मा

एफ-120, सेक्टर 10

डी०एल०एफ० (के०एल० मेहता स्कूल के पास)

फरीदाबाद (हरियाणा)

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक

डॉ० मीना अग्रवाल 07838090237

संयुक्त संपादक

डॉ० शंकर क्षेम

उपसंपादक

डॉ० रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक

गीतिका गोयल/ डॉ० अनुभूति

उपसंपादक

डॉ० अशोककुमार 09557746346

विधि परामर्शदाता

अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता

ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

शुल्क

आजीवन :

व्यक्तिगत : चार हजार रुपए

संस्थागत : पाँच हजार रुपए

वार्षिक शुल्क : पाँच सौ रुपए

यह प्रति : दो सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसेट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

- डॉ० सुधा ओम ढींगरा, 101, Guymon Court, Morrisville, NC-27560 USA
डॉ० सुरेशचंद्र शुक्ल, अध्यक्ष इंडो-नार्वेजियन सूचना एवं सांस्कृतिक मंच
प्रो० हरिशंकर आदेश, भारतीय प्राच्य विद्या संस्थान, कनाडा
डॉ० आर०पी० सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ०प्र०)
डॉ० अशोक चक्रधर, उपाध्यक्ष, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
डॉ० कमलकिशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार फेज-1, दिल्ली 110052
डॉ० हरिमोहन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, के०एम०मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
डॉ० बाबूराम, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
डॉ० राजेंद्र मिश्र, 14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म०प्र०)
डॉ० आदित्य प्रचंडिया, प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट (डीम्ड यूनिवर्सिटी)
दयालबाग, आगरा (उ०प्र०)
डॉ० रामसजन पांडेय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
डॉ० दामोदर खड्गसे, कार्याध्यक्ष, महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी, मुंबई (महा०)
डॉ० आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ० हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
डॉ० पद्मा पाटिल, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा०)
डॉ० माया टाक, प्रोफेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
डॉ० नरेंद्रकिशोर पांडेय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
डॉ० अनिलकुमार जैन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
डॉ० हनुमानप्रसाद शुक्ल, प्रोफेसर हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
डॉ० चंद्रकांत मिसाल, अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस०एन०डी०टी० महिला विद्यापीठ, पुणे (महा०)
डॉ० मुकेश गर्ग, रीडर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ० जितेंद्र वत्स, प्रोफेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
डॉ० हरeram पाठक, अध्यक्ष हिंदी विभाग, डिगबोई महिला महाविद्यालय, डिगबोई (तिनसुकिया) असम
डॉ० शंभुनाथ तिवारी, रीडर हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ०प्र०)
डॉ० श्यामधर तिवारी, प्रोफेसर हि०वि०, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
डॉ० दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
डॉ० सभापति मिश्र, पूर्व प्राचार्य, हंडिया कालेज, हंडिया, इलाहाबाद (उ०प्र०)
डॉ० शाहबुद्दीन शेख, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा०, औरंगाबाद (महा०)
डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
डॉ० महेशचंद्र, रीडर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ०प्र०)
डॉ० संतोषकुमार गौड़, रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ०प्र०)
डॉ० महेश दिवाकर, अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य एवं कला मंच, मुरादाबाद (उ०प्र०)
डॉ० घनश्याम अरोरा, पूर्व रीडर इतिहास विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ०प्र०)
डॉ० सुधारानी सिंह, वरिष्ठ प्रवक्ता हिंदी विभाग, शहीद मंगल पांडेय राजकीय महिला स्ना० महा०, मेरठ
डॉ० एम०एस० विमल, सहायक प्राध्यापक अँग्रेजी, शासकीय महाराजा पी०जी० महा०, छतरपुर (म०प्र०)

आजीवन सदस्य

उत्तर प्रदेश/ उत्तराखंड

डॉ० रामानंद शर्मा

अध्यक्ष हिंदी विभाग, हिंदू (पी०जी०) कालेज
9, जिगर कालोनी, मुरादाबाद (उ०प्र०)

डॉ० मधुलिका तिवारी

रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एल०आर० पी०जी० कॉलेज, साहिबाबाद
गाज़ियाबाद (उ०प्र०)

श्री हरिराम 'पथिक'

स्नेहगंगा, विष्णुधाम कालोनी,
गली नं० 3, न्यू माधोनगर, सहारनपुर (उ०प्र०)

डॉ० वंदना सेमल्टे

टी०एफ० 7, प्रेरणा अपार्टमेंट्स,
गांधीनगर, गाज़ियाबाद 201001

डॉ० मनमोहन शुक्ल

147, मायापुरी, आवास योजना
झुँसी, इलाहाबाद 211019

श्री अरुणकुमार भगत

माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता
एवं संचार विश्वविद्यालय, नोएडा परिसर
'माध्यम' सी-56, ए/5, सेक्टर-62
नोएडा 201301 (उ०प्र०)

डॉ० विपिनकुमार गिरि

पुराना माधव नगर, भारद्वाज गली,
सहारनपुर (उ०प्र०)

प्राचार्या

आर०बी०डी० महिला महाविद्यालय
बिजनौर (उ०प्र०) 246701

डॉ० सुधारानी सिंह

सी-54, सेक्टर-3, सुशांत सिटी,
दिल्ली बाईपास, मेरठ (उ०प्र०)

डॉ० प्रेमव्रत तिवारी

सरस्वती सदन, बेतियाहाता,
गोरखपुर (उ०प्र०)

डॉ० पूनम भारद्वाज

17 प्रेम विहार,
मुजफ्फरनगर 251001
09997100697

श्रीमती अल्पना

द्वारा श्री अरुण कपूर, III एच 288 नेहरू नगर
पवन सिनेमा के पीछे, राकेश मार्ग
गाज़ियाबाद 201001

डॉ० वंदना श्रीवास्तव

के 83 सी आशियाना
लखनऊ 226012
09415917170

डॉ० अर्चना वालिया

286, जौनपुर दक्षिण, स्नेहकुंज कालोनी,
कोटद्वार (गढ़वाल) उत्तराखंड 246149

डॉ० सुचित्रा मलिक

37 गांधी आश्रम, विष्णु गार्डन
कनखल (हरिद्वार) उत्तराखंड

मध्य प्रदेश

डॉ० राजेंद्र मिश्र

14/4 स्नेहलता गंज,
इंदौर 452003 (म०प्र०)

डॉ० स्मृति शुक्ला

ए-16 पंचशील नगर, नर्मदा रोड,
जबलपुर (म०प्र०)

डॉ० सुरेंद्र यादव

301 नवदीप अपार्टमेंट, 7 शंकर नगर (साकेत),
इंदौर 452018

डॉ० ज्योतिसिंह

213 अनूपनगर
सी०एच०एल० अपोलो हास्पिटल के सामने
ए०बी० रोड,
इंदौर 452008 (म०प्र०)
09926300355

डॉ० चंदा तलेरा जैन
जी-17, रेडियो कालोनी
इंदौर (म०प्र०) 452001
09425944773

डॉ० वंदना अग्निहोत्री
194 सुखदेव नगर, एरोड्रम रोड
इंदौर (म०प्र०) 452001
09926477787

डॉ० पुष्पा शाक्य
110, सुंदर नगर मेन
सुकलिया, इंदौर (म०प्र०)
09827281203

डॉ० चंद्रकिरण अग्निहोत्री
108, रेडियो कालोनी, इंदौर (म०प्र०) 452001
प्राचार्य

शासकीय महारानी लक्ष्मीबाई
कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
किला भवन, इंदौर (म०प्र०)

पंजाब/ हरियाणा

श्री हेमांशु शर्मा
हिंदी विभाग, साईदास ए०एस०सी० सी०से० स्कूल
पटेल चौक, जालंधर शहर (पंजाब)

प्राचार्या

कमला नेहरू कालेज फॉर वुमैन
फगवाड़ा (कपूरथला) पंजाब

प्राचार्या

कन्या महाविद्यालय
विद्यालय मार्ग, जालंधर (पंजाब) 144004

डॉ० विद्या चौधरी

मिर्जापुर फार्म,
कुरुक्षेत्र (हरियाणा) 136119

डॉ० विजय इंदु

1608 हाडसिंग बोर्ड कॉलोनी
सेक्टर 10 ए, गुड़गाँव (हरियाणा) 122001

कविता यादव

पुत्री श्री सुनिलकुमार, ग्राम व पोस्ट पालावास
जिला रेवाड़ी (हरियाणा) 123035

डॉ० राजाराम अग्रवाल
ग्राम व पोस्ट शेखपुर दरौली
जिला फतेहाबाद (हरि०) 125053
मो० 09896789100

महाराष्ट्र

डॉ० अश्विनीकुमार 'विष्णु'

अध्यक्ष अँग्रेजी विभाग
सीताबाई आर्ट्स कालेज, अकोला (महा०)

डॉ० शहाबुद्दीन नियाज़ मुहम्मद शेख
(प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा०औरंगाबाद)

अध्यक्ष, राष्ट्रीय हिंदी सेवी महासंघ
78/484 सिविल हडको, अहमदनगर 414003
09850119687

डॉ० लियाकत मियाँ भाई शेख

अखिलेश नगर, प्लाट क्र० 11
नए बस स्टेंड के पास,
गंगापुर, (औरंगाबाद) महा०
09423933402

प्रो० शेख मुहम्मद शाकिर शेख बशीर

अध्यक्ष हिंदी विभाग
पूना कालेज ऑफ आर्ट्स, कामर्स एंड साइंस
कैंप, पुणे 411201 (महा०)
09423017017

डॉ० मेहमूद रसूल पटेल

दारुल अमन, काशीनगर,
जालना रोड, बीड़ (महा०)

प्रा. डॉ० अभयकुमार रमेश खैरनार

मु. पो. जुनवणे,
तह. जि. धुले (महाराष्ट्र)

प्रा० अनंत नानाजी केदारे

5 पार्वती अपार्टमेंट, अयोध्या कॉलोनी
दाते नगर, गंगापुर रोड
नासिक 422005 (महा०)

डॉ० मंजूर चाँदभाई सय्यद

'गुलसिता' 223 औदुंबरनगर, अमृतधाम
पंचवटी, नासिक 422004 (महा०)
09822991516

डॉ० अशोक द्रौपद गायकवाड़
'कृतज्ञता', अवधूत पार्क, आरोह निसर्ग के पास
कादंबरी नगर क्रमांक 1 के पास
पाइप लाइन रोड, सावेडी
अहमदनगर (महा०) 414003
09822941330

प्रा० दत्तात्रय माधवराव टिलेकर
द्वारा संतोष मेडिकल, साई प्रेस्टिज, फ्लैट नं० 13
पाटील अली, ओतूर
तह० जुन्नर, जिला पुणे (महा०) 412409
09860229544

डॉ० मजीद मुनीर शेख
ग्राम व पो० साष्ट, पिंपल गाँव,
(वाया अंकुशनगर) तह० अंबड
षिला जालना (महा०) 431212
09765944586

डॉ० भरत त्र्यंबक शेणकर
द्वारा होटल जय महाराष्ट्र
ग्राम, पो० व तह० अकोले
षिला अहमदनगर (महा०) 422601
09423164521

डॉ० पोपट विठ्ठल कोटमे
फ्लैट नं० 5, सत्यसंगम
कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी
श्री जयनगर, इंदिरानगर, नासिक (महा०) 422006
09850760866

डॉ० शोभा साहेबराव राणे
17 स्वर समृद्धि अपार्टमेंट, नंदनवन लॉन के सामने
आशाराम बापू आश्रम मार्ग, सावरकर नगर,
गंगापुर रोड,
नासिक (महा०) 422013

डॉ० श्रीमती विजयालक्ष्मी नारायण रामटेके
सुशीला सोसायटी, प्लॉट क्र० 5
अजय जिम के पीछे, तेलरांधे के सामने
जरी पटका रिंगरोड, जरी पटका पोस्ट ऑफिस
नागपुर 440014 (महा०)

प्रा० (श्रीमती) ऐनूर अजीजभाई इनामदार
स्वामी समर्थनगर, राजूरी रोड
कोल्हार 413710
तहसील राहाता, जिला अहमदनगर (महा०)
09011449636

डॉ० एस०एन० देवरे
प्लॉट नं० 17, सिद्धिविनायक कॉलोनी
देवपुर, धुले (महा०) 424002

प्रो० डॉ० चंद्रकांत मिसाल
अध्यक्ष हिंदी विभाग,
एस०एन०डी०टी० महिला विश्वविद्यालय,
कर्वे रोड,
पुणे 411038 (महाराष्ट्र)

सुश्री शारदा बी. जावरे
ओमकार, समृद्धि डेपलपर, फ्लैट क्र० 402
प्लॉट नं० 26, सर्व क्र० 137/1 ए,
बराटे स्कूल के पास, वारजे, मालवाडी,
पुणे 411058 (महाराष्ट्र)

08805616654
सुश्री कामिनी अशोक न्यायाधीश
661 अरुणोदय कालोनी, सिडको एन-5
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
09975773345

प्रा. अशोक शामराव मराठे
116, सखाराम नगर,
पेरेजपुर रोड, साक्री, तह. साक्री,
जिला धुले 424304 (महाराष्ट्र)

प्रा. पंजाबी ममता नानकचंद
19/20, त्रिमूर्ति नगर,
मोरे अस्पताल के पास,
साक्री, तहसील साक्री,
जिला धुले 424304

प्रा० उषा पुंडलिक शिरोळे
द्वारा श्री शशिकांत हरी बागडे
गुरुकृपा हास्पिटल, डाक पारीपत्यदार
सावतानगर मालेगाँव, तह-मालेगाँव
जिला नासिक (महा०)

प्रा. करुणा दत्तात्रय अहिरे

व्ही.यू.पाटील कला एवं विज्ञान महाविद्यालय,
साक्री, तह० साक्री,
जिला धुले 424304

प्रा. डॉ० प्रमोद गोकुळ पाटील

मु.पो. मोराणे (प्र.ल.)
तह. जिला धुले 424001 (महाराष्ट्र)

प्रा. डॉ० संजय विक्रम ढोढरे

7, मोतीराम नगर, वाडीभोकर रोड,
देवपूर, धुले 424002 (महाराष्ट्र)

प्रा. डॉ० अशफाक सिकलगर

जीएफ-102 ताज अपार्टमेंट,
चालीसगाँव रोड, धुले (महाराष्ट्र)

प्रा. डॉ० महेंद्रसिंह रघुवंशी

सरस्वती नगर, प्लॉट नं. 10,
वाघेश्वरी मंदिर के पास,
नंदुरबार 425412

डॉ० रेखा वसंत पाटील

सीतामाई नगर, चालिसगाँव
जिला-जलगाँव (महा०) 424101

प्रा. डॉ० योगेश गोकुळ पाटील

प्लॉट नं. 12, नयना सोसायटी,
नकाणे रोड, देवपूर, धुले 424002

प्रा. डॉ० मंजू तरडेजा (सिंघाणी)

ब्लॉक नं. आर-10, रूम नं. 10,
कुमार नगर, साक्री रोड, धुले 424001

प्रा. डॉ० चंद्रमादेवी पाटील

59, धनदाई नगर, गोंदुर रोड, वलवाडी,
देवपूर, धुले 424005 (महाराष्ट्र)

डॉ० संजयकुमार नंदलाल शर्मा

38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी,
तलोदा, जि० नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

श्रीमती वर्षा सुभाषचंद्र देशमुख

बी-6, चंद्रवेल अपार्टमेंट, गोविंदनगर होटेल
प्रकाश्या भागे, मुंबई नाका,
नासिक (महाराष्ट्र) 422010

डॉ० देवकीनंदन महाजन

1 टेलीफोन कालोनी,
धुले रोड, अमलनेर (जलगाँव) महाराष्ट्र

डॉ० कल्पना राजेंद्र पाटील

38, जमनानंद, गुरुकुल कालोनी, तलोदा
जि० नंदुरबार (महाराष्ट्र) 425413

प्रा० डॉ० रामचंद्र माली

अध्यक्ष हिंदी विभाग, क०वा०वि० महाविद्यालय,
नवापुर, षिला नंदुरबार (महाराष्ट्र)

डॉ० सुषमा कोंडे

81/ए, प्लाट नं० 9/ए,
गिरिदर्शन हाउसिंग सोसायटी, बानेर रोड
पुणे 411007 (महाराष्ट्र)
09822848464

प्राचार्य

विद्यावर्धिनी महाविद्यालय,
धुले (महा०) 424001

डॉ० हेमलता कांचनकर

43 नंदनवन कालोनी (कैट),
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
09730202528

सुश्री नेहा संदीप घोरपडे

द्वारा सुश्री सुनीता पवार
फ्लेट नं० 404, प्रकाश मेमाराइज
एस नं० 73, दूध डेयरी, पुणे-411046

सुश्री निर्मला पुरुषोत्तम तोमर

फ्लेट नं० 12, एस नं० 137/2
वारजे मलवाडी, पुणे 411058
08087612123

सुश्री भारती मधुकर पाटील

मु०पो० सावलदे, तहसील शिरपूर
जिला धुले (महा०)

प्रा० शिंदे नवनाथ सर्जेराव

अध्यक्ष, हिंदी विभाग
सांगोला महाविद्यालय, सांगोला
कडलास रोड, सांगोला (सोलानुर) 413307
09763602304

सुश्री मीनल वार्वे

बी-8, ड्रीम घरकुल,
एम.एस.ई.बी. कॉलोनी के पास,
शिवाजी नगर, जेल रोड,
नासिक रोड (महाराष्ट्र)

प्रा० ईश्वर पदमसिंग ठाकुर

जनशक्ति कालोनी
रिंग रोड, फैजपुर
तहसील यावल (जलगाँव)

प्रो० दीपक विश्वासराव पाटील

मुकाम पोस्ट सुन्दने
निकट कलाविश्व कंप्यूटर सेंटर
तहसील जिला धुले
घुलेवाडी, संगमनेर (महा०) 424002
099923811609

डॉ० अनिता मधुकर अंतरे

मयूर सोलर ऐजेंसी
स्वामी समर्थ मंदिर के पास
पो० लोनी बी के, तालुका रहाता,
जिला अहमदनगर (महाराष्ट्र) 413736
09970343766

डॉ० विठ्ठलसिंह नंदरामसिंह ढाकरे

'सी' टाइप कालेज
शास्त्रीनगर, लासलगाँव
जिला नासिक (महाराष्ट्र) 422306
08888590156

प्रो० अमानुल्लाह मो० शेख

श्रद्धा रेजिडेंसी, बिल्डिंग ए, बिंग ए-201
आई०टी०आई० कालेज के पास
पो० मुकिन्दपुर, तह० नेवासा
जिला अहमदनगर (महा०)

डॉ० उर्मिला मानसिंह गायकवाड

प्लॉट नं० 290-292, सेक्टर-29
गुरु स्मृति अपार्टमेंट, ए-विंग, फ्लैट नं० 303 रावेत
निकट डी-मार्ट, पुणे 412101
मो० 07620225839

डॉ० एफ०एम० शाह

द्वारा श्री टी०एम० धुवारे
छोटा दत्त मंदिर के पास, टी०बी० टोली
गोंदिया (महा०) 441614
मो० 07620042772

डॉ० शैला पांडुरंग चव्हाण

फ्लेट नं० 1, सुविधिनाथ हाउसिंग सोसायटी
मुख्य फायर ब्रिगेड आफिस के सामने
हीरा-मोती शोरूम के पीछे, सिंघाड़ा तालाब
नासिक (महा०) 422001
मो० 09850827138

श्री शेख शिराज हसन

पोस्ट बोरी, तालुका खंडाला (सतारा)
415521 (महा०)
मो० 09011444059

प्राचार्य

कला, वाणिज्य व कंप्यूटर एप्लीकेशन महिला महा०
डोंगर कठोरे, यावल
जिला जलगाँव (महा०)

डॉ० सचिन कदम

हिंदी विभाग, संगमनेर महाविद्यालय
संगमनेर (महाराष्ट्र)

गुजरात**श्री गुलाबराव शांताराम बाविस्कर**

201, के-टॉवर, श्रीनंदनगर
सोखड़ा रोड, छाणी, बड़ोदरा (गुजरात) 391740
09624501415

तमिलनाडु**Dr. V. Jayalakshmi**

Mathura, Plot No. 38
5th Cross Street, Gokul Nagar
Preumbakkam, Chennai-600100

कर्नाटक**डॉ० जुबैदा हाशिम मुल्ला**

बैतुल हाशामी, म०नं० 152, ताजनगर
हुबली 580031 (कर्नाटक)

कागा सब तन खाइयो

एक दैनिक सामाचारपत्र में प्रकाशित एक सूचनात्मक रिपोर्ट पढ़कर मैं गहरी चिंता में डूब गया हूँ। रिपोर्ट मेरे शब्दों में कुछ इस प्रकार है—

‘विगत कुछ समय से उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र से गिद्ध और चील जैसे पक्षियों के, जो भारी संख्या में स्थान-स्थान पर दिखाई दिया करते थे, लुप्त हो जाने की चर्चा चल रही है। चीलों और गिद्धों को हम प्रायः आकाश की ऊँचाइयों में उड़ते देखते रहे हैं। जंगलों और मैदानों में मुर्दा जानवरों का मांस खाते हुए और बड़े-बड़े समूहों में बैठे देखते रहे हैं, किंतु अब कुछ समय से ये पक्षी बहुत कम देखने में आ रहे हैं। ये गिद्ध और चीलें कहाँ चली गईं? ये पक्षी किस कारण लुप्त हो गए? अभी हम इसका पता लगा भी नहीं पाए थे कि सुबह से शाम तक हमारे प्रत्येक घर में शोर मचाते हुए कौए भी गायब होने लगे। उत्तरी भारत में बहुतायत से पाया जानेवाला पक्षी अब बहुत कम मात्रा में दिखाई दे रहा है। कुछ समय पहले तक सूर्योदय उदय होने पर जब हमारी आँखें खुलती थीं तो सबसे पहले हमारे कानों में कौए की कर्कश आवाज़ सुनाई पड़ती थी। कौए की कर्कश आवाज़ के साथ ही हम नींद से जागते थे। कागा हमारी मुँडेर पर बैठा होता और ‘काँव-काँव’ का शोर मचा रहा होता था। कई बार हम रोटी के एक टुकड़े अथवा किसी अन्य खाद्य-सामग्री के लिए कई-कई कौओं को आपस में लड़ते हुए और छीना-झपटी भी करते हुए देखते थे। अब कुछ समय से यह सब देखने में नहीं आ रहा है। कौए हमारा साथ छोड़ते जा रहे हैं और इसी तरह गायब हो रहे हैं, जैसे कुछ समय पहले चील और गिद्ध गायब हो गए थे।

मैं अभी इस रिपोर्ट के पहले भाग पर ही पहुँचा हूँ, तभी मानव-अस्तित्व की ओर तेज़ी से बढ़ रहे बड़े खतरे की गंभीर चिंता ने मुझे घेर लिया है। नज़र उठाकर देखता हूँ तो मेरे आँगन और घर की दीवार पर आज कोई कागा नहीं है। सामने मैदान में जो नीम का वृक्ष खड़ा है, उस पर आज कोई कागा नहीं बैठा है, मानव के इस पुराने साथी को आज लुप्त होता हुआ देखकर मुझमें अधूरेपन का एक विचित्र-सा एहसास जाग गया है। किंतु मेरी चिंता का कारण यह नहीं है कि आज मैं अपने आसपास उस पक्षी को नहीं पा रहा हूँ, जो हमारी भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का विषय रहा है। इस पक्षी को लेकर कवियों ने कितने ही गीत, कितने ही दोहे, कितनी की कविताएँ लिखी हैं।

कागा सब तन खाइयो, चुन-चुन खइयो मास
दो नैना मत खाइयो, जिन पिया-मिलन की आस

मेरी चिंता का कारण यह भी नहीं है कि कागा हज़ारों वर्षों तक हमारे विश्वास और मान्यताओं के आधार पर संदेशवाहक रहा है। हम मानते रहे हैं कि जब मुँडेर पर कागा बोलता है तो वह घर में अतिथि के आने की पूर्व सूचना होती है। मेरी चिंता का कारण यह नहीं है कि कागा नहीं रहेगा तो अब कोई पक्षी किसी अतिथि के आने की सूचना लेकर भी नहीं आएगा। एक मनुष्य के नाते मैं कम-से-कम इतना विकास तो कर ही चुका हूँ कि पलक-झपकते ही समस्त आवश्यक-अनावश्यक सूचनाओं का आदान-प्रदान कर सकूँ। अब सूचना पाने या देने के लिए मुझे किसी कबूतर या कौए की आवश्यकता नहीं रही है। तब कौओं के गायब होते जाने की बात से मुझे चिंता क्यों? ज़रा ठहरिए, पहले इस सूचनात्मक रिपोर्ट का अध्ययन कर लें। रिपोर्ट में आगे कहा गया है—

‘पर्यावरण-संतुलन को ध्यान में रखते हुए यदि हम सोचें तो मानव-जीवन में पक्षियों का बहुत बड़ा महत्त्व है। आकाश में उड़ते हुए ये पक्षी पर्यावरण की सफ़ाई के बहुत बड़े प्राकृतिक साधन हैं। गिद्ध, चीलें, कौए और इनके अतिरिक्त कई और पशु-पक्षी भी, हमारे लिए प्रकृति की ऐसी देन हैं, जो उन समस्त कीटों, जीवों तथा प्रदूषण फैलानेवाली वस्तुओं का सफ़ाया करते रहते हैं, जो धरती पर मानव-जीवन के लिए ख़तरा उत्पन्न कर सकते हैं। कितने ही पशु-पक्षी हैं, जो कीट-कीटाणुओं तथा प्रदूषण-युक्त वस्तुओं को खाकर मानव-जीवन की और मानव-जीवन के लिए उपयोगी वनस्पतियों की रक्षा करते हैं। ऐसे पशु-पक्षियों का न रहना अथवा लुप्त हो जाना मनुष्य के लिए बहुत अधिक हानिकारक है।’

रिपोर्ट में कहा गया है कि गिद्ध, चीलें, बाज और कौए तथा अन्य अनेक प्रजातियों के ये पक्षी प्राकृतिक संतुलन रखने के लिए अपना असाधारण योग देते हैं। मानव-जीवन के लिए इन पक्षियों का जो महत्त्व है, उसका अनुमान हम अभी ठीक-ठीक नहीं लगा पा रहे हैं। यदि स्थिति ऐसी ही बनी रही तो भविष्य में हमें अनुभव होगा कि पशु-पक्षियों के छिन जाने से हम कितने बड़े घाटे में आ गए हैं।

रिपोर्ट में कहा गया है कि मनुष्य के लिए यह बहुत बड़ी और गंभीर चिंता का विषय है कि इन पशु-पक्षियों की संख्या दिन-पर-दिन कम होती जा रही है।

कौन नहीं जानता कि चीलें और गिद्ध मृत पशु-पक्षियों को अपना आहार बनाकर पर्यावरण को स्वच्छ बनाए रखने का कर्त्तव्य पूरा करते रहे हैं। वे मृत जानवरों के शवों के गलने-सड़ने और प्रदूषण फैलने से पहले उनका सफ़ाया कर देते हैं। इससे धरती का वातावरण विषैला होने से बचा रहता है। गिद्ध और चीलें ही नहीं, कौए भी पक्षियों की उसी श्रेणी में आते हैं, जिन्हें प्रकृति ने मनुष्य के लिए स्वच्छकार बनाकर भेजा है। ये पक्षी कूड़े-करकट के ढेरों में पड़ी गलने-सड़नेवाली वस्तुओं को खाकर समाप्त करते

रहते हैं।

रिपोर्ट में कहा गया है कि हमारी चिंता का विषय यह है कि जिस प्रकार गिद्ध और चीलें हमारे आकाश से गायब होती चली गईं, इसी प्रकार अब कौए भी हमसे विदाई लेते जा रहे हैं। प्रश्न यह है कि जब कोई भी इन पक्षियों का शिकार नहीं कर रहा है, कोई इन्हें मार नहीं रहा है, सता नहीं रहा है, तब क्या कारण है कि ये हमारी बस्तियों और शहरों से विदा होते जा रहे हैं, लुप्त या समाप्त होते जा रहे हैं?

सिरसा स्थित कृषि विज्ञान केंद्र में कार्यरत वैज्ञानिक डा. के.एन. छाबड़ा ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि गिद्ध, चीलें और कौए इस क्षेत्र से गायब होते जा रहे हैं। उन्होंने इस तथ्य पर गहरी चिंता व्यक्त की है। उनका मानना है कि पिछले कुछ समय से कौओं की संख्या में अप्रत्याशित रूप से कमी आई है। पहले यदि कोई कौआ बिजली के तार पर करंट लगने से चिपककर मर जाता था तो उसके शोक में शोर करते हुए हजारों कौए इकट्ठे होकर आसमान सिर पर उठा लेते थे। आस-पास के पूरे क्षेत्र में कौओं का सैलाब उमड़ पड़ता था। पर अब ऐसा नहीं होता। अब यह पक्षी समूहों में बहुत कम नज़र आता है।

डा० छाबड़ा का कहना है कि अब ऐसा इसलिए नहीं होता कि कौओं की संख्या निरंतर घटती जा रही है। अब कौए बहुत कम संख्या में रह गए हैं। जहाँ मनुष्य-जाति की संख्या बढ़ी है, वहीं पशु-पक्षियों की संख्या दिन-पर-दिन घटती जा रही है। परिणामतः पर्यावरण-संतुलन बिगड़ता जा रहा है। यह स्थिति मानव-जीवन के लिए अत्यधिक हानिकारक है। डा. छाबड़ा का कहना है कि बागों में कोयल भी अब बहुत कम दिखाई देती है।

पक्षियों की संख्या में जिस तेज़ी के साथ कमी आ रही है, उसका कारण बताते हुए वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि कृषि-उपज को बढ़ाने या उसे सुरक्षित रखने के लिए आदमी ने जिस अंधाधुंध ढंग से कीटनाशक विषैली औषधियों का प्रयोग किया है, वह इन पक्षियों के लुप्त हो जाने का सबसे बड़ा कारण है। वैज्ञानिक मानते हैं कि पशु-पक्षी अपनी प्राकृतिक बुद्धि से कीटनाशक दवाओं के प्रभाव को भलीप्रकार भाँप लेते हैं और उन स्थानों से पलायन कर जाते हैं, जहाँ इनका अंधाधुंध प्रयोग किया गया होता है और जहाँ की वनस्पतियों एवं वातावरण में इन विषैली औषधियों के अंश घुल-मिल गए होते हैं। किंतु जब अन्य स्थानों पर भी उन्हें वैसा ही प्रदूषण मिलता है तो इस विष के कारण उनकी प्रजातियाँ धीरे-धीरे लुप्त होने लगती हैं।

जब इस संबंध में वन्य-प्राणी विशेषज्ञों से पूछा गया तो उन्होंने बताया कि ऐसे समस्त पशु-पक्षी, जो मृत पशु-पक्षियों का मांस खाकर अपना पेट भरते हैं, इसलिए दिन-प्रतिदिन कम होते जा रहे हैं कि जिस मांस को वे खाते हैं, वह स्वयं अत्यधिक विषैला हो चुका होता है। यह स्थिति और भी अधिक गंभीर है, क्योंकि हम अपने-अपने

पालतू पशुओं को जो चारा दे रहे हैं, उस पर रासायनिक खाद एवं कीटनाशक दवाओं का पहले ही खुला प्रयोग हो चुका होता है। रासायनिक खाद एवं कीटनाशक औषधियों का विषैला प्रभाव चारे में बना रहता है। हमें उसका अनुमान तक नहीं होता। परिणामतः हमारे पशु धीरे-धीरे असर करने वाले विष का सेवन करते रहते हैं। वे स्वयं तो समय से पहले काल का ग्रास बनते ही हैं, साथ ही उन पशु-पक्षियों को भी अपना निशाना बना लेते हैं, जो उनके मांस का सेवन करते हैं। अन्य जीवों की अपेक्षा प्रतिरोधक शक्ति कम होने के कारण वे शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि अब विकसित देशों में बहुत-सी कीटनाशक औषधियों तथा कुछ विशेष रासायनिक खादों के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया है।

इसे भी एक विडंबना ही कहा जाएगा कि पश्चिम के विकसित देशों ने अपने यहाँ जिन कीटनाशक औषधियों अथवा रासायनिक खादों के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया है, वहाँ का व्यापारी-वर्ग उन्हीं को विकासशील देशों में भेजकर मोटा लाभ अर्जित कर रहा है।

वैज्ञानिकों का यह भी मानना है कि पर्यावरण में विषैले तत्वों के निरंतर बढ़ते रहने से पक्षियों की प्रजनन-क्षमता का भी हास हुआ है। प्रजनन-क्षमता कम हो जाने के कारण भी पक्षियों की बहुत-सी प्रजातियाँ लुप्त होती जा रही हैं।

वास्तविकता यह है कि आज वातावरण में जिस ओर भी देखें, विष ही विष घुला हुआ है। गाँवों, बस्तियों, नगरों और महानगरों से लेकर जंगलों और पर्वतों तक में विस्फोटक पदार्थों का जिस ढंग से खुला प्रयोग हो रहा है, उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। डीज़ल और पेट्रोल-जैसे ईंधन की बढ़ती हुई खपत और उसके फलस्वरूप वातावरण में घुलते हुए धुएँ ने धरती पर जीवन को कितना दुष्कर बना दिया है, यह कोई छिपी हुई बात नहीं है। ऐसी प्रदूषित हवा, ऐसे प्रदूषित जल, ऐसे प्रदूषित आहार को सेवन करनेवाले पशु-पक्षी (जो मानव-जाति से अधिक संवेदनशील हैं) यदि इस विष को सहन न करते हुए लुप्त होते जा रहे हैं तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है।

विचारणीय बिंदु यह है कि इन मांस-भक्षी पक्षियों के लुप्त हो जाने के उपरांत जब कोई ऐसा प्राकृतिक साधन हमारे पास नहीं रहेगा, जिससे हम अपने मृत पशुओं को गलने-सड़ने से बचाकर ठिकाने लगा सकें तो उस समय क्या होगा? गिद्ध, चीलें और कौए आदि मांस-भक्षी पक्षी तो हमारी धरती से विदा हो चुके होंगे, इनके दुर्गंध फैलानेवाले हाड़मांस के प्रदूषण से हमें बचानेवाला तो कोई होगा नहीं, तब स्पष्ट है कि स्वच्छ हवा में यह प्रदूषण फैलेगा और यह प्रदूषित हवा हमें भाँति-भाँति की जानलेवा बीमारियों की भेंट चढ़ा देगी। यह मांस-भक्षी पशु-पक्षी, जो प्रकृति ने हमें हर समय तत्पर रहनेवाले स्वच्छकारों के रूप में प्रदान किए थे, जब नहीं होंगे तो धरती पर मानव-जीवन कितना असुरक्षित हो जाएगा, इसका अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है।

विशेष बात यह है कि वातावरण में जो विष फैला हुआ है, जो प्रदूषण व्याप्त है, उसका उत्तरदायित्व भी हम मनुष्यों पर ही है। विकास की अंधी दौड़ में मानव यह भूल गया कि वह जिस शाखा पर बैठा है, उसी को काटता भी जा रहा है। उदाहरण के लिए पेट्रोलियम पदार्थों का प्रयोग आरंभ करते हुए कब किसने यह सोचा था कि इसके कसैले धुएँ से वातावरण प्रदूषित होगा अथवा भाँति-भाँति के रासायनिक खादों तथा कीटनाशक औषधियों से अपनी उपज को बढ़ाने एवं सुरक्षित रखने की लालसा में कब किसे यह खयाल आया होगा कि इसका विषैला प्रभाव हम पर ही नहीं, उन पशु-पक्षियों के जीवन पर भी पड़ेगा, जो धरती पर मानव-जीवन के लिए आवश्यक हैं।

गिद्ध और चीलें लुप्तप्रायः हो चुके हैं। कौएँ गायब हो रहे हैं। इस स्थिति को सामान्य मानकर छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। यह स्थिति इस खतरे का द्योतक है कि यदि यह सिलसिला चलता रहा तो धरती आदमी के अनुकूल नहीं रहेगी। पर्यावरण का संतुलन बिगड़ेगा तो धरती पर मनुष्य का जीवन भी खतरे में पड़ जाएगा।

अस्तु, पशु-पक्षियों के लिए ही नहीं, स्वयं अपने लिए भी हमने इस धरती को रहने-योग्य नहीं छोड़ा है। चील, गिद्ध और कौएँ जो धरती के प्रदूषित वातावरण से बचकर आकाश के स्वच्छ वातावरण में साँस लेने के लिए उड़ान भर लिया करते थे, अब वह आकाश भी उनके लिए अनुकूल नहीं रहा है। आकाश को भी मनुष्य ने कचरे और प्रदूषण से बुरी तरह भर दिया है।



डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

अनुक्रम

मदनगोपाल : प्रेमचंद के खोजी विशेषज्ञ और जीवनीकार /	
डॉ० कमलकिशोर गोयनका	15
वैश्य समाज और हिंदी साहित्यकार / डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	24
डॉ० मीना अग्रवाल	
साहित्य और समाज / प्रोफेसर आदित्य प्रचंडिया, डी०लिट्०	41
पूर्वोत्तर भारत में हिंदी / प्रो० महावीरसरन जैन	47
संत दादूदयाल के काव्य में सामाजिक समरसता / डॉ० संतराम वैश्य	50
प्रभा खेतान : नारीमुक्ति व स्वतंत्र्य की अभिप्रेरक / कु० अंजु शर्मा	56
गुरु गोविंदसिंह कृत चंडी-चरित्र में युगबोध/ हरदीप कौर	62
भारतीय संदर्भ में लोकशास्त्र की अवधारणा / डॉ० ऊषा सिंह	71
स्त्री सशक्तीकरण में उन्नीसवीं शताब्दी के चिंतकों की भूमिका / डा० ऊषा सिंह	75
परंपरा और आधुनिकता-बोध / डॉ० वीरेन्द्रकुमार शर्मा	79
कला और साहित्य में नारी / डॉ० वीरेन्द्रकुमार शर्मा	83
महाराष्ट्र में हिंदीकवियों की प्रदीर्घ परंपरा / शेख शिराज हसन	93
शैलेश मटियानी कृत कबूतरखाना उपन्यास में	
महानगरीय जीवन / प्रा. (श्रीमती) करुणा दत्तात्रय अहिरे	98
भीष्म साहनी के साहित्य में प्रगतिशील तत्त्व / डॉ० सुरेश बाबर	102
हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना / डॉ० धूपनाथ प्रसाद	108
अज्ञेय : साहित्य-चिंतन का नया परिप्रेक्ष्य	
और भारतीय काव्यशास्त्र / डॉ० नामदेव जासूद	114
अज्ञेय का साहित्य चिंतन साहित्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य / डॉ० नामदेव जासूद	120
सियारामशरण गुप्त के उपन्यासों में नारी-चेतना / डॉ० सीमा गुप्ता	130
बुंदेलखंड में दलित साहित्य के प्रणेता / डॉ० एम०एस० विमल, डॉ० के०एल० पटेल	135
साहित्य और उसकी प्रासंगिकता / डॉ० शमशाद हुसैन	141
संत कवि कबीरदास का वैचारिक दृष्टिकोण / भतेरी देवी	145
हरियाणवी लोकगीतों में अभिव्यक्त लोकजीवन / भतेरी देवी	149
नागार्जुन के उपन्यासों में वर्णित नारी के प्रवृत्ति	
के आधार पर विविध रूप / डॉ० (श्रीमती) रीना	157
नागार्जुन के आंचलिक राजनीतिक उपन्यास / डॉ० (श्रीमती) रीना	164

सूर्यबाला के उपन्यासों में चित्रित सामाजिक संघर्ष / डॉ० वसुंधरा	169
संचार माध्यम और हिंदीभाषा / डॉ० सचिन कदम	174
भारतीय भाषाओं की नाट्यपरंपरा का स्वरूप	
और तुलनात्मक अनुसंधान की संभावनाएँ / डॉ० सुनील बाबूराव कुलकर्णी	177
हरिशंकर आदेश के काव्य में जीवनमूल्य / डॉ० सुनीता देवी	191
रवींद्रनाथ त्यागी : व्यक्तित्व के रंग / डॉ० पंकज डी० पटेल	195
दलित-विमर्श और साहित्यिक संदर्भ / डॉ० कृष्णाकुमार गुप्ता	201
महाकवि सेनापति : चमत्कारशीलता और सामाजिक चेतना / डॉ० अशोक उपाध्याय	205
नवजागरण और हिंदी-उपन्यास / कविता यादव	213
इक्कीसवीं सदी की हिंदी कहानियों में वृद्धावस्था की समस्या /	
दीपारानी	221
जीवन के विविध आयाम और महिला हिंदी उपन्यासकार / डॉ० करनैल सिंह	226
कार्यरत तथा घरेलू महिलाओं की किशोरियों के	
मानसिक स्वास्थ्य में नर्वसनेस का तुलनात्मक अध्ययन	
डॉ० शुभा शर्मा, डॉ० उमा जोशी	231

मदनगोपाल : प्रेमचंद के खोजी विशेषज्ञ और जीवनीकार

डॉ० कमलकिशोर गोयनका

प्रेमचंद के पहले खोजी विशेषज्ञ और जीवनीकार मदनगोपाल का पिछले वर्ष 16 दिसंबर को देहांत हो गया और हिंदी के मठाधीशों, विद्वानों, लेखकों तथा प्रोफेसरों ने श्रद्धांजलि के दो शब्द भी नहीं कहे और वे इस उपेक्षा और उदासीनता के साथ इस संसार से विदा हो गए। हमारा समाज और उसमें साहित्यिक समाज भी शामिल है, अपने नेताओं और मठाधीशों के अमृत-महोत्सव मनाता है, उनकी दीर्घ आयु की कामना करता है, परंतु कुछ ऐसे भी समाजसेवी और साहित्य-साधक होते हैं, जिन्हें अपने महत् कार्य से न तो यश मिलता है और न उनके शव को कंधा देने वाले तथा पुष्पांजलि देने वाले लोग होते हैं। मदनगोपाल ऐसे ही हिंदी-अँग्रेजी-उर्दू के लेखक थे, जिनकी मृत्यु का समाचार भी समाचार-पत्रों में प्रकाशित नहीं हुआ, कोई शोकसभा नहीं हुई और उनके कार्य के मूल्यांकन का भी प्रयत्न नहीं हुआ। साहित्य-संसार की ऐसी उपेक्षा एवं कृतघ्नता पीड़ाजनक है, परंतु कोई लेखक लौटकर इसकी शिकायत नहीं करने आता। हमें ही अपने व्यवहार और रीति-नीति को बदलना होगा। लेखक जीवित हो या परलोक की यात्रा पर, वह हमारे सम्मान का समान रूप से अधिकारी है।

मदनगोपाल से मेरा परिचय सन् 1972-73 में हुआ था, लेकिन प्रेमचंद पर उनके कार्य से परिचय तभी हो गया था, जब अँग्रेजी में प्रेमचंद पर लिखी उनकी जीवनी 'मुंशी प्रेमचंद' प्रकाशित हुई थी। मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय से सन् 1961 में एम०ए० पास किया था और डॉ० नगेन्द्र के आदेश पर 'प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प-विधान' विषय पर सन् 1964 से शीघ्र कार्य करना आरंभ किया था। मैंने अपना कार्य आरंभ करने पर यह आवश्यक समझा कि उनके जीवन और साहित्य से पूर्णतः परिचित होऊँ और साथ ही उन पर उपलब्ध आलोचनात्मक पुस्तकों का अध्ययन करूँ। उस समय तक अमृतराय की जीवनी 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' प्रकाशित हो गई थी और साहित्य-संसार में उसकी बड़ी चर्चा थी। अमृतराय ने उसके साथ ही प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियों, पत्रों, आरंभिक उर्दू-हिंदी उपन्यासों तथा अनुवादों की नौ पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं। यह साहित्येतिहास की ऐसी घटना थी जो संभवतः पहली बार हुई थी। अमृतराय के इस अनुपम कार्य की सर्वत्र प्रशंसा हुई, क्योंकि ऐसे विपुल अज्ञात-अप्राप्य साहित्य की उपलब्धि इससे पूर्व नहीं हुई थी। इसके कुछ समय बाद मदनगोपाल की अँग्रेजी जीवनी 'मुंशी प्रेमचंद' छपकर आई तो मैं तब तक अमृतराय की जीवनी पढ़ चुका था, लेकिन यह उत्सुकता मुझे मदनगोपाल की अँग्रेजी जीवनी की ओर आकर्षित कर रही थी कि क्या दोनों जीवनी में एकरूपता है और यदि ऐसा नहीं है तो उनमें कैसा और कितना अंतर है। एक ही साहित्यकार पर लगभग एक ही समय पर दो जीवनियों के प्रकाशन की यह पहली घटना थी।

उस समय मेरा प्रमुख लक्ष्य 'प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प-विधान' विषय पर शोध-प्रबंध लिखना था और उनके जीवन तथा साहित्य को एक साथ रखकर देखने-समझने और लिखने पर ही जोर था, इस कारण इन दोनों जीवनियों का अध्ययन करके प्रेमचंद के जीवन को गहराई से समझने और जानने में ही लगा रहा। उनके तुलनात्मक अध्ययन का विचार तो आया, परंतु वह साकार तब हुआ जब मैंने 'प्रेमचंद विश्वकोश' पर अपना कार्य आरंभ किया।

मैंने प्रेमचंद पर अपना शोध-प्रबंध पूरा किया और मुझे सन् 1972 में पी०एच०डी० की उपाधि मिल गई। मैंने अपने शोधकार्य के समय यह पाया कि प्रेमचंद के उपन्यासों का रचना एवं प्रकाशन-काल तक अनिर्णीत है तथा उनकी व्याख्याएँ एवं प्रस्तुत निष्कर्ष भी तर्कसंगत नहीं हैं। इस स्थिति ने मेरे मन में 'प्रेमचंद विश्वकोश' की कल्पना उत्पन्न हुई और मैं अपने विभागीय सहयोगी डॉ० गंगाप्रसाद विमल के साथ प्रेमचंद के बड़े पुत्र श्रीपतराय से मिला, 'प्रेमचंद साहित्य-कोश' (तब यही नाम था) की योजना उनके सम्मुख रखी और उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से सहयोग देना स्वीकार किया। श्रीपतराय ने कुछ समय तक सहयोग दिया भी, लेकिन उन्होंने कुछ समय बाद इस योजना से स्वयं को अलग कर लिया। मुझे इससे धक्का लगा, परंतु इससे भी बड़ा धक्का तब लगा जब डॉ० गंगाप्रसाद विमल ने भी राजनीतिक दबाव के कारण मुझे मझधार में छोड़ दिया। मैं तब तक देश के असंख्य लेखकों तथा प्रेमचंद के समकालीनों से पत्र-व्यवहार कर चुका था। उस समय मदनगोपाल दिल्ली में ही थे। अतः उनसे भेंट करना तथा उनका सहयोग लेना आवश्यक था। मेरे मन पर मदनगोपाल के प्रेमचंद के पहले अँग्रेजी जीवनीकार तथा उनके खोजी रूप का बिंब अंकित था ही। जीवनी-लेखन की दृष्टि से अमृतराय की तुलना में मदनगोपाल का कार्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। अमृतराय प्रेमचंद के पुत्र थे तथा पिता के सारे दस्तावेज, जीवन और साहित्य के सारे स्रोत उन्हें उपलब्ध थे। अमृतराय की माँ शिवरानी देवी तब जीवित थीं, अतः तथ्यों की जानकारी एवं उनकी प्रामाणिकता के सूत्र उन्हें सहज रूप से प्राप्त थे, लेकिन मदनगोपाल के पास तो प्रेमचंद के प्रति श्रद्धा तथा निष्ठा के अतिरिक्त कुछ नहीं था। मदनगोपाल का जन्म हाँसी(हिसार) में हुआ था, इलाहाबाद या वाराणसी में नहीं, जहाँ रहने पर वे साहित्य के संस्कार और प्रेमचंद के संबंध में काफी जानकारी प्राप्त कर सकते थे। वे विज्ञान के छात्र थे, लेकिन मन साहित्य और पत्रकारिता में रचा-बसा था। मेरी मदनगोपाल से पहली भेंट अप्रैल, 1973 में हुई जब वे भारत सरकार के प्रकाशन विभाग में संयुक्त निदेशक थे। उनसे, 'प्रेमचंद विश्वकोश' की योजना पर विस्तार से बातचीत हुई और उन्होंने इसकी सराहना करते हुए अपना सहयोग देने का वचन दिया। इसके बाद उनसे मेरा बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा और उन्होंने प्रेमचंद पर लिखे अँग्रेजी लेखों की सूची भेजी और जब मैं उनसे उनके निवास पर 23 सितंबर, 1975 को मिला तो उन्होंने सन् 1944 में किताबिस्तान, इलाहाबाद से खरीदी गई अँग्रेजी में लिखी पुस्तक 'प्रेमचंद' भेंट की। अब तक मदनगोपाल को मेरी 'प्रेमचंद विश्वकोश' की योजना का पूर्ण ज्ञान हो चुका था और वे उसके महत्त्व को भी समझ गए थे। इसी कारण उन्होंने अपनी अँग्रेजी जीवनी 'मुंशी प्रेमचंद : एक लिटरेरी बायोग्राफी' के प्रकाशक एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई के जयसिंह को 17 दिसंबर, 1975 के पत्र में लिखा था कि आजकल एक पुरुषार्थी युवक प्रेमचंद पर एनसाइक्लोपीडिया की तरह का एक कोश तैयार कर रहा है। मैं चाहता हूँ कि प्रेमचंद पर आगे भी काम होता रहे, अतः आप उन्हें प्रेमचंद के चित्र

या उनके ब्लॉक उन्हें भेज दें। (मदनगोपाल से हुआ मेरा पत्र-व्यवहार 'प्रेमचंद के मदनगोपाल' पुस्तक में संकलित है)

मदनगोपाल ने मुझे 'प्रेमचंद' शीर्षक 130 पृष्ठों की पुस्तक भेंट में दी थी, जो अँग्रेजी में लिखी गई पहली पुस्तक थी, परंतु प्रेमचंद पर उनका कार्य उसके प्रकाशन-वर्ष 1944 से पहले ही शुरू हो चुका था। उन्होंने दिल्ली के 16, राजपुर क्वार्टर्स में रहते हुए श्रीपतराय को 1 दिसंबर, 1942 को पत्र लिखा और अपने कुछ प्रस्ताव लिखे। मदनगोपाल ने प्रेमचंद की 300 कहानियों की एक सूची बनाने और उन्हें कालक्रमानुसार प्रकाशित करने तथा उनके विषयगत संकलन निकालने का प्रस्ताव किया तथा आग्रह किया कि उनके उपन्यासों के प्रकाशन-वर्ष ठीक करने तथा अप्राप्य उपन्यासों के खोजने में मदद देने का आग्रह किया। उन्होंने प्रेमचंद के प्रथम उर्दू उपन्यास 'आवाजे खल्क' की भी चर्चा की, जिसे बाद में उनकी सूचना के आधार पर अमृतराय ने वाराणसी में खोजा और उसका हिंदी रूप 'मंगलाचरण' (1962) में प्रकाशित किया। मदनगोपाल की ये जिज्ञासाएँ और प्रस्ताव किसी हिंदी शोधार्थी के न थे, बल्कि ये प्रेमचंद के एक निष्ठावान पाठक के थे, जो विज्ञान का छात्र था, अँग्रेजी-उर्दू-हिंदी का ज्ञाता था और अँग्रेजी पत्रकारिता को अपनी जीविका का साधन बनाने वाला था। मदनगोपाल इसी के साथ प्रेमचंद के पत्रों के संकलन का कार्य भी शुरू कर चुके थे और उनका संपर्क भीष्म साहनी से भी था, जो स्वयं भी इसी प्रयास में लगे थे। मदनगोपाल की इस पत्र के बाद मित्रता निरंतर बढ़ती गई तथा पत्र-व्यवहार होता रहा और कुछ निजी जीवन की तथा कुछ साहित्य की बातों का आदान-प्रदान होता रहा। श्रीपतराय ने 5 मार्च, 1943 को बनारस से मदनगोपाल को पत्र में लिखा, 'मेरे पिता की चिट्ठियाँ इकट्ठी नहीं की जा सकीं। इस कार्य के लिए एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो अपना सारा समय लगाकर इस काम में जुट जाए और इस कार्य को अपने जीवन का ध्येय बना सके। मेरा विचार है कि हम इस दिशा में कुछ भी नहीं कर पाए हैं। यदि कोई इस कार्य को कर सके, तो मैं उसे इसकी कीमत भी चुका सकता हूँ।' स्पष्ट है, श्रीपतराय प्रेमचंद के पुत्र होने पर भी प्रेमचंद के पत्रों, दस्तावेजों आदि को खोजने का कार्य किसी दूसरे से पैसे देकर कराना चाहते थे। वे स्वयं इस महत् कार्य को अपने जीवन का मिशन बनाने को तैयार नहीं थे। मदनगोपाल ने सन् 1944 में 'प्रेमचंद स्मारक' की स्थापना का भी प्रस्ताव श्रीपतराय से किया और श्रीपतराय भी प्रेमचंद के नाम पर कोई सेवासदन या एकेडमी बनाना चाहते थे और उनके 25 अगस्त, 1944 के पत्रानुसार 8 अक्टूबर, 1945 (नौवीं पुण्यतिथि) को 'प्रेमचंद एकेडमी' की विधिवत् स्थापना होनी थी, किंतु ये सभी योजनाएँ कभी क्रियान्वित नहीं हो पाईं। मदनगोपाल सन् 1946 के आरंभ में लंदन में थे, तब श्रीपतराय ने अपने 18 फरवरी, 1946 के पत्रानुसार इ०एम०फोस्टर से मिलकर 'गोदान' का अँग्रेजी संस्करण के निकलवाने की व्यवस्था का आग्रह किया था, परंतु इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। मदनगोपाल और श्रीपतराय की मित्रता काफी वर्षों तक चलती रही, परंतु प्रेमचंद के संबंध में कोई कार्य नहीं हो सका। आज जो पत्र-व्यवहार उपलब्ध है और जो 'प्रेमचंद के मदनगोपाल' में संकलित है, उसमें प्रेयसियों के साथ मौज-मस्ती करने, विवाह करने और यौवन की उमंगों तक का वर्णन है। श्रीपतराय के 10 अप्रैल, 1948 को लिखे पत्र का यह अंश मदनगोपाल के व्यक्तित्व की रसिकता और यौवनकालीन प्रेम-प्रसंगों की एक झलक तो अवश्य ही दे देती है, जिससे उनके मित्रों-साथियों

तक को भी कोई जानकारी नहीं है। श्रीपतराय इस पत्र में लिखते हैं, 'जीवन और सुंदरियों की तुम्हारे पर सदा की तरह कृपा रही होगी। मेरा विचार है, विश्व के इतिहास में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जिसने अपनी सुन्दरता और यौवन का इतना लाभ उठाया होगा, जितना तुमने। क्या तुम अभी भी उसी तरह प्रभावशाली हो या अब ढलने के आसार उभर रहे हैं? तुम दिल्ली में बैठे क्या कर रहे हो? सुंदरियों को फांस रहे हो? क्या तुम्हारी भूख भरी नहीं? जब तुम अगली बार विदेश जाओ तो मुझे ले चलना, चाहे मोची के तौर पर हो या कुछ अन्य। मैं घर से बाहर कहीं दूर जाना चाहता हूँ। परंतु मुझे तरीके नहीं आते।' यह पत्रांश मदनगोपाल और श्रीपतराय दोनों ही के व्यक्तित्व के अज्ञात पक्ष का उद्घाटन कर देता है।

मदनगोपाल ने प्रेमचंद पर लेखन-कार्य सन् 1943 में शुरू किया। उस समय उन्होंने प्रेमचंद पर हिंदी-उर्दू की कई पुस्तकें पढ़ी थीं-'हंस' का 'प्रेमचंद स्मृति अंक' जनार्दन प्रसाद का द्विज की पुस्तक 'प्रेमचंद की उपन्यास कला', डॉ० रामविलास शर्मा की 'प्रेमचंद : आलोचनात्मक परिचय' (1941), प्रेम नारायण टंडन की 'प्रेमचंद : उनका कृतित्व और कला' (1942) तथा उर्दू में 'प्रेम सोग (1937)। इन पुस्तकों का उल्लेख उन्होंने अपनी सन् 1944 में प्रकाशित पुस्तक 'प्रेमचंद' में किया है। सन् 1943 में प्रेमचंद पर सौ पृष्ठों की उनकी पुस्तक छपी तो उन्हें खयाल आया कि अँग्रेजी में प्रेमचंद पर पुस्तक होनी चाहिए। इसके बाद वे इस कार्य में जुट गए और सन् 1944 के आरंभ में लाहौर के शिवनाथ मेहता ने 'प्रेमचंद' शीर्षक की उनकी अँग्रेजी पुस्तक प्रकाशित की और किताबिस्तान, इलाहाबाद ने इसे ढाई रुपए में बेची। मदनगोपाल ने यह पुस्तक गांधी और नेहरू को भेजी और अपने अँग्रेजी प्रोफेसर तथा उस समय इंदौर राज्य के शिक्षा मंत्री एच०बी० रिचर्डसन को यह पुस्तक अर्पित की। रिचर्डसन ने अपने 27 मार्च, 1944 के पत्र में मदनगोपाल को लिखा, 'तुमने उस लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व का बड़े ध्यान से और सूझबूझ से बढ़िया मूल्यांकन किया है। तुम्हारी उम्र के युवक के लिए यह करना बड़ी प्रशंसनीय उपलब्धि है। यदि मैं इसे कर पाता तो मुझे बड़ा गर्व होता।' इस अँग्रेजी पुस्तक की 'इलस्ट्रेटिड वीकली', बंबई, 'हिंदुस्तान स्टैंडर्ड', कलकत्ता, 'इंडियन सोवाल रिफार्म' बंबई आदि में समीक्षा प्रकाशित हुई और सभी ने हिंदी-उर्दू के इस महान लेखक का परिचय अँग्रेजी एवं अहिंदी भाषी पाठकों को कराने के लिए इस प्रयास की सराहना की। मदनगोपाल ने इस-पुस्तक की भूमिका में लिखा कि भारतीय साहित्य के चार श्रेष्ठ साहित्यकारों-रवींद्रनाथ टैगोर, इकबाल, शरतचन्द्र चटर्जी और प्रेमचंद में से अंतिम लेखक अँग्रेजी पाठकों से अपरिचित थे। मैंने इस पुस्तक के द्वारा लगभग 35 वर्षों तक हिंदुस्तानी साहित्य की निःस्वार्थ भाव से सेवा करने वाले तथा विश्व की भाषाओं में हिंदुस्तानी को स्थान दिलाने वाले लेखक पर कोई जीवनी एवं साहित्य के मूल्यांकन की पुस्तक न होने के अभाव की पूर्ति की है। मदनगोपाल ने इस पुस्तक की भूमिका में यह संकल्प भी किया कि वे भविष्य में प्रेमचंद की एक पूर्ण जीवनी लिखेंगे और उन्होंने अपना यह वायदा सन् 1964 में पूरा किया जब उनकी पुस्तक 'मुंशी प्रेमचंद' अँग्रेजी में प्रकाशित हुई।

'प्रेमचंद विश्वकोश' पर मेरा कार्य भी निरंतर चल रहा था। मैं प्रेमचंद की कालक्रमानुसार जीवनी के लिए सामग्री को एकत्र कर रहा था। मैंने समझ लिया था कि इसके लिए प्रेमचंद के पत्रों को एकत्र करना आवश्यक है। अमृतराय की पुस्तक 'कलम का सिपाही' तथा

मदनगोपाल की अँग्रेजी जीवनी 'मुंशी प्रेमचंद' पढ़ने के बाद यही सत्य सामने आया कि इन दोनों जीवनियों की रचना में पत्रों का महत्वपूर्ण योगदान है। ये दोनों ही जीवनियाँ लगभग एक ही समय में तैयार हुई थीं, लेकिन अमृतराय की जीवनी सन् 1962 तथा मदनगोपाल की जीवनी सन् 1964 में प्रकाशित हुई। मदनगोपाल की पुस्तक की भूमिका में 29 मई, 1962 की तिथि मुद्रित है, जिसका अर्थ है कि जब अमृतराय की जीवनी छप रही थी, तब ही मदनगोपाल ने अपनी अँग्रेजी जीवनी की पांडुलिपि प्रकाशक को दे दी थी, लेकिन प्रकाशक के विलंब के कारण वह सन् 1964 में छपकर आई। इस पर भी मदनगोपाल द्वारा खोजे गए प्रेमचंद के पत्रों का बड़ा सहयोग अमृतराय को 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' जीवनी के लिखने से मिला। अमृतराय ने 1958-59 में अपनी इस जीवनी पर कार्य करना प्रारंभ कर दिया था और उन्हें इसका ज्ञान था कि मदनगोपाल ने प्रेमचंद के पत्रों का संग्रह किया है और वे इस खोजी कार्य में निरंतर लगे रहते हैं। इस संबंध में मदनगोपाल को लिखा अमृतराय का पहला पत्र 7 जनवरी, 1959 का मिलता है, जिसमें अमृतराय ने लिखा है कि इन दिनों मैं प्रेमचंद के जीवन-चरित्र पर काम कर रहा हूँ और इसी प्रसंग में आपका सहयोग चाहता हूँ। अभी आपसे मेरी यही विनय है कि कृपया उन पत्रों की नकल मुझको कर लेने दीजिए जो आपने एकत्र किए हैं। मैं उनको प्रकाशित नहीं करूँगा। अपनी जीवनी के लिखने में मुझे उनकी आवश्यकता पड़ेगी। आशा है, इस सहायता से आप मुझको वंचित नहीं करेंगे। अमृतराय और मदनगोपाल में सन् 1959 के अंत तक यह सहमति बन गई और जिसे अमृतराय ने 30 नवंबर, 1959 के पत्र में लिखा भी कि मदनगोपाल के द्वारा प्रदत्त प्रेमचंद के पत्रों को दो खंडों में छापा जाएगा और दोनों पर संपादक के रूप में दोनों का नाम प्रकाशित होगा तथा मदनगोपाल को पहले खंड पर साढ़े सात प्रतिशत तथा दूसरे खंड पर पाँच प्रतिशत रायल्टी मिलेगी। अमृतराय की लिखित जीवनी 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' जब सन् 1962 में छपकर आई तो उन्होंने इसकी भूमिका में मदनगोपाल के इस सहयोग के संबंध में लिखा, 'इसके साथ मैं बंधुवर मदनगोपाल के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहता हूँ। मदनगोपाल जी ने मुंशीजी की साहित्य-सेवा पर अँग्रेजी में पहली पुस्तक 1944 में लिखी थी। तबसे आज तक मदनगोपाल जी इस विषय पर काम कर रहे हैं। उनका प्रयत्न प्रशंसनीय है। मेरी इस पुस्तक के कितने ही महत्वपूर्ण उद्धरण उनके द्वारा संगृहीत प्रेमचंद के पत्रों से लिए गए हैं। प्रेमचंद के पत्रों का यह संग्रह उनके बीस वर्ष के परिश्रम का परिणाम है। यदि इस संग्रह तक मेरी रसाई न होती, तो मुझे तो पुस्तक अधूरी-अधूरी लगती।'

मदनगोपाल और अमृतराय के पत्रों के उपयोग और प्रकाशन के संबंध में जो सहमति हुई थी और जो पत्रों में मौजूद थी, उससे अमृतराय के इस आभार का कोई मेल नहीं था। अतः मदनगोपाल का आहत होना स्वाभाविक था, क्योंकि अमृतराय ने 'प्रेमचंद : चिट्ठी-पत्री के दोनों खंडों पर संपादक के रूप में उनका नाम प्रकाशित नहीं किया था। मदनगोपाल ने 14 दिसंबर, 1962 को बड़े अपमान एवं आहत भावना से अमृतराय को पत्र लिखा कि तुमने जो आश्वासन मुझे दिए थे, वे सब तुमने नजरअंदाज कर दिए। मैंने पत्रों को ढूँढने में बीस वर्ष लगाए, देश-भर में घूमा, उनकी नकल की, टाइप कराए और तीन हजार से अधिक राशि खर्च की और जब तुम दोनों भाइयों ने कुछ नहीं किया, तब मैंने पत्रों को खोजने का सर्वप्रथम प्रयास किया। तुम्हें प्रेमचंद के पहले उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' तथा उनकी दो कहानियों-'बरात' और 'कातिल की

माँ' की भी जानकारी दी, किंतु इसका भी उल्लेख तुमने नहीं किया। मदनगोपाल ने लिखा कि तुमने मेरे साथ अन्याय किया है और अनुबंध तोड़ा है और मुझे यश और थोड़े से धन से वंचित किया है। प्रेमचंद जैसे महान व्यक्ति के पुत्र से ऐसे व्यवहार की कतई आशा न थी। इस समस्या का समाधान न निकला तो मुझे अदालत का दरवाजा खटखटाना पड़ेगा। प्रेमचंद के पुत्र को कटघरे में देखकर मुझे दुःख होगा। इस पत्र का कोई अनुकूल परिणाम नहीं निकला और मध्यस्थता के प्रयासों के असफल होने पर मदनगोपाल ने अपने वकील देविन्दर प्रताप वधवा के द्वारा 25 सितंबर, 1963 को अमृतराय को नोटिस दिलवा दिया और मामला अदालत में पहुँच गया, किंतु शीघ्र ही दोनों पक्षों में अगस्त, 1964 को समझौता हो गया जिसके अनुसार 'प्रेमचंद : चिट्ठी-पत्री'(दो भाग) पुस्तक में संपादक के रूप में अमृतराय के साथ मदनगोपाल का नाम भी छपा और उन्हें रायल्टी में भी अंशदान मिला और इस प्रकार मदनगोपाल ने प्रेमचंद के पुत्र से लड़ाई में विजय प्राप्त की।

यह एक अद्भुत संयोग ही है कि अमृतराय और मदनगोपाल लगभग एक ही समय में प्रेमचंद की जीवनी लिख रहे थे तथा दोनों के पास लगभग एक जैसी ही सामग्री थी, किंतु एक हिंदी में लिख रहा था तथा दूसरा अँग्रेजी में और दोनों में से किसी को नहीं मालूम था कि एक-दूसरे की लेखन-शैली क्या है। दोनों ही जीवनीकारों ने प्रेमचंद के पत्रों का बड़ी मात्रा में उपयोग किया, शिवरानी देवी की पुस्तक 'प्रेमचंद : घर में' से पर्याप्त सामग्री ली। समकालीनों के संस्मरणों का उपयोग किया, रचनाओं के सारांश दिए और जीवन को कालक्रमानुसार प्रस्तुत किया, परंतु दोनों में एक बड़ा अंतर यह है कि अमृतराय ने अपनी जीवनी को जहाँ उपन्यास के रूप में लिखा है, वहाँ मदनगोपाल ने उसे जीवनी के रूप में प्रस्तुत किया है। अमृतराय ने अपनी भूमिका में लिखा भी है कि यह भी एक उपन्यास ही है जिसका नायक प्रेमचंद नाम का एक आदमी है, फर्क बस इतना ही है कि यह आदमी मेरे दिमाग की उपज नहीं है, हाड़-मांस का एक पुतला है जो इस धरती पर डोल चुका है और समय की पगडंडी पर अपने पैरों के कुछ निशान छोड़ गया है। उसको मारने-जिलाने की, जैसे मन चाहे तोड़ने-मरोड़ने की आज्ञादी मुझे नहीं है, घटना-प्रसंगों का आविष्कार करने की छूट मुझे नहीं है, लेकिन मैं जानता हूँ कि पूर्ण स्वच्छंदता, उपन्यास की कहानी कहते समय भी नहीं रहती, वहाँ भी कहानी कहने वाला जीवन के खूँटे से, प्रतीति के खूँटे से बँधा ही रहता है। इसी स्थिति के कारण अमृतराय का जीवनीपरक उपन्यास धारावाहिक रूप में चलता है और 37 परिच्छेदों में जीवन-चरित पूरा हो जाता है, जबकि मदनगोपाल ने प्रेमचंद के जीवन को 54 अध्यायों में शीर्षकों के साथ प्रस्तुत किया है। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने दोनों जीवनीयों की तुलना करते हुए लिखा था कि दोनों में बहुत साम्यता है, परंतु मदनगोपाल ने अमृतराय से अधिक परिश्रम किया है, क्योंकि मदनगोपाल ने प्रेमचंद के पत्रों, दस्तावेजों, रचनाओं की प्रकाशन-तिथियों तथा रचनाओं का सारांश करने में बड़ा परिश्रम किया है और अँग्रेजी में लिखने के कारण भी अमृतराय की तुलना में अधिक समय दिया गया है और मेहनत भी अधिक हुई है। इस सत्यता के बावजूद तथा अमृतराय से अपने विवाद के समय में मदनगोपाल ने अमृतराय की जीवनी पर अपने 14 दिसंबर, 1962 के पत्र में लिखा था, 'तुम्हारी जीवनी तो एक अद्भुत कृति है और हिंदी साहित्य में इसका विशेष स्थान होगा। मैंने भी थोड़ा प्रयास तो किया है, परंतु वह यूँ ही है। मुझे दुःख है कि तुमने मेरे सहयोग के सुझाव को स्वीकार

नहीं किया था। हम दोनों ने एक ही दिशा में प्रयास किया है। तुम्हारी जीवनी में थोड़े से ऐसे तथ्य हैं जिन तक मेरी रसाई नहीं थी और मेरी जीवनी में भी कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो तुम्हारी जीवनी के पूरक रूप में हैं। 'जब तुम्हारी पुस्तक का नया संस्करण आएगा, शायद तब मेरी जीवनी के कुछ तथ्य उपयोगी हों।'

मदनगोपाल और अमृतराय की जीवनियाँ उत्कृष्ट, उपयोगी और प्रमाणिक कृतियाँ हैं, लेकिन जो स्वागत अमृतराय की जीवनी का हुआ, वह मदनगोपाल की अंग्रेजी जीवनी 'मुंशी प्रेमचंद' तथा उसके हिंदी रूपान्तर 'कलम का मजदूर : प्रेमचंद' का नहीं हुआ, यद्यपि दोनों ही जीवनीकारों से अनेक ज्ञात-अज्ञात तथ्य छूट गए थे अथवा खोजने से रह गए थे। प्रेमचंद के परिवार को ही यदि लें, तो अमृतराय की जीवनी में पिता के साथ उनके संस्मरणों का अभाव है, बड़े भाई श्रीपतराय का एक बार उल्लेख है, पत्नी से आठ वर्ष तक न पटने के प्रसंगों की चर्चा नहीं है, उनके आर्थिक जीवन का व्यवस्थित ढाँचा नहीं है तथा हिंदी लेखकों के साथ अंतरंग संबंधों के संस्मरण नहीं है। 'सरस्वती प्रेस' के मैनेजर प्रवासीलाल वर्मा, मालवीय की भी चर्चा नहीं है, जिन्होंने आठ-नौ वर्ष तक प्रेस को चलाया, उनके व्यवहार के कारण प्रेस में हड़ताल हुई, प्रेमचंद की पुस्तकें बेचीं और 'हंस' एवं 'जागरण' के संपादन-प्रकाशन का प्रमुख काम किया और सन् 1935 में प्रेमचंद ने उन्हें एक हजार रुपए गबन के आरोप में नौकरी से निकाल दिया। प्रवासीलाल ने यह मामला गांधी तक भेजा, पंचायत भी हुई, परंतु यह प्रसंग अदालत तक पहुँचा। अमृतराय ने अपने पास उपलब्ध बहुत-सी सामग्री का उपयोग नहीं किया। मैं अमृतराय से प्रेमचंद की पास-बुक, डायरी, पुत्री के विवाह पर हुआ पत्र-व्यवहार, प्रवासीलाल वर्मा के पत्र, प्रेमचंद को लिखे पत्रों का संग्रह आदि लेकर आया, परंतु उन्होंने इस सामग्री का कोई उपयोग नहीं किया। प्रेमचंद के जीवन की पूर्ण मूर्ति बनाने के लिए ऐसी सभी सामग्री का उपयोग करना आवश्यक था। मदनगोपाल के पास तो यह सामग्री थी ही नहीं, अतः इस सामग्री का उपयोग न करने का उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। ये दोनों ही लेखक प्रेमचंद के समकालीन लेखकों द्वारा लिखे कुछ महत्वपूर्ण संस्मरण भी खोज नहीं पाए, विशेष रूप से निराला का संस्मरण जो प्रेमचंद के देहांत के सात दिन पूर्व प्रकाशित हुआ था। मैंने अपने शोध-कार्य के दौरान जब निराला के इस संस्मरण को खोजा और प्रेमचंद शताब्दी वर्ष में प्रकाशित कराया तो अमृतलाल नागर ने इसकी बड़ी सराहना की थी।

मदनगोपाल ने प्रेमचंद की जीवनी के लिखने के बाद दो और महत्वपूर्ण कार्य किए— एक 'प्रेमचंद की आत्मकथा' का लेखन तथा दूसरा उर्दू में उनके समग्र साहित्य को 'कुलियात-ए-प्रेमचंद' शीर्षक से 24 खंडों में प्रकाशित कराना। 'प्रेमचंद की आत्मकथा' एक नया प्रयोग था। इसमें प्रेमचंद के उपन्यासों, कहानियों, लेखों आदि से आत्मकथात्मक अंशों को चुनकर तथा कालक्रमानुसार लगाकर आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह मदनगोपाल के अनुसार प्रेमचंद के शब्दों में लिखी गई आत्मकथा है, लेकिन इसका संकट यह है कि इसे तय करना कठिन है कि कौन-सी रचना आत्मकथात्मक है? यह भी मान लेना उचित नहीं है कि प्रथम पुरुष में लिखी प्रत्येक कहानी प्रेमचंद की अपनी कहानी है तथा इसे भी स्वीकार करना कठिन है कि प्रेमचंद यदि आत्मकथा लिखते तो इसी रूप में लिखते। यह साहित्य में नए प्रकार की कोई चीज है, जिसे कोई नाम देना कठिन है, परंतु मदनगोपाल के इस प्रयास की सराहना

तो करनी ही होगी कि उन्होंने प्रेमचंद के साहित्य से उनकी आत्मकथा के सूत्र खोजे, उन्हें एक क्रम में परोया और आत्मकथा के पढ़ने और उसका आनंद लेने का अवसर प्रदान किया। इससे भी महत्वपूर्ण कार्य जो उन्होंने किया वह 'कुलियात-ए-प्रेमचंद' का संपादन तथा उसे मानव संसाधन मंत्रालय (भारत सरकार) की संस्था-उर्दू प्रमोवान कौंसिल (रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली) से प्रकाशित कराना है। मदनगोपाल का अँग्रेजी और हिंदी की तरह उर्दू भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। वे उर्दू में भी प्रेमचंद पर बराबर लिखते रहे थे, अतः वे चाहते थे कि उर्दू में प्रेमचंद के संपूर्ण साहित्य का प्रकाशन हो जाए। उर्दू में डॉ॰ कमर रईस, डॉ॰ जाफर रजा, मानकटाला आदि ने प्रेमचंद पर काफी लिखा है, परंतु मदनगोपाल ही एकमात्र ऐसे प्रेमचंद-अध्येता निकले जो वर्षों तक 'कुलियात-ए-प्रेमचंद' को प्रकाशित कराने के लिए छटपटाते रहे। इस विषय में मदनगोपाल की मुझसे अनेक बार बातें हुईं और उन्होंने मेरे द्वारा खोजे एवं प्रकाशित प्रेमचंद के लगभग 1400 पृष्ठों की अज्ञात सामग्री को भी इसमें शामिल किया, परंतु वे उर्दू के व्यवहार से दुःखी होने पर भी इस उर्दू रचनावली के संपादन-प्रकाशन को अपना मिशन बना चुके थे। उनके जीवन का यह सबसे बड़ा संतोष था कि उनके जीवन-काल में 'कुलियात-ए-प्रेमचंद' का प्रकाशन हुआ और जब रायल्टी आदि के निर्णय में उदासीनता देखी तो उन्होंने प्रत्येक खंड के लिए एक रुपया रायल्टी के रूप में लेने का प्रस्ताव किया। यह उर्दूभाषा का सौभाग्य था कि उर्दू में प्रेमचंद रचनावली का संपादन एक उर्दू के प्रेमचंद विशेषज्ञ ने किया था, अतः उसकी प्रमाणिकता का संकट नहीं था, परंतु हिंदी में जिन लोगों ने प्रेमचंद रचनावली का संपादन-प्रकाशन किया, वे मात्र व्यापारी थे, जिन्होंने कुछ हिंदी विद्वानों का सहारा लेकर प्रकाशित कर लाभ कमाया था। यहाँ तक कि मेरी पुस्तक 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' (दो भाग) में संकलित तथा वर्षों की खोज से एकत्रित लगभग 1400 पृष्ठों के अज्ञात-अप्राप्य साहित्य को मेरी अनुमति के बिना ही उसमें शामिल कर लिया।

मदनगोपाल के कृतित्व के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे प्रेमचंद के पहले अध्येता और जीवनीकार थे जिन्होंने प्रेमचंद के पत्रों, कहानियों आदि को खोजा और जीवन के कई दशक पूरी निष्ठा के साथ अर्पित किए। वे पहले प्रेमचंद के निष्ठावान विशेषज्ञ थे, जिन्होंने अँग्रेजी, उर्दू तथा हिंदी में प्रेमचंद की जीवनी लिखी और तीन भाषा के पाठकों तक प्रेमचंद को प्रामाणिकता के साथ पहुँचाया। प्रेमचंद की अँग्रेजी में जीवनी लिखकर उन्होंने अँग्रेजी-विश्व तक प्रेमचंद को पहुँचाने का महत् कार्य किया तथा उनकी कई कहानियों का अँग्रेजी में अनुवाद करके तथा अँग्रेजी में उन पर लेख लिखकर भी उन्होंने अपने उद्देश्य में और भी सफलता प्राप्त की। मदनगोपाल इस दृष्टि से भी अकेले लेखक एवं खोजी अध्येता थे कि उन्होंने प्रेमचंद के छोटे पुत्र अमृतराय द्वारा अनुबंध भंग करने पर उनसे टक्कर ली और जीत हासिल की। मदनगोपाल के पत्रों से यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद और अमृतराय के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव था और वे चाहते थे कि अदालत में जाए बिना ही समझौता हो जाए, परंतु ऐसा नहीं हुआ। अंत में समझौता ही हुआ, परंतु वह अदालत के माध्यम से हुआ। उस समय ऐसा साहस शायद ही कोई कर सकता था। मदनगोपाल ने अपना जीवन एक पत्रकार तथा सरकारी पदों पर कार्य करते हुए व्यतीत किया, परंतु उन्होंने प्रेमचंद के अध्ययन, शोध एवं जीवनी-लेखन के लिए लगभग छह दशक अर्पित किए। वे साहित्य के लिए तो 'आउट साइडर' ही थे, लेकिन उन्होंने साहित्य के

लिए वह कार्य किया जो साहित्य को ओढ़ने-बिछाने वाले भी नहीं कर पाए। 'कुलियात-ए-प्रेमचंद' का प्रकाशन तो ऐतिहासिक घटना है जिसे कोई संस्था या अकादमी नहीं कर पाई तथा 125वीं वर्षगांठ पर भारत सरकार द्वारा स्थापित 'प्रेमचंद समिति' भी नहीं कर पाई जिसे सरकार से 5-6 करोड़ रुपए मिले थे, परंतु मेरे लिए मदन गोपाल का विशेष महत्त्व है। मदनगोपाल ने प्रेमचंद के शोध और अध्ययन का जो मार्ग बनाया था, उसने मेरा रास्ता सुगम बनाया और प्रेमचंद के अज्ञात-अप्राप्य साहित्य और दस्तावेजों को खोजने के लिए प्रेरित किया, यद्यपि यह कहना अनुचित होगा कि अमृतराय के कार्य से मुझे प्रेरणा तथा शक्ति नहीं मिली, परंतु मदनगोपाल ने मेरे कार्य की सराहना की और 'आजकल' पत्रिका में प्रकाशित एक इंटरव्यू में मदनगोपाल ने कहा था, 'मेरे बाद सबसे अच्छा काम डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका ने किया है। मैं उनके कार्य को महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। उन्होंने निश्चय ही मेरे काम को आगे बढ़ाया है।'

मदनगोपाल के संबंध में एक लक्ष्य और महत्त्वपूर्ण है। वे प्रेमचंद तक सीमित नहीं थे। उन्होंने तुलसी भारतेन्दु, पत्रकारिता आदि पर भी पुस्तकें लिखीं, लेकिन वे प्रेमचंद-विशेषज्ञ तथा प्रेमचंद के जीवनीकार के रूप में ही पहचान बना सके। वे साहित्य के दक्षिण-वाम किसी गुट से नहीं जुड़े और स्वतंत्र साहित्यकार के रूप में कार्य करते रहे। यह उनकी अपनी विशिष्टता थी। वे साहित्य के एकांत साधन थे, साहित्य की राजनीति तथा साहित्यिक समारोहों, उत्सवों तथा पुरस्कार-प्रसंगों से उनका कोई लेना-देना न था। क्या यही वे कारण हैं जिनके परिणामस्वरूप जब 16 दिसंबर, 2008 को उनका देहावसान हुआ तो हिंदी-संसार के किसी भी कोने से संवेदना और श्रद्धांजलि का एक स्वर भी नहीं निकला। हिंदी समाचार-पत्रों तथा टेलीविजन चैनलों के संबंध में तो कुछ भी कहना व्यर्थ है। अभी विष्णु प्रभाकर का देहांत हुआ तो किसी टेलीविजन चैनल पर खबर तक नहीं थी। मदनगोपाल का प्रेमचंद संबंधी कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। प्रेमचंद के जीवन और साहित्य को पूर्णत्व देने में उनका योगदान अनुपम और अप्रतिम है। उन्होंने अकेले जितना कार्य किया है, वह संस्थाएँ भी नहीं कर पातीं, फिर हिंदी समाज की यह उदासीनता और उपेक्षा उसकी संवेदनहीनता का प्रमाण है। हिंदी का एक साधक जिसने निःस्वार्थता तथा निष्ठापूर्वक साहित्य की सेवा की तथा उसके परिदृश्य का विस्तार किया, वह संसार से इस प्रकार चुपचाप चला जाए तो यह हमारे लिए लज्जा की बात है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर ही संभवतः हिंदी के कुछ साहित्यकार अपना अमृत-महोत्सव मना रहे हैं, अन्यथा यह कोई गारंटी से नहीं कह सकता कि उनके दिवंगत होने पर श्रद्धा के दो फूल चढ़ाने वाला उनका कोई भक्त अवश्य ही उपस्थित होगा। हिंदी भाषा और साहित्य की दुर्दशा का यह भी एक बड़ा कारण है कि हम अपने साहित्यकारों से प्रेम नहीं करते। हिंदी साहित्य इतने दलों, वादों, क्षेत्रों और विचारों में बँट गया है कि उसमें मदनगोपाल जैसे तटस्थ तथा वादरहित साहित्यकार की मृत्यु पर कोई भाव जाग्रत नहीं होता। हमें इस भावहीनता एवं उपेक्षा भाव को बदलना होगा और हिंदी भाषा व साहित्य की गौरव-रक्षा के लिए अपने मन के दरवाजों को सबके लिए खोलने होंगे।

ए-98, अशोक विहार फ़ेज-1
दिल्ली 110052

वैश्य समाज और हिंदी साहित्यकार

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

डॉ० मीना अग्रवाल

हिंदुओं की जाति-व्यवस्था के अंतर्गत वैश्यवर्ग वर्णाश्रम का तीसरा महत्वपूर्ण स्तंभ है। इस वर्ग में मुख्य रूप से भारतीय समाज के किसान, पशुपालक, और व्यापारी समुदाय शामिल हैं। इस बात को इस तरह भी कह सकते हैं कि वणिकवर्ग का संबंध धन, संपत्ति और व्यापार के कार्यों के साथ जुड़ा रहा। अभिप्राय यह है कि लक्ष्मी वणिक समुदाय की आराध्य देवी रही।

यह भी सुखद तथ्य है कि वणिक समुदाय ने अपने श्रम से जिस धन का उपार्जन किया, उसे समाज के हितार्थ व्यय करने में भी वे कभी पीछे नहीं रहे। देश की अधिकांश धर्मशालाएँ, धार्मिक स्थलों, शिक्षा-मंदिरों और सामाजिक दायित्व के अनेकानेक कार्यों में इन लक्ष्मीपुत्रों की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

कहते हैं कि लक्ष्मी और सरस्वती में वैर-भाव है। लेकिन आज हम उन सरस्वती पुत्रों से आपको परिचित करवा रहे हैं, जो लक्ष्मीपतियों के परिवार में पैदा हुए और अपनी पूरी सामर्थ्य से साहित्य-साधना में लगे रहे।

हिंदी साहित्य के इतिहास में निश्चय ही भक्तिकाल और रीतिकाल में वैश्य समाज में साहित्यकारों का जन्म हुआ होगा, किंतु हम यहाँ आधुनिककाल के अनेक सिद्ध-प्रसिद्ध वैश्य साहित्यकारों का परिचय करवा रहे हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र (9 सितंबर 1850-7 जनवरी 1885) आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह कहे जाते हैं। वे हिंदी में आधुनिकता के पहले रचनाकार थे। इनका मूल नाम 'हरिश्चंद्र' था, 'भारतेन्दु' उनकी उपाधि थी। उनका कार्यकाल युग की संधि पर खड़ा है। उन्होंने रीतिकाल की विकृत सामंती संस्कृति की पोषक वृत्तियों को छोड़कर स्वस्थ परंपरा की भूमि अपनाई और नवीनता के बीज बोए। हिंदी साहित्य के आधुनिककाल का प्रारंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध भारतेंदुजी ने देश की गरीबी, पराधीनता, शासकों के अमानवीय शोषण को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया। हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

भारतेंदु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हिंदी पत्रकारिता, नाटक और काव्य के क्षेत्र में उनका बहुमूल्य योगदान रहा। हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतेंदु के नाटक लिखने की शुरुआत बँगला के विद्यासुंदर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे, किंतु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेंदुजी ने ही हिंदी-नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने 'हरिश्चंद्र पत्रिका',

‘कविवचन सुधा’ और ‘बाल विबोधिनी’ पत्रिकाओं का संपादन भी किया। वे एक उत्कृष्ट कवि, सशक्त व्यंग्यकार, सफल नाटककार, जागरूक पत्रकार तथा ओजस्वी गद्यकार थे। इसके अलावा वे लेखक, कवि, संपादक, निबंधकार, एवं कुशल वक्ता भी थे। भारतेंदुजी ने मात्र 34 वर्ष की अल्पायु में ही विशाल साहित्य की रचना की। पैंतीस वर्ष की आयु (सन् 1885) में उन्होंने मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से इतना लिखा, इतनी दिशाओं में काम किया कि उनका समूचा रचनाकर्म पथप्रदर्शक बन गया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म 9 सितंबर, 1850 में काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता गोपालचंद्र एक अच्छे कवि थे और गिरधरदास उपनाम से कविता लिखा करते थे। 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के समय उनकी आयु 7 वर्ष की होगी। दस वर्ष की उम्र में ही इनके पिता की मृत्यु हो गई और जब वे पाँच वर्ष के थे तब उनकी माता की मृत्यु हो गई। इस तरह माता-पिता के सुख से भारतेंदु वंचित हो गए। बचपन का सुख नहीं मिला। शिक्षा की व्यवस्था प्रथापालन के लिए होती रही। संवेदनशील व्यक्ति के नाते उनमें स्वतंत्र रूप से देखने-सोचने-समझने की आदत का विकास होने लगा। पढ़ाई की विषयवस्तु और पद्धति से उनका मन उखड़ता रहा। क्वींस कॉलेज, बनारस में प्रवेश लिया, तीन-चार वर्षों तक कॉलेज आते-जाते रहे, पर यहाँ से मन बार-बार भागता रहा। स्मरणशक्ति तीव्र थी, ग्रहणक्षमता अद्भुत। इसलिए परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। बनारस में उन दिनों अँग्रेजी पढ़े-लिखे और प्रसिद्ध लेखक राजा शिवप्रसाद सितारे हिंदू थे, भारतेंदु शिष्य भाव से उनके यहाँ जाते। उन्हीं से अँग्रेजी सीखी। भारतेंदु ने स्वाध्याय से संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू भाषाएँ सीख लीं। उनको काव्य-प्रतिभा अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया और सुकवि होने का आशीर्वाद प्राप्त किया-

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।

वाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान।

धन के अत्यधिक व्यय से भारतेंदुजी ऋणी बन गए और दुश्चिंताओं के कारण उनका शरीर शिथिल होता गया। परिणाम स्वरूप 1885 में अल्पायु में ही मृत्यु ने उन्हें ग्रस लिया।

बालमुकुंद गुप्त (14 नवंबर 1865-18 सितंबर 1907) का जन्म गुड़ियानी गाँव, जिला रोहतक, हरियाणा में हुआ। उन्होंने हिंदी के निबंधकार और संपादक के रूप में हिंदी-जगत की सेवा की।

विद्यार्थी जीवन से ही उर्दू पत्रों में लेख लिखने लगे। झज्जर (जिला रोहतक) के ‘रिफाहे आम’ अखबार और मथुरा के ‘मथुरा समाचार’ उर्दू मासिकों में पं० दीनदयाल शर्मा के सहयोगी रहने के बाद 1886 ई० में चुनार के उर्दू अखबार ‘अखबारे चुनार’ के दो वर्ष संपादक रहे। 1888-1889 ई० में लाहौर के उर्दू पत्र ‘कोहेनूर’ का संपादन किया। उर्दू के नामी लेखकों में आपकी गणना होने लगी। 1889 ई० में महामना मालवीयजी के अनुरोध पर कालाकाँकर (अवध) के हिंदी दैनिक ‘हिंदोस्तान’ के सहकारी संपादक बने, जहाँ तीन वर्ष रहे। यहाँ पं० प्रतापनारायण मिश्र के संपर्क से हिंदी के पुराने साहित्य का अध्ययन किया और उन्हें अपना काव्यगुरु स्वीकार किया। सरकार के विरुद्ध लिखने पर उन्हें वहाँ से हटा दिया गया। अपने घर गुड़ियानी में रहकर मुरादाबाद के ‘भारत प्रताप’ उर्दू मासिक का संपादन किया और कुछ हिंदी

तथा बँगला पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद किया। अँग्रेजी का इसी बीच अध्ययन करते रहे। 1893 ई० में 'हिंदी बंगवासी' के सहायक संपादक होकर कलकत्ता गए और छह वर्ष तक काम करके नीति-संबंधी मतभेद के कारण इस्तीफा दे दिया। 1899 ई० में 'भारतमित्र' कलकत्ता के संपादक हुए।

पत्रकार होने के साथ ही वे एक सफल अनुवादक और कवि भी थे। स्फुट कविता के रूप में उनकी कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त आपके निबंधों और लेखों के संग्रह हैं। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं-हरिदास, खिलौना, खेल-तमाशा, स्फुट कविता, शिवशंभु का चिट्ठा, बालमुकुंद गुप्त निबंधावली।

जगन्नाथदास रत्नाकर (सन् 1866- 21 जून 1932) आधुनिकयुग के श्रेष्ठ ब्रजभाषा कवि थे जिनका जन्म सं० 1923 (सन् 1866 ई०) के भाद्रपद शुक्ल पंचमी के दिन हुआ था। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र रत्नाकर जी से 16 वर्ष बड़े थे। उनके पिता का नाम पुरुषोत्तमदास और पितामह का नाम संगमलाल अग्रवाल था, जो काशी के धनीमानी व्यक्ति थे। रत्नाकर जी की प्रारंभिक शिक्षा फारसी में हुई। उसके पश्चात् उन्होंने 12 वर्ष की अवस्था में अँग्रेजी पढ़ना प्रारंभ किया और यह प्रतिभाशाली विद्यार्थी सिद्ध हुए। सन् 1888 ई० में वे आगे अध्ययन करना चाहते थे, पर पारिवारिक परिस्थितिवश न कर पाए। वे पहले 'जकी' उपमान से फारसी में रचना करते थे। उनके हिंदी काव्यगुरु सरदार कवि थे। वे मथुरा के प्रसिद्ध कवि नवनीत चतुर्वेदी से भी बड़े प्रभावित हुए थे।

भारतेंदुजी के संपर्क और काशी की कविगोष्ठियों के प्रभाव से उन्होंने 1889 ई० में ब्रजभाषा में रचना करना आरंभ किया। रत्नाकरजी की सर्वप्रथम काव्यकृति 'हिंडोला' सन् 1894 ई० में प्रकाशित हुई। सन् 1893 में साहित्य सुधा निधि नामक मासिक पत्र का संपादन प्रारंभ किया तथा अनेक ग्रंथों का संपादन भी किया, जिनमें दूलह कवि कृत कंठाभरण, कृपारामकृत हिततरंगिणी, चंद्रशेखरकृत नखशिख हैं। नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यों में रत्नाकरजी का पूरा सहयोग रहता था। सन् 1897 में रत्नाकरजी ने 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' प्रकाशित कराया और 1898 में 'समालोचनादर्श' (पोप के ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म का अनुवाद) प्रकाशित हुआ।

सन् 1902 के उपरांत वे अयोध्यानरेश राजा प्रतापनारायण सिंह के यहाँ निजी सचिव के रूप में काम करते रहे और अंतिम समय तक उनका संबंध अयोध्या दरबार से रहा। इस बीच उन्होंने 'बिहारी रत्नाकर' नाम से बिहारी सतसई का संपादन किया। 14 मई, 1921 ई० से अयोध्या की महारानी की प्रेरणा से उन्होंने 'गंगावतरण' काव्य की रचना प्रारंभ की, जो सन् 1923 में समाप्त हुई। उद्भव शतक इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। वे सन् 1926 में ओरियंटल कांफरेंस के हिंदी विभाग के सभापति हुए और सन् 1930 में हिंदी साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन के सभापति चुने गए। इस अधिवेशन का सभापतित्व उन्होंने राजसी ठाटबाट के साथ किया। सन् 1932 ई० की 21 जून को उनका अचानक स्वर्गवास हो गया।

जयदयाल गोयन्दका (जन्म : सन् 1885-निधन : 17 अप्रैल, 1965) श्रीमद्भगवद्गीता के अनन्य प्रचारक थे। वे गीताप्रेस, गीता-भवन (ऋषीकेश, स्वर्गाश्रम), ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम (चूरू) आदि के संस्थापक थे। श्री गोयन्दका का जन्म राजस्थान के चुरू में ज्येष्ठ कृष्ण 6, सम्वत् 1942 (सन् 1885) को श्री खूबचंद्र अग्रवाल के परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था में

ही इन्हें गीता तथा रामचरितमानस ने प्रभावित किया। वे अपने परिवार के साथ व्यापार के उद्देश्य से बाँकुड़ा (पश्चिम बंगाल) चले गए। बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा तो उन्होंने पीड़ितों की सेवा का आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने गीता तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों का गहन अध्ययन करने के बाद अपना जीवन धर्म-प्रचार में लगाने का संकल्प लिया। इन्होंने कोलकाता में गोविंद-भवन की स्थापना की। वे गीता पर इतना प्रभावी प्रवचन करने लगे थे कि हजारों श्रोता मंत्र-मुग्ध होकर सत्संग का लाभ उठाते थे। गीता-प्रचार अभियान के दौरान उन्होंने देखा कि गीता की शुद्ध प्रति मिलनी दूबर है। उन्होंने गीता को शुद्ध भाषा में प्रकाशित करने के उद्देश्य से सन् 1923 में गोरखपुर में गीता प्रेस की स्थापना की। उन्हीं दिनों उनके मौसरे भाई हनुमानप्रसाद पोद्दार उनके संपर्क में आए तथा वे गीता प्रेस के लिए समर्पित हो गए। गीता प्रेस से 'कल्याण' पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। उनके गीता तथा परमार्थ-संबंधी लेख प्रकाशित होने लगे। उन्होंने गीता तत्त्व विवेचनी नाम से गीता का भाष्य किया। उनके द्वारा रचित तत्त्वचिंतामणि, प्रेमभक्ति प्रकाश, मनुष्य जीवन की सफलता, परम शांति का मार्ग, ज्ञानयोग, प्रेमयोग का तत्त्व, परम-साधन, परमार्थ पत्रावली आदि पुस्तकों ने धार्मिक साहित्य की अभिवृद्धि में अभूतपूर्व योगदान किया है। उनका निधन 17 अप्रैल 1965 को ऋषिकेश में गंगातट पर हुआ।

बाबू गुलाबराय का जन्म 17 जनवरी, 1888 को इटावा (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। उनके पिता भवानीप्रसाद धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनकी माता भी भगवान श्रीकृष्ण की उपासिका थीं। वे सूरदास और कबीर के पदों को तल्लीन होकर गाया करती थीं। माता-पिता की इस धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव बाबू गुलाबराय पर भी पड़ा। गुलाबराय की प्रारंभिक शिक्षा मैनपुरी में हुई थी। अपनी स्कूली शिक्षा के बाद उन्हें अंग्रेजी शिक्षा के लिए जिले के विद्यालय में भेजा गया। गुलाबराय ने आगरा कॉलेज से बी.ए. की परीक्षा पास की। इसके पश्चात दर्शनशास्त्र में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करके गुलाबरायजी छतरपुर चले गए।

छतरपुर में गुलाबराय की प्रथम नियुक्ति महाराजा विश्वनाथ सिंह जूदेव के दार्शनिक सलाहकार के रूप में हुई। कुछ समय बाद उन्हें महाराज का निजी सहायक बना दिया गया। बाबू गुलाबराय अपने राजकीय कर्तव्य के पालन में सदैव सचेत रहते थे। वह राज्य के धन को ऐसी सावधानी से व्यय करते थे, जैसे वह उनका निजी धन हो। इस संबंध में अनेक प्रसंग भरे पड़े हैं। उनकी इस मितव्ययिता तथा राजनिष्ठा से महाराज बड़े प्रभावित हुए। बाबू गुलाबराय ने छतरपुर दरबार में 18 वर्ष व्यतीत किए और राजदरबार के न्यायाधीश की भी भूमिका निभाई।

बाबू गुलाबराय की दार्शनिक रचनाएँ उनके गंभीर अध्ययन और चिंतन का परिणाम हैं। उन्होंने सर्वप्रथम हिंदी को अपने दार्शनिक विचारों का दान दिया। उनसे पूर्व हिंदी में इस विषय का सर्वथा अभाव था। गुलाबराय की साहित्यिक रचनाओं के अंतर्गत उनके आलोचनात्मक निबंध आते हैं। ये आलोचनात्मक निबंध सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार के हैं। उन्होंने सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक आदि विविध विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाकर हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि की है।

इनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं—(क) आलोचनात्मक रचनाएँ—नवरस, हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास, हिंदी नाट्य विमर्श, आलोचना कुसुमांजलि, काव्य के रूप, सिद्धांत, तर्कशास्त्र, बौद्धधर्म, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा। (ख) बालसाहित्य—विज्ञान

वार्ता, बालप्रबोध; (ग) निबंध संग्रह—प्रकार प्रभाकर, जीवन-पशु-ठलुआ क्लब, मेरी असफलताएँ, मेरे मानसिक उपादान आदि; (घ) संपादन ग्रंथ—सत्य हरिश्चंद्र, भाषाभूषण, कादंबरी कथा-सार।

बाबू गुलाबराय की साहित्यिक सेवाओं के फलस्वरूप आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया था। उनके सम्मान में भारतीय डाकतार विभाग ने 22 जून 2022 को एक टिकट जारी किया, जिसका मूल्य 5 रुपये था और जिस पर बाबू गुलाबराय के चित्र के साथ उनकी तीन प्रमुख पुस्तकों को भी प्रदर्शित किया गया था।

बाबू गुलाबराय ने अपने जीवन के अंतिम काल तक साहित्य की सेवा की। सन 1963 में आगरा में उनका स्वर्गवास हुआ।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त (1886-1964) हिंदी के महत्त्वपूर्ण कवि थे। श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की प्रेरणा से आपने खड़ीबोली को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया और अपनी कविता के द्वारा खड़ीबोली को एक काव्यभाषा के रूप में निर्मित करने का अथक् प्रयास किया और इस तरह ब्रजभाषा जैसी समृद्ध काव्यभाषा को छोड़कर समय और संदर्भों के अनुकूल होने के कारण नए कवियों ने इसे ही अपनी काव्य-अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। हिंदी कविता के इतिहास में गुप्तजी का यह सबसे बड़ा योगदान है। पवित्रता, नैतिकता और परंपरागत मानवीय संबंधों की रक्षा गुप्त जी के काव्य के प्रथम गुण हैं, जो पंचवटी से लेकर जयद्रथ वध, यशोधरा और साकेत तक में प्रतिष्ठित एवं प्रतिफलित हुए हैं। साकेत उनकी रचना का सर्वोच्च शिखर है। अपनी लेखनी के माध्यम से वह सदा अमर रहेंगे और आने वाली सदियों में नए कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत होंगे।

मैथिलीशरण गुप्त का जन्म 3 अगस्त सन 1886 ई० में पिता सेठ रामचरण कनकने और माता कौशिल्या बाई की तीसरी संतान के रूप में चिरगाँव, झाँसी में हुआ। माता और पिता दोनों ही परम वैष्णव थे। विद्यालय में खेलकूद में अधिक ध्यान देने के कारण पढ़ाई अधूरी ही रह गयी। घर में ही हिंदी, बंगला, संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया। मुंशी अजमेरी जी ने उनका मार्गदर्शन किया। 12 वर्ष की अवस्था में ब्रजभाषा में कविता-रचना आरंभ की। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपर्क में भी आए। उनकी कविताएँ खड़ीबोली में मासिक 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। प्रथम काव्यसंग्रह 'रंग में भंग' तथा बाद में 'जयद्रथ वध' का प्रकाशन हुआ। सन् 1914 ई० में राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत 'भारत भारती' का प्रकाशन किया। उनकी लोकप्रियता सर्वत्र फैल गई। सन् 1916-17 ई० में महाकाव्य 'साकेत' का लेखन प्रारंभ किया। उर्मिला के प्रति उपेक्षाभाव इस ग्रंथ में दूर किए। इसी समय वे राष्ट्रपिता गांधी जी के निकट संपर्क में आए। 'यशोधरा' सन् 1932 ई० में लिखी। गांधीजी ने उन्हें 'राष्ट्रकवि' की संज्ञा प्रदान की। 1952-1964 तक राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हुए। सन् 1953 ई० में भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मविभूषण' से सम्मानित किया। तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद ने सन् 1962 ई० में 'अभिनंदन ग्रंथ' भेंट किया तथा हिंदू विश्वविद्यालय के द्वारा डी०लिट्० से सम्मानित किए गए।

12 दिसंबर 1964 ई० को दिल का दौरा पड़ा और साहित्य का जगमगाता तारा अस्त हो गया। 78 वर्ष की आयु में दो महाकाव्य, 19 खंडकाव्य, काव्यगीत, नाटिकाएँ आदि लिखीं। उनके काव्य में राष्ट्रीय चेतना, धार्मिक भावना और मानवीय उत्थान प्रतिबिंबित है। 'भारत भारती' के तीन खंडों में देश का अतीत, वर्तमान और भविष्य चित्रित है। वे मानववादी, नैतिक और

सांस्कृतिक काव्यधारा के विशिष्ट कवि थे।

अंबिकाप्रसाद गुप्त (जन्म-1888, काशी, उत्तर प्रदेश; मृत्यु-1937) हिंदी नाट्य-जगत और कथासाहित्य में विशेष स्थान रखने वाले जयशंकर प्रसाद के भांजे थे। इन्होंने हिंदी साहित्य को कई महत्वपूर्ण रचनाएँ दी हैं। सन 1888 में काशी (वर्तमान बनारस) में जन्मे अंबिकाप्रसाद गुप्त की कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं-1. शिवमोहिनी, 2. रुद्रगुप्त, 3. कवि किंकर, 4. हिंदीप्रेमी, 5. अर्जुन, 6. सच्चा मित्र या जिंदे की लाश। अंबिकाप्रसाद गुप्त ने 'भारतेंदु' नामक पत्र का प्रकाशन भी किया था। जयशंकर प्रसाद की ही प्रेरणा से 1909 ई० में अंबिकाप्रसाद गुप्त के संपादकत्व में 'इंदु' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ था। प्रसाद इसमें नियमित रूप से लिखते रहे और उनकी आरंभिक रचनाएँ इसी के अंकों में देखी जा सकती हैं। सन 1937 में अंबिकाप्रसाद गुप्त का निधन हुआ।

जयशंकर प्रसाद (30 जनवरी 1889-14 जनवरी 1937) हिंदी कवि, नाटककार, कथाकार, उपन्यासकार तथा निबंधकार थे। वे हिंदी के छायावादीयुग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक हैं। उन्होंने हिंदीकाव्य में छायावाद की स्थापना की, जिसके द्वारा खड़ीबोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की सिद्ध भाषा बन गई।

प्रसादजी का जन्म माघ शुक्ल 10, संवत् 1946 वि० में काशी के सराय गोवर्धन में हुआ। इनके पितामह बाबू शिवरतन साहू दान देने में प्रसिद्ध थे और इनके पिता बाबू देवीप्रसाद जी कलाकारों का आदर करने के लिए विख्यात थे। इनका काशी में बड़ा सम्मान था और काशी की जनता काशीनरेश के बाद 'हर हर महादेव' से बाबू देवीप्रसाद का ही स्वागत करती थी। किशोरावस्था के पूर्व ही माता और बड़े भाई का देहावसान हो जाने के कारण 17 वर्ष की उम्र में ही प्रसादजी पर आपदाओं का पहाड़ टूट पड़ा। कच्ची गृहस्थी, घर में सहारे के रूप में केवल विधवा भाभी, कुटुंबियों, परिवार से संबद्ध अन्य लोगों का संपत्ति हड़पने का षड्यंत्र, इन सबका सामना उन्होंने धीरता और गंभीरता के साथ किया। प्रसादजी की प्रारंभिक शिक्षा काशी में क्वींस कालेज में हुई, किंतु बाद में घर पर इनकी शिक्षा का व्यापक प्रबंध किया गया, जहाँ संस्कृत, हिंदी, उर्दू, तथा फारसी का अध्ययन इन्होंने किया। दीनबंधु ब्रह्मचारी जैसे विद्वान् इनके संस्कृत के अध्यापक थे।

घर के वातावरण के कारण साहित्य और कला के प्रति उनमें प्रारंभ से ही रुचि थी और कहा जाता है कि नौ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'कलाधर' के नाम से ब्रजभाषा में एक सवैया लिखा। उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण तथा साहित्यशास्त्र का अत्यंत गंभीर अध्ययन किया था। वे भोजन बनाने के शौकीन थे और शतरंज के खिलाड़ी भी थे। वे नियमित व्यायाम करनेवाले, सात्विक खान-पान एवं गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे। वे नागरी प्रचारिणी सभा के उपाध्यक्ष भी थे। क्षयरोग से जनवरी 14, 1937 (उम्र 47) को उनका देहांत काशी में हुआ।

बजरत्नदास अग्रवाल (जन्म-1890, काशी, उत्तर प्रदेश; मृत्यु-1906) हिंदी के साहित्यकारों में से एक विशेष नाम है। सन 1890 ई० में बजरत्नदास अग्रवाल जी का जन्म काशी (वर्तमान बनारस) में हुआ था। इनकी पहली रचना 'चित्तौड़ की अंतिम साका' नागरी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। वर्ष 1940 तक ये इसी सभा के मंत्री रहे थे। बजरत्न दास अग्रवाल ने खड़ीबोली हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी नाटक साहित्य, हिंदी उपन्यास साहित्य जैसे

अन्वेषणपरक ग्रंथ लिखे। भारतेंदु-मंडल नामक पुस्तक में इन्होंने भारतेंदु के सहयोगी मंडल की पूर्ण जानकारी उपलब्ध करायी। भारतेंदु ग्रंथावली, भारतेंदु नाटकावली, रानी केतकी की कहानी, खुसरो की कविता, भ्रमरगीत, भाषाभूषण, प्रेमसागर, तुलसी ग्रंथावली, रहिमान विलास आदि ग्रंथों का भी बजरत्नदास ने संपादन किया। बजरत्नदासजी का निधन सन 1906 में हुआ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार (जन्म:1892 मृत्यु: 22 मार्च 1971) का नाम गीता प्रेस की स्थापना के संदर्भ में विश्व में प्रसिद्ध है। भारतीय आध्यात्मिक जगत् में हनुमानप्रसाद पोद्दार नाम का एक ऐसा सूरज उदित हुआ, जिसके कारण देश के घर-घर में गीता, रामायण, वेद और पुराण जैसे ग्रंथ पहुँचे सके। आज गीता प्रेस गोरखपुर का नाम किसी भी भारतीय के लिए अनजाना नहीं है। सनातन हिंदू संस्कृति में आस्था रखने वाला दुनिया में शायद ही कोई ऐसा परिवार होगा, जो गीता प्रेस गोरखपुर के नाम से परिचित नहीं होगा। इस देश में और दुनिया के हर कोने में रामायण, गीता, वेद, पुराण और उपनिषद् से लेकर प्राचीन भारत के ऋषियों-मुनियों की कथाओं को पहुँचाने का एकमात्र श्रेय गीता प्रेस गोरखपुर को है। प्रचार-प्रसार से दूर रहकर एक अकिंचन सेवक और निष्काम कर्मयोगी की तरह पोद्दार जी ने हिंदू संस्कृति की मान्यताओं को घर-घर तक पहुँचाने में जो योगदान दिया है, इतिहास में उसकी मिसाल मिलना ही मुश्किल है।

भारतीय पंचांग के अनुसार विक्रम संवत् के वर्ष 1949 में आश्विन कृष्ण की प्रदोष के दिन उनका जन्म हुआ। राजस्थान के रतनगढ़ में लाला भीमराज अग्रवाल और उनकी पत्नी रिखीबाई हनुमान के भक्त थे, तो उन्होंने अपने पुत्र का नाम हनुमानप्रसाद रख दिया। दो वर्ष की आयु में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो जाने पर इनका पालन-पोषण इनकी दादी ने किया। दादी के धार्मिक संस्कारों के बीच बालक हनुमान को बचपन से ही गीता, रामायण, वेद, उपनिषद् और पुराणों की कहानियाँ पढ़ने-सुनने को मिलीं। इन संस्कारों का बालक पर गहरा असर पड़ा। बचपन में ही इन्हें हनुमान कवच का पाठ सिखाया गया। निंबार्क संप्रदाय के संत ब्रजदास जी ने बालक को दीक्षा दी।

गीता प्रेस की स्थापना : उन्होंने गीता पर एक टीका लिखी और उसे कलकत्ता के वाणिज्यिक प्रेस में छपवाई। पहले ही संस्करण की पाँच हजार प्रतियाँ बिक गईं। लेकिन पोद्दार जी को इस बात का दुःख था कि इस पुस्तक में ढेरों गलतियाँ थीं। इसके बाद उन्होंने इसका संशोधित संस्करण निकाला, लेकिन इसमें भी गलतियाँ दोहरा गई थीं। इस बात से भाई जी के मन को गहरी ठेस लगी और उन्होंने तय किया कि जब तक अपना खुद का प्रेस नहीं होगा, यह कार्य आगे नहीं बढ़ेगा। बस यही एक छोटा सा संकल्प गीता प्रेस गोरखपुर की स्थापना का आधार बना। उनके भाई गोयनका जी का व्यापार तब बाँकुड़ा, बंगाल में था और वे गीता पर प्रवचन के सिलसिले में प्रायः बाहर ही रहा करते थे। तब समस्या यह थी कि प्रेस कहाँ लगाया जाए। उनके मित्र घनश्यामदास जालान गोरखपुर में ही व्यापार करते थे। उन्होंने प्रेस गोरखपुर में ही लगाए जाने और इस कार्य में भरपूर सहयोग देने का आश्वासन दिया। इसके बाद मई 1922 में गीता प्रेस का स्थापना की गई।

1926 में मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का अधिवेशन दिल्ली में था। सेठ जमनालाल बजाज अधिवेशन के सभापति थे। इस अवसर पर सेठ घनश्यामदास बिड़ला भी मौजूद थे। बिड़ला जी ने भाई जी द्वारा गीता के प्रचार-प्रसार के लिए किए जा रहे कार्यों की सराहना करते

हुए उनसे आग्रह किया कि सनातन धर्म के प्रचार और सद्विचारों को लोगों तक पहुँचाने के लिए एक संपूर्ण पत्रिका का प्रकाशन होना चाहिए। बिड़ला जी के इन्हीं वाक्यों ने भाई जी को 'कल्याण' नाम की पत्रिका के प्रकाशन के लिए प्रेरित किया। अगस्त 1955 में कल्याण का पहला प्रवेशांक निकला। इसके बाद कल्याण भारतीय परिवारों के बीच एक लोकप्रिय संपूर्ण पत्रिका के रूप में स्थापित हो गई और आज भी धार्मिक जागरण में कल्याण एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। 'कल्याण' तेरह माह तक मुंबई से प्रकाशित होती रही। इसके बाद अगस्त 1926 से गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित होने लगा।

अँग्रेजों के समय में गोरखपुर में उनकी धर्म व साहित्य सेवा तथा उनकी लोकप्रियता को देखते हुए तत्कालीन अँग्रेज कलेक्टर पेडले ने उन्हें राय साहब की उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव रखा था, लेकिन पोद्दार जी ने विनम्रतापूर्वक इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसके बाद अँग्रेज कमिश्नर होबर्ट ने रायबहादुर की उपाधि देने का प्रस्ताव रखा लेकिन पोद्दार जी ने इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं किया। देश की स्वाधीनता के बाद डॉ॰ संपूर्णानंद, कन्हैयालाल मुंशी और अन्य लोगों के परामर्श से तत्कालीन केंद्रीय गृहमंत्री गोविंदवल्लभ पंत ने पोद्दार जी को भारतरत्न की उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव रखा, लेकिन उन्होंने इसमें भी कोई रुचि नहीं दिखाई।

22 मार्च 1971 को पोद्दार जी ने इस नश्वर शरीर का त्याग कर दिया और अपने पीछे वे गीता प्रेस गोरखपुर के नाम से एक ऐसा केंद्र छोड़ गए, जो भारतीय संस्कृति को पूरे विश्व में फैलाने में एक अग्रणी भूमिका निभा रहा है।

सियारामशरण गुप्त (4 सितंबर 1895-29 मार्च 1963) का जन्म सेठ रामचरण कनकने के परिवार में श्री मैथिलीशरण गुप्त के अनुज रूप में चिरगाँव, झाँसी में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने घर में ही गुजराती, अँग्रेजी और उर्दू भाषा सीखी। सन् 1929 ई॰ में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और कस्तूरबा गांधी के संपर्क में आए। कुछ समय वर्धा आश्रम में भी रहे। सन् 1940 में चिरगाँव में नेताजी सुभाषचंद्र बोस का स्वागत किया। वे संत विनोबा भावे के संपर्क में भी आए। उनकी पत्नी तथा पुत्रों का निधन असमय ही हो गया था, अतः वे दुःख, वेदना और करुणा के कवि बन गए। 1914 में उन्होंने अपनी पहली रचना 'मौर्यविजय' लिखी।

चिरगाँव (झाँसी) में बाल्यावस्था बीतने के कारण बुंदेलखंड की वीरता और प्रकृति सुषमा के प्रति आपका प्रेम स्वभाविक था। घर के वैष्णव संस्कारों और गांधीवाद से गुप्त जी का व्यक्तित्व विकसित हुआ। गुप्त जी स्वयं शिक्षित कवि थे। मैथिलीशरण गुप्त की काव्यकला और उनका युगबोध सियारामशरण ने यथावत् अपनाया था। अतः उनके सभी काव्य द्विवेदीयुगीन अभिधावादी कलारूप पर ही आधारित हैं। दोनों गुप्त बंधुओं ने हिंदी के नवीन आंदोलन छायावाद से प्रभावित होकर भी अपना इतिवृत्तात्मक अभिधावादी काव्यरूप सुरक्षित रखा है। विचार की दृष्टि से भी सियारामशरण जी ज्येष्ठ बंधु के सदृश गांधीवाद की परदुःखकातरता, राष्ट्रप्रेम, विश्वप्रेम, विश्वशांति, हृदय-परिवर्तनवाद, सत्य और अहिंसा से आजीवन प्रभावित रहे। उनके काव्य वस्तुतः गांधीवादी निष्ठा के साक्षात्कारक पद्यबद्ध प्रयत्न हैं।

गुप्त जी के मौर्यविजय (1914 ई॰), अनाथ (1917), दूर्वादल (1915-24), विषाद

(1925), आर्द्रा (1927), आत्मोत्सर्ग (1931), मृण्मयी (1936), बापू (1937), उन्मुक्त (1940), दैनिकी (1942), नकुल (1946), नोआखाली (1946), गीतासंवाद (1948) आदि काव्यों में मौर्यविजय और नकुल आख्यानात्मक हैं। शेष में भी कथा का सूत्र किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ता है।

सेठ गोविंददास (1896-1974) भारत के स्वतंत्रता-संग्राम सेनानी, सांसद तथा हिंदी के साहित्यकार थे। उन्हें साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन 1961 में पद्मभूषण से सम्मानित किया गया था। भारत की राजभाषा के रूप में हिंदी के वे प्रबल समर्थक थे। सेठ गोविंददास का जन्म जबलपुर के प्रसिद्ध माहेश्वरी व्यापारिक परिवार में राजा गोकुलदास के यहाँ हुआ था। सन् 1947 से 1974 तक वे जबलपुर से सांसद रहे। वे महात्मा गांधी के निकट सहयोगी थे। उनको दमोह में आठ माह का कारावास झेलना पड़ा था, जहाँ उन्होंने चार नाटक लिखे-प्रकाश (सामाजिक), कर्तव्य (पौराणिक), नवरस (दार्शनिक) तथा स्पर्धा (एकांकी)।

सेठ गोविंददास हिंदी के अनन्य साधक, भारतीय संस्कृति में अटल विश्वास रखनेवाले, कलामर्मज्ञ एवं विपुल मात्रा में साहित्य-रचना करने वाले, हिंदी के उत्कृष्ट नाट्यकार ही नहीं थे, अपितु सार्वजनिक जीवन में अत्यंत स्वच्छ, नीति-व्यवहार में सुलझे हुए, सेवाभावी राजनीतिज्ञ भी थे।

सेठ गोविंददास का जन्म राजा गोकुलदास के परिवार में संवत् 1953 (सन् 1896) को विजयादशमी के दिन हुआ। राज परिवार में पले-बढ़े सेठजी की शिक्षा-दीक्षा भी आला दर्जे की हुई। अँग्रेजी भाषा, साहित्य और संस्कृति ही नहीं, स्केटिंग, नृत्य, घुड़सवारी का जादू भी इन पर चढ़ा। तभी गांधीजी के असहयोग आंदोलन का तरुण गोविंददास पर गहरा प्रभाव पड़ा और वैभवशाली जीवन का परित्याग कर वे दीन-दुखियों के साथ सेवकों के दल में शामिल हो गए तथा दर-दर की खाक छानी, जेल गए, जुर्माना भुगता और सरकार से बगावत के कारण पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकार भी गँवाया।

सन् 1917 में सेठजी का पहला नाटक 'विश्वप्रेम' छपा। उसका मंचन भी हुआ। प्रसिद्ध विदेशी नाटककार इब्सन से प्रेरणा लेकर आपने अपने लेखन में आमूल-चूल परिवर्तन कर डाला। उन्होंने नई तकनीक का प्रयोग करते हुए प्रतीक शैली में नाटक लिखे। 'विकास' उनका स्वप्न नाटक है। 'नवरस' उनका नाट्य-रूपक है। हिंदी में मोनो ड्रामा पहले-पहल सेठजी ने ही लिखे।

वासुदेवशरण अग्रवाल (जन्म-7 अगस्त, 1904, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश; मृत्यु-26 जुलाई, 1966) भारत के प्रसिद्ध विद्वानों में से एक थे। वे भारत के इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य और प्राच्यविद्या आदि विषयों के विशेषज्ञ थे। उनका जन्म 7 अगस्त, 1904 ई० को गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) के खेड़ा नामक गाँव में हुआ था। इनकी छोटी उम्र में ही इनकी माँ का देहांत हो गया था, जिस कारण दादी ने ही उनका लालन-पालन किया। जिस समय 1920 में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने अपना असहयोग आंदोलन आरंभ किया, उस समय वासुदेवशरण लखनऊ में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। आंदोलन के प्रभाव से उन्होंने सरकारी विद्यालय छोड़ दिया और खादी के वस्त्र धारण कर लिए। किंतु जब गांधीजी ने आंदोलन वापस ले लिया तो उन्होंने फिर औपचारिक शिक्षा आरंभ की और काशी हिंदू विश्वविद्यालय से स्नातक बनकर एम०ए० और एल०एल०बी० की शिक्षा के लिए लखनऊ आ गए। आगे चलकर इसी विश्वविद्यालय से उन्हें

पीएच०डी० और डी०लिट् की उपाधियाँ मिलीं।

वासुदेवशरण अग्रवाल भारत के इतिहास, संस्कृति, कला एवं साहित्य के विद्वान थे। वे साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत हिंदी गद्यकार थे। पाणिनिकालीन भारतवर्ष नामक उनकी कृति भारतविद्या का अनुपम ग्रंथ है। इसमें उन्होंने पाणिनि के अष्टाध्यायी के माध्यम से भारत की संस्कृति एवं जीवनदर्शन पर प्रकाश डाला है। उन्होंने साहित्य के सहारे भारत का पुनः अनुसंधान किया है, जिसमें उन्होंने वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण विधि का प्रयोग किया है। उनकी निम्नलिखित कृतियाँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं—मलिक मुहम्मद जायसी—पद्मावत, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन।

वासुदेवशरण अग्रवाल ने उत्तर प्रदेश में मथुरा संग्रहालय के क्यूरेटर (संग्रहाध्यक्ष) के रूप में भी अपनी सेवाएँ प्रदान की थीं। वे लखनऊ के प्रांतीय संग्रहालय के भी क्यूरेटर रहे। स्वतंत्रता के बाद दिल्ली में स्थापित राष्ट्रीय पुरातत्त्व संग्रहालय की स्थापना में इनका प्रमुख योगदान था। छह वर्ष तक दिल्ली में रहने के उपरांत वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय के भारतीय विद्या संस्थान के प्रमुख बनकर वाराणसी चले गए। 1951 से 1966 तक जीवनपर्यंत वे इस पद पर रहे। वह अपने क्षेत्र में युगनिर्माणकारी माने जाते हैं। फुटकर निबंधों के अतिरिक्त उन्होंने हिंदी में लगभग 36 और अँग्रेजी में 23 ग्रंथों की रचना की थी। इनमें वेदविद्या-संबंधी ग्रंथ हैं, पुराणों का अध्ययन है, महाभारत की सांस्कृतिक मीमांसा है, मेघदूत, कादंबरी, पद्मावत जैसे ग्रंथों की व्याख्या है। अपने इस विशेष योगदान के कारण उनका विद्वानों में और साधारण पाठकों दोनों में बड़ा सम्मान था। वासुदेवशरण अग्रवाल का निधन 26 जुलाई, 1966 को हुआ।

जैनेंद्रकुमार : प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों में जैनेंद्रकुमार (2 जनवरी, 1905-24 दिसंबर, 1988) का विशिष्ट स्थान है। वह हिंदी उपन्यास के इतिहास में मनोविश्लेषणात्मक परंपरा के प्रवर्तक के रूप में मान्य हैं। जैनेंद्र अपने पात्रों की सामान्यगति में सूक्ष्म संकेतों की खोज करके उन्हें बड़े कौशल से प्रस्तुत करते हैं। उनके पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ इसी कारण से संयुक्त होकर उभरती हैं। जैनेंद्र के उपन्यासों में घटनाओं की संघटनात्मकता पर बहुत कम बल दिया गया मिलता है। चरित्रों की प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं के निर्देशक सूत्र ही मनोविज्ञान और दर्शन का आश्रय लेकर विकास को प्राप्त होते हैं।

जैनेंद्रकुमार का जन्म 2 जनवरी, सन 1905, में अलीगढ़ के कौड़ियागंज गाँव में हुआ। उनके बचपन का नाम आनंदीलाल था। इनकी मुख्य देन उपन्यास तथा कहानी है। एक साहित्यविचारक के रूप में भी इनका स्थान मान्य है। इनके जन्म के दो वर्ष पश्चात् इनके पिता की मृत्यु हो गई। इनकी माता एवं मामा ने ही इनका पालन-पोषण किया। इनके मामा ने हस्तिनापुर में एक गुरुकुल की स्थापना की थी। वहीं जैनेंद्र की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा हुई। उनका नामकरण भी इसी संस्था में हुआ। सन् 1912 में उन्होंने गुरुकुल छोड़ दिया। प्राइवेट रूप से मैट्रिक परीक्षा में बैठने की तैयारी के लिए वह बिजनौर आ गए। 1919 में उन्होंने यह परीक्षा बिजनौर से न देकर पंजाब से उत्तीर्ण की। जैनेंद्र की उच्च शिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हुई। 1921 में उन्होंने विश्वविद्यालय की पढ़ाई छोड़ दी और काँग्रेस के असहयोग आंदोलन में भाग लेने के उद्देश्य से दिल्ली आ गए। कुछ समय के लिए ये लाला लाजपत राय के 'तिलक स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स' में भी रहे, परंतु अंत में उसे भी छोड़ दिया।

सन 1921 से 23 के बीच जैनैन्द्र ने अपनी माता की सहायता से व्यापार किया, जिसमें इन्हें सफलता भी मिली। परंतु सन 23 में वे नागपुर चले गए और वहाँ राजनीतिक पत्रों में संवाददाता के रूप में कार्य करने लगे। उसी वर्ष इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और तीन माह के बाद छूट गए। दिल्ली लौटने पर इन्होंने व्यापार से अपने को अलग कर लिया। जीविका की खोज में ये कलकत्ते भी गए, परंतु वहाँ से भी इन्हें निराश होकर लौटना पड़ा। इसके बाद इन्होंने लेखन कार्य आरंभ किया। 24 दिसंबर 1988 को उनका निधन हो गया।

काका हाथरसी : हाथरस की रसीली हास्यमयी धरती पर काका हाथरसी का अवतरण शुभ मिती आश्विन कृष्ण 15 सं० 1963 दिनांक 18 सितंबर सन् 1906 ई० की मध्यरात्रि को हुआ। अपाका मूल नाम प्रभुलाल गर्ग था।

काका की प्रथम कविता 'गुलदस्ता' मासिक के मुखपृष्ठ पर सन् 1933 में प्रकाशित हुई। यह पत्र 'चाँद' के संपादक स्व० आर० सहगल के संपादकत्व में प्रकाशित होता था। उस समय काका की अवस्था लगभग 29 वर्ष थी।

काका ने सन् 1935 में 'संगीत' मासिक प्रकाशित करने की योजना बनाई। यह पत्र आज तक संगीत-जगत् की सेवा कर रहा है। परंतु इसके प्रकाशन के प्रारंभिक वर्षों में संपादन से लेकर डिस्पैचिंग तक का सारा काम काका को स्वयं ही करना पड़ता था। आज कौन विश्वास करेगा कि अनेकानेक कठिन परिस्थितियों में पलनेवाला यह पत्र सात दशक से अधिक समय से प्रकाशित हो रहा है।

काका की प्रमुख रचनाएँ : दुलत्ती, काका के कारतूस, काका के प्रहसन, काकदूत, काका की फुलझड़ियाँ, काका के कहकहे, महामूर्ख सम्मेलन, काका की काकटेल, चकल्लस, काकाकोला, हँसगुल्ले, काका के धड़ाके, कहँ काका कविराय, फिल्मी सरकार, जय बोलो बेईमान की, नॉकझोंक काका-काकी की, काका-काकी के लवलैटर्स, हसंत-बसंत, योगा एंड भोगा, काका की चौपाल, यार सप्तक, काका का दरबार, काका के चुटकुले, हँसी के गुब्बारे, काका तरंग, काका शतक, मेरा जीवन : ए-वन, मीठी-मीठी हँसाइयाँ, काका की महफ़िल, खिलखिलाहट, काका के व्यंग्यबाण नाम से काका के हास्य-व्यंग्य के अनेक संकलन प्रकाशित हो चुके हैं।

करोड़ों व्यक्तियों को हास्य से सराबोर करने वाले काका जी बड़े शांत भाव से 18 सितंबर 1995 को हमसे बिदा हो गए; किंतु उनका लेखन हमेशा-हमेशा हमारे मन में उनकी स्मृतियाँ ताज़ा रखेगा।

मन्मथनाथ गुप्त (जन्म: 7 फरवरी 1908-मृत्यु: 26 अक्टूबर 2000) भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के एक प्रमुख क्रांतिकारी तथा सिद्धहस्त लेखक थे। इन्होंने हिंदी, अँग्रेजी तथा बांग्ला में आत्मकथात्मक, ऐतिहासिक एवं गल्प साहित्य की रचना की है। ये मात्र 13 वर्ष की आयु में ही स्वतंत्रता-संग्राम में कूद गए और जेल गए। बाद में वे हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के सक्रिय सदस्य भी बने और 17 वर्ष की आयु में उन्होंने सन् 1925 में हुए काकोरी कांड में सक्रिय रूप से भाग लिया।

क्रांतिकारी लेखक मन्मथनाथ गुप्त का जन्म 7 फरवरी 1908 को वाराणसी में हुआ था। उनके पिता वीरेश्वर विराट नगर (नेपाल) में एक स्कूल के हेडमास्टर थे। इसलिए मन्मथनाथ

गुप्त ने भी दो वर्ष वहीं शिक्षा पाई। बाद में वे वाराणसी आ गए। उस समय के राजनीतिक वातावरण का प्रभाव उन पर भी पड़ा और 1921 में ब्रिटेन के युवराज के बहिष्कार का नोटिस बाँटते हुए गिरफ्तार कर लिए गए और तीन महीने की सजा हो गई। जेल से छूटने पर उन्होंने काशी विद्यापीठ में प्रवेश लिया और वहाँ से विशारद की परीक्षा उत्तीर्ण की। तभी उनका संपर्क क्रांतिकारियों से हुआ और मन्मथ पूर्ण रूप से क्रांतिकारी बन गए। 1925 के प्रसिद्ध काकोरी कांड में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। ट्रेन रोककर ब्रिटिश सरकार का खजाना लूटने वाले 10 व्यक्तियों में वे भी सम्मिलित थे। इसके बाद गिरफ्तार हुए, मुकदमा चला और 14 वर्ष के कारावास की सजा हो गई।

लेखन के प्रति उनकी प्रवृत्ति पहले से ही थी। जेल-जीवन के अध्ययन और मनन ने उसे पुष्ट किया। छूटने पर उन्होंने विविध विधाओं में विपुल साहित्य की रचना की। उनके प्रकाशित ग्रंथों की संख्या 80 से अधिक है। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास, क्रांति युग के अनुभव, चंद्रशेखर आजाद, विजय यात्रा, यतींद्रनाथ दास, काँग्रेस के सौ वर्ष, कथाकार प्रेमचंद, प्रगतिवाद की रूपरेखा, साहित्यकला समीक्षा आदि समीक्षाविषयक ग्रंथ हैं। उन्होंने कहानियाँ भी लिखीं।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी और सिद्धहस्त लेखक मन्मथनाथ गुप्त का निधन 26 अक्टूबर 2000 में हुआ।

केदारनाथ अग्रवाल का जन्म 1 अप्रैल 1911 को उत्तर प्रदेश के बाँदा जनपद के कामासिन गाँव में हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान ही उन्होंने लिखने की शुरुआत की। उनकी लेखनी में प्रयाग की प्रेरणा का बड़ा योगदान रहा है। प्रयाग के साहित्यिक परिवेश से उनके गहरे रिश्ते का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उनकी सभी मुख्य कृतियाँ इलाहाबाद के परिमल प्रकाशन से ही प्रकाशित हुईं। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं—युग की गंगा, नींद के बादल, लोक और अलोक, आग का आइना, पंख और पतवार, अपूर्वा, बोले बोल अनमोल, आत्मगंध आदि। उनकी कई कृतियाँ अँग्रेजी, रूसी और जर्मन भाषा में अनुदित भी हो चुकी हैं। केदार शोधपीठ की ओर हर साल एक साहित्यकार को लेखन के लिए केदार सम्मान से सम्मानित किया जाता है।

विष्णु प्रभाकर (जन्म-21 जून, 1912 और मृत्यु-11 अप्रैल, 2009) अपने साहित्य में भारतीय वाग्मिता और अस्मिता को व्यंजित करने के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। विष्णु प्रभाकर जी ने कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी, निबंध, एकांकी, यात्रा-वृत्तांत और कविता आदि प्रमुख विधाओं में अपनी बहुमूल्य रचनाएँ की हैं। प्रभाकर जी ने आकाशवाणी, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं तथा प्रकाशन-संबंधी मीडिया के प्रत्येक क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की थी। देश-विदेश की अनेक यात्राएँ करने वाले विष्णुजी जीवन-पर्यंत पूर्णकालिक मसिजीवी रचनाकार के रूप में साहित्य-साधना में लीन रहे थे।

विष्णु प्रभाकर का जन्म 21 जून, सन 1912 को मीरापुर, जिला मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। इन्हें इनके एक अन्य नाम विष्णुदयाल से भी जाना जाता है। इनके पिता का नाम दुर्गाप्रसाद था, जो धार्मिक विचारधारा वाले व्यक्तित्व के धनी थे। प्रभाकर जी की माता महादेवी पढ़ी-लिखी महिला थीं, जिन्होंने अपने समय में पर्दाप्रथा का घोर विरोध किया था।

प्रभाकर जी की पत्नी का नाम सुशीला था। प्रभाकर जी की आरंभिक शिक्षा मीरापुर में हुई थी। उन्होंने सन 1929 में चंदूलाल एंग्लो-वैदिक हाई स्कूल, हिसार से मैट्रिक की परीक्षा पास की। इसके उपरांत नौकरी करते हुए पंजाब विश्वविद्यालय से भूषण, प्राज्ञ, विशारद और प्रभाकर आदि की हिंदी-संस्कृत परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कीं। उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से ही बी०ए० की डिग्री भी प्राप्त की थी।

प्रभाकर जी के घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। यही कारण था कि उन्हें काफी कठिनाइयों और समस्याओं का सामना करना पड़ा था। वे अपनी शिक्षा भली प्रकार से प्राप्त नहीं कर पाए थे। घर की परेशानियों और जिम्मेदारियों के बोझ से उन्होंने स्वयं को मजबूत बना लिया। उन्होंने चतुर्थ श्रेणी की एक सरकारी नौकरी प्राप्त की। इस नौकरी के जरिए पारिश्रमिक रूप में उन्हें मात्र 18 रुपये प्रतिमाह का वेतन प्राप्त होता था। विष्णु प्रभाकर जी ने जो डिग्रियाँ और उच्च शिक्षा प्राप्त की, तथा अपने घर-परिवार की जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभाया, वह उनके अथक् प्रयासों का ही परिणाम था।

अपने लेखन के दौर में वे प्रेमचंद, यशपाल और अज्ञेय जैसे महारथियों के सहयात्री रहे, किंतु रचना के क्षेत्र में उनकी अपनी एक अलग पहचान बन चुकी थी। 1931 में हिंदी मिलाप में पहली कहानी दीवाली के दिन छपने के साथ ही उनके लेखन का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह जीवनपर्यंत निरंतर चलता रहा। नाथूराम शर्मा प्रेम के कहने से वे शरतचंद्र की जीवनी आवारा मसीहा लिखने के लिए प्रेरित हुए। कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, संस्मरण, बालसाहित्य सभी विधाओं में प्रचुर साहित्य लिखने के बावजूद आवारा मसीहा उनकी पहचान का पर्याय बन गयी।

विष्णु प्रभाकर जी की प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—1. कहानी-संग्रह-संघर्ष के बाद, धरती अब भी धूम रही है, मेरा वतन, खिलौने, आदि और अंत, एक आसमान के नीचे, अधूरी कहानी, कौन जीता कौन हारा, तपोवन की कहानियाँ, पाप का घड़ा, मोती किसके। 2. बालकथा संग्रह—क्षमादान, गजनंदन लाल के कारनामे, घमंड का फल, दो मित्र, सुनो कहानी, हीरे की पहचान। 3. उपन्यास—ढलती रात, स्वप्नमयी, अर्द्धनारीश्वर, धरती अब भी घूम रही है, पाप का घड़ा, होरी, कोई तो, निशिकांत, तट के बंधन, स्वराज्य की कहानी। 4. आत्मकथा—क्षमादान और पंखहीन नाम से उनकी आत्मकथा 3 भागों, और पंखी उड़ गया, मुक्त गगन में। 5. नाटक—सत्ता के आर-पार, हत्या के बाद, नवप्रभात, डॉक्टर, प्रकाश और परछाइयाँ, बारह एकांकी, अब और नहीं, टूटते परिवेश, गांधार की भिक्षुणी और अशोक। 6. जीवनी—आवारा मसीहा, अमर शहीद भगतसिंह। 7. यात्रा वृत्तान्त—ज्योतिपुंज हिमालय, जमुना-गंगा के नैहर में, हँसते निर्झर दहकती भट्टी। 8. संस्मरण—हमसफर मिलते रहे। 9. कविता संग्रह—चलता चला जाऊँगा।

विष्णु प्रभाकर जी का निधन 96 वर्ष की उम्र में 11 अप्रैल, 2009 को नई दिल्ली में हो गया।

भैरवप्रसाद गुप्त : हिन्दी के सुपरिचित एवं प्रगतिवादी कथाकार भैरवप्रसाद गुप्त का जन्म 7 जुलाई, 1918 को सिवानकलाँ गाँव (बलिया, उ०प्र०) में हुआ। स्कूली शिक्षा के दौरान उनका रुझान लेखन की ओर हुआ। अपने शिक्षक रघुनाथ राय की प्रेरणा से गुप्तजी कहानी-लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। उच्चशिक्षा के लिए जब वे इलाहाबाद इर्विंग कॉलेज में गए तो वहाँ

जगदीशचंद्र माथुर, शिवदानसिंह चौहान जैसे लेखकों और आलोचकों के संपर्क और साहित्यिक-राजनीतिक परिवेश में उनके रचनात्मक संस्कारों को दिशा मिली।

सन् 1940 में वे गांधीजी की प्रेरणा से राजगोपालाचारी के साथ मद्रास पहुँचे और वहाँ हिंदी प्रचारक महाविद्यालय में अध्यापन करने लगे। सन् 1944 में वे माया प्रेस, इलाहाबाद से जुड़ गए। गुप्तजी अपने अन्य समकालीनों की तरह आर्यसमाज और गांधीवादी राजनीति की राह से वामपंथी राजनीति की ओर आए। सन् 1948 में वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने और तमाम विघटन एवं विभाजन के बावजूद इससे संबद्ध रहे।

‘शोले’ उपन्यास (1946) से अपनी रचना-यात्रा शुरू करने वाले भैरवप्रसाद गुप्त ने प्रगतिवादी आंदोलन की अंतिम कड़ी के बतौर प्रेमचंद की तरह शहर और गाँव दोनों को अपनी रचना का केंद्र बनाया तथा मानवीय शोषण के छद्म रूपों को उधेड़कर वर्गहीन समाज की राह तैयार की। नई कहानी के लिए उन्होंने अपने संपादन में निकलने वाली पत्रिकाओं—कहानी और नई कहानियाँ द्वारा नई प्रतिभाओं को मंच दिया। गुप्तजी ने समाज के बुनियादी वर्गों—किसान और मजदूर—को केंद्र में रखकर मशाल, गंगा मैया (1952), सती मैया का चौरा (1959) और धरती (1962) जैसी महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृतियों की रचना की। गुप्तजी के कुल चौदह उपन्यास, बारह कहानी-संग्रह और दो अन्य कृतियाँ प्रकाशित हैं। उनकी अन्य प्रमुख कृतियाँ हैं—अंतिम अध्याय (1970), नौजवान (1974), भाग्य देवता (1992) और छोटी-सी शुरुआत (1977)। भैरवप्रसाद गुप्त का निधन 7 अप्रैल को अलीगढ़ में हुआ।

भारतभूषण अग्रवाल : कवि, लेखक और समालोचक भारतभूषण अग्रवाल का जन्म 3 अगस्त, 1919 (तुलसी-जयंती) को मथुरा (उ०प्र०) के सतघड़ा मोहल्ले में हुआ। इन्होंने आगरा तथा दिल्ली में उच्च शिक्षा प्राप्त की फिर आकाशवाणी में तथा में तथा अनेक साहित्यिक संस्थाओं में सेवा की। पैतृक व्यवसाय से दूर, उन्होंने साहित्य-रचना को ही अपना कर्म माना। पहला काव्य-संग्रह छवि के बंधन (1941) प्रकाशित होने के बाद, वे मारवाड़ी समाज के मुखपत्र समाज सेवक के संपादक होकर कलकत्ता गए। यहीं उनका परिचय बांग्ला साहित्य और संस्कृति से हुआ। भारतभूषण जी ‘तारसप्तक’ (1943) में महत्वपूर्ण कवि के रूप में सम्मिलित हुए और अपनी कविताओं तथा वक्तव्यों के लिए चर्चित हुए। अपनी अन्य कृतियों जागते रहो (1942), मुक्तिमार्ग (1947) के लेखन के दौरान वे इलाहाबाद से प्रकाशित पत्रिका ‘प्रतीक’ से भी जुड़े और 1948 में आकाशवाणी में कार्यक्रम अधिकारी बने। 1959 में उनका एक संग्रह ‘ओ अप्रस्तुत मन’ प्रकाशित हुआ, जो उनकी रचनात्मक परिपक्वता और वैचारिक प्रौढ़ता का निदर्शन था। भारतभूषण अग्रवाल का निधन 23 जून, 1975 (सूर-जयंती) को हुआ।

मृदुला गर्ग का जन्म 25 अक्तूबर, 1938 को कोलकाता में हुआ। अध्यापन से अपने कार्यजीवन का प्रारंभ करने वाली मृदुली गर्ग ने उपन्यास, कहानी-संग्रह, नाटक तथा निबंध-संग्रह सब मिलाकर उन्होंने 20 से अधिक पुस्तकों की रचना की है। इसके अतिरिक्त वे स्तंभकार रही हैं, पर्यावरण के प्रति सजगता प्रकट करती रही हैं तथा महिलाओं तथा बच्चों के हित में समाजसेवा के काम करती रही हैं। उन्होंने इंडिया टुडे के हिंदी संस्करण में लगभग तीन साल तक ‘कटाक्ष’ नामक स्तंभ लिखा है, जो अपने तीखे व्यंग्य के कारण खूब चर्चा में रहा। वे संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलंबिया विश्वविद्यालय में 1990 में आयोजित एक सम्मेलन में हिंदी साहित्य

में महिलाओं के प्रति भेदभाव विषय पर व्याख्यान भी दे चुकी हैं। उनकी रचनाओं के अनुवाद जर्मन, चेक, जापानी और अँग्रेजी सहित अनेक भारतीय भाषाओं में हो चुके हैं।

उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं—उपन्यास—उसके हिस्से की धूप, वंशज, चित्तकोबरा, अनित्य, मैं और मैं तथा कठगुलाब; कहानी संग्रह—कितनी कैदें, टुकड़ा टुकड़ा आदमी, डैफोडिल जल रहे हैं, ग्लेशियर से, उर्फ सैम, शहर के नाम, चर्चित कहानियाँ, समागम, मेरे देश की मिट्टी अहा, संगति विसंगति, जूते का जोड़ गोभी का तोड़; नाटक—एक और अजनबी, जादू का कालीन, तीन कैदें और सामदाम दंड भेद; निबंध—संग्रह—रंग-ढंग तथा चुकते नहीं सवाल; यात्रा संस्मरण—कुछ अटके कुछ भटके; व्यंग्य संग्रह—कर लेंगे सब हजम।

उन्हें हिंदी अकादमी द्वारा 1988 में साहित्यकार सम्मान, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा साहित्यभूषण सम्मान, 2003 में सूरीनाम में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन में आजीवन साहित्य सेवा सम्मान, 2004 में 'कठगुलाब' के लिए व्यास सम्मान तथा 2003 में कठगुलाब के लिए ही ज्ञानपीठ का वाग्देवी पुरस्कार प्रदान किया गया है। 'उसके हिस्से की धूप' उपन्यास को 1975 में तथा 'जादू का कालीन' को 1993 में मध्य प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया है। उन्हें ह्यूमन राइट वाच की ओर से साहसिक लेखन के लिये हम्मेट-हैलमैन पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया है।

गिरिराज किशोर का जन्म 8 जुलाई, 1937 को मुजफ्फरनगर (उ०प्र०) में हुआ। आपने मास्टर ऑफ सोशल वर्क की उपाधि 1960 में, समाजविज्ञान संस्थान, आगरा से प्राप्त की। आई०आई०टी० कानपुर में कुलसचिव के पद से अवकाश ग्रहण किया। राष्ट्रपति द्वारा 23 मार्च 2007 में साहित्य और शिक्षा के लिए पद्मश्री से विभूषित हुए। वे साहित्य अकादमी, नई दिल्ली की कार्यकारिणी के सदस्य रहे हैं।

प्रकाशित कृतियाँ : कहानी संग्रह—नीम के फूल, चार मोती बेआब, पेपरवेट, रिश्ता और अन्य कहानियाँ, शहर-दर-शहर, हम प्यार कर लें, जगत्तारनी एवं अन्य कहानियाँ, वल्द रोजी, यह देह किसकी है?, कहानियाँ पाँच खंडों में मेरी राजनीतिक कहानियाँ व हमारे मालिक सबके मालिक; उपन्यास—लोग, चिड़ियाघर, दो, इंद्र सुनें, दावेदार, तीसरी सत्ता, यथा प्रस्तावित, परिशिष्ट, असलाह, अंतर्ध्वंस, ढाई घर, यातनाघर, आठ लघु उपन्यास अष्टाचक्र के नाम से दो खंडों में। पहला गिरमिटिया (गांधी जी के दक्षिण अफ्रीकी अनुभव पर आधारित महाकाव्यात्मक उपन्यास); नाटक—नरमेध, प्रजा ही रहने दो, चेहरे-चेहरे किसके चेहरे, केवल मेरा नाम लो, जुर्म आयद, काठ की तोप। बच्चों के लिए एक लघुनाटक मोहन का दुःख; लेख/निबंध—संवादसेतु, लिखने का तर्क, सरोकार, कथ-अकथ, समपर्णी, एक जनभाषा की त्रासदी, जन-जन सनसत्ता।

डॉ० प्रभा खेतान (1 नवंबर 1942-20 सितंबर, 2008) प्रभा खेतान फाउण्डेशन की संस्थापक अध्यक्षा, नारीविषयक कार्यों में सक्रिय रूप से भागीदार, फिगरेट नामक महिला स्वास्थ्य केंद्र की स्थापक, 1966 से 1976 तक चमड़े तथा सिले-सिलाए वस्त्रों की निर्यातक, अपनी कंपनी न्यू होराईजन लिमिटेड की प्रबंध-निदेशिका, हिंदीभाषा की लब्धप्रतिष्ठित उपन्यासकार, कवयित्री तथा नारीवादी चिंतक तथा समाजसेविका थीं। उन्हें कलकत्ता चैंबर ऑफ कॉमर्स की एकमात्र महिला अध्यक्ष होने का गौरव प्राप्त था। वे केंद्रीय हिंदी संस्थान की सदस्या थीं।

कोलकाता विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि लेने वाली प्रभा ने 'ज्यां पॉल सार्त्र के अस्तित्ववाद' पर पीएच०डी० की थी। उन्होंने 12 वर्ष की उम्र से ही अपनी साहित्य-यात्रा की शुरुआत कर दी थी और उनकी पहली रचना (कविता) सुप्रभात में छपी थी, तब वे सातवीं कक्षा की छात्रा थीं। 1980-81 से वे पूर्णकालीन साहित्यसेवा में लग गईं। उनके छह कविता संग्रह-अपरिचित उजले (1981), सीढ़ियाँ चढ़ती ही मैं (1982), एक और आकाश की खोज में (1985), कृष्णधर्मा मैं (1986), हुस्नोबानो और अन्य कविताएँ (1987), अहिल्या (1988) और आठ उपन्यास-आओ पेपे घर चले, तालाबंदी (1991), अग्निसंभवा (1992), एडस, छिन्नमस्ता (1993), अपने-अपने चहरे (1994), पीली आँधी (1996) और स्त्रीपक्ष (1999) तथा दो लघु उपन्यास शब्दों का मसीहा सार्त्र, बाजार के बीच: बाजार के खिलाफ साहित्यिक क्षेत्र में प्रशंसित रहे। फ्रांसीसी रचनाकार सिमोन द बोउवा की पुस्तक 'दि सेकेंड सेक्स' के अनुवाद 'स्त्री उपेक्षिता' ने उन्हें काफी चर्चित किया। इसके अतिरिक्त उनकी कई पुस्तकें जैसे बाजार बीच बाजार के खिलाफ और उपनिवेश में स्त्री जैसी रचनाओं ने उनकी नारीवादी छवि को स्थापित किया। अपने जीवन के अनछुए पहलुओं को उजागर करने वाली आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' लिखकर सौम्य और शालीन प्रभा खेतान ने साहित्य-जगत को चौंका दिया।

वैश्य समाज में जन्मे ये कुछ महत्वपूर्ण नाम हैं, जिनकी चर्चा मैंने इस आलेख में की है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे नाम हैं, जिनकी विस्तार से चर्चा मैं इस छोटे आलेख में नहीं कर पा रहा हूँ। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे कोई छोटे नाम हैं। यदि इस दिशा में कोई शोधार्थी प्रयासरत होता है तो उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, कर्नाटक, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल, हरियाणा, हिमाचल, उत्तराखंड, दिल्ली आदि राज्यों में अनेकानेक ऐसे साहित्यकारों की खोज की जा सकती है, जिन्होंने वणिक परिवार में जन्म लेकर सरस्वती की आराधना की है। इनमें से कुछ के नाम देकर मैं स्वयं को धन्य करना चाहता हूँ—सर्वश्री अग्रचंद नाहटा, डॉ० अजय अनुपम (मुरादाबाद), डॉ० आदित्य प्रचंडिया (अलीगढ़), श्री आर्यभूषण गर्ग (धामपुर), डॉ० इंदिरा अग्रवाल (अलीगढ़), डॉ० ओमप्रकाश गुप्त (जम्मू), डॉ० कमलकिशोर गोयनका (दिल्ली), कामताप्रसाद जैन, डॉ० कुंतल गोयल (अंबिकापुर), डॉ० कमल गुप्त (वाराणसी), डॉ० कुसुम अंसल (दिल्ली), श्री कौशल्या अग्रवाल देहरादून (उत्तरांचल), डॉ० गिरीश रस्तोगी (गोरखपुर), श्रीमती गीतिका गोयल (गुड़गाँव), डॉ० गौरीशंकर गुप्त वाराणसी (उ०प्र०), श्री घनश्याम अग्रवाल (अकोला), श्री घमंडीलाल अग्रवाल (गुड़गाँव), साहित्यभूषण डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल (बिजनौर), धर्मेन्द्र गुप्त (दिल्ली), डॉ० नर्मदाप्रसाद गुप्त (छतरपुर), श्रीमती निरुपमा अग्रवाल (बरेली), डॉ० परमलाल गुप्त (सतना), पवित्रा अग्रवाल (हैदराबाद), पुरुषोत्तम अग्रवाल (दिल्ली), प्रदीप गुप्त (दिल्ली), प्रमोद बंसल (दिल्ली), श्री प्रहलाद कंसल झुँझनूँ (राज०), श्री प्रेमचंद्र गुप्त 'विशाल' (जयपुर), प्रेम निर्मल (प्रेमचंद्र गुप्त) हापुड़ (गाज़ियाबाद), प्रेमस्वरूप गुप्त (नोएडा), बलराम अग्रवाल (दिल्ली), बालकृष्ण गर्ग (हाथरस), बालकृष्ण गर्ग 'बालक' (अजमेर), भगवतप्रसाद अग्रवाल (बाराबंकी), भैरूलाल गर्ग भीलवाड़ा (राज०), मदनलाल गुप्ता, चाँपा (बिलासपुर), मधुदीप (दिल्ली), मनोहरलाल गोयल (जमशेदपुर), महावीर अग्रवाल, दुर्गा (छत्तीसगढ़), डॉ० महेंद्रकुमार अग्रवाल (शिवपुरी), महेंद्र मित्तल (हापुड़), महेंद्रसागर प्रचंडिया

(अलीगढ़), महेश अग्रवाल (भोपाल), डॉ० महेशचंद्र गर्ग (मेरठ), महेशचंद्र गुप्त (दिल्ली), महेशचंद्र गुप्त (हापुड़), डॉ० मित्रेशकुमार गुप्त (मेरठ), डॉ० मीना अग्रवाल (बिजनौर), श्रीमती मीना अग्रवाल (दिल्ली), डॉ० मुकेशचंद्र गुप्ता (संभल), श्रीमती मोनिका अग्रवाल (बरेली), डॉ० मुकेश गर्ग (दिल्ली), डॉ० यश गोयल (जयपुर), यशपाल जैन (दिल्ली), श्रीमती रमणिका गुप्ता (हषारीबाग), डॉ० राकेश अग्रवाल (हापुड़), राकेश चक्र (मुरादाबाद), डॉ० रामगोपाल गोयल (अजमेर), रामनारायण गुप्ता 'प्रदीप' (भोपाल), रामप्रकाश गोयल (बरेली), डॉ० रामलखन गुप्त (जबलपुर), डॉ० रामेश्वरप्रसाद गुप्त (दतिया), रामेश्वरप्रसाद गुप्ता 'इंदु' (झाँसी), श्रीमती रेणु गुप्ता राजवंशी (अमेरिका), डॉ० लक्ष्मीनारायण गर्ग (हाथरस), डॉ० लालचंद गुप्त 'मंगल' (कुरुक्षेत्र), विद्याविनोद गुप्त (चांपा), वीरेंद्र गोयल (दिल्ली), वीरेंद्र जैन, वेदप्रकाश गर्ग (मुजफ्फरनगर), सुश्री शशिबाला अग्रवाल (अलीगढ़), डॉ० श्री शशिभूषण सिंहल (दिल्ली), डॉ० शशि सहगल (दिल्ली), शिवकुमार गोयल (हापुड़), शेरजंग गर्ग (गुड़गाँव), श्यामसुंदर अग्रवाल (कोटकपुरा, पंजाब), श्यामसुंदर गोइन्का (बंगलौर), डॉ० संतराम वैश्य (हरिद्वार), संतोष अग्रवाल (दिल्ली), सत्यप्रकाश अग्रवाल 'उमंग' (मेरठ), डॉ० सरला अग्रवाल (कोटा), सरला गुप्ता (जयपुर), डॉ० सीताराम गुप्त 'दिनेश' (आलमपुर, भिंड, म०प्र०), डॉ० सुधा गुप्ता (मेरठ), श्रीमती सुधा गोयल (बुलंदशहर), डॉ० श्री सुनील गुप्ता 'तन्हा' (कवर्धा, छत्तीसगढ़), सुरेंद्रसागर प्रचंडिया, डॉ० सुरेशचंद्र गुप्त (बरेली), हरि अग्रवाल (बाराँ), डॉ० हरिकृष्णप्रसाद गुप्त अग्रहरि (भेलाही, पूर्व चंपारण), हीरालाल जैन, हेमंत गुप्ता 'पंकज' (कोटा)आदि। यह संख्या अपनी खोज के प्रारंभिक चरण में है। इस लेख को समाप्त करते-करते कई महत्वपूर्ण जैन कवियों के नाम मेरी जानकारी में आए हैं। वे हैं—जगताराम अग्रवाल (अठारहवीं शती), जगजीवन अग्रवाल (सत्रहवीं शती आगरा), नंदलाल अग्रवाल (गौसुना), बुलाकीदास अग्रवाल, कवि बुलाकीदास गोयल, वृंदावनदास अग्रवाल (शाहाबाद जिले के अंतर्गत बारा नामक ग्राम में संवत् 1848), भाऊ अग्रवाल, रूपचंद्र अग्रवाल (17वीं शती), विनोदीलाल अग्रवाल (साहिजादपुर औरंगजेब काल), सधारु अग्रवाल, हरिचंद्र अग्रवाल

बी-203, पार्क व्यू सिटी-2
सोहना रोड, (गुड़गाँव) 122018
मो० 07838090732

साहित्य और समाज

प्रोफेसर आदित्य प्रचंडिया, डी०लिट्०

शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव अर्थात् साथ होना साहित्य है। साहित्य मनुष्य के भावों और विचारों की समष्टि है। 'विदग्धवरणी' और 'भावों के वाङ्मय' को साहित्य की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जन्म से लेकर अंत तक वह समाज में रहता है। समाज का मनुष्य से और मनुष्य का समाज से एक अटूट संबंध है। बिना समाज के मनुष्य नहीं रह सकता और न बिना मनुष्य के समाज। समाज के जीवन में व्यक्ति का जीवन सार्थक होता है। मनुष्य को समाज के हित और उसके ऐश्वर्य के लिए जीना और मरना चाहिए। व्यक्तियों से बने समाज में अनेकता में एकता की स्थापना है। सर्वोदय अभीष्ट है। समस्त अभावों के नाश से उत्पन्न होने वाली, पूर्ण मानव के विकास से प्राप्त एक सुख-शालीनता ही प्राप्य है, जिसका आनंद मानसिक आनंद ही हो सकता है। साहित्य की सर्जना जटिल प्रक्रिया है। समाज, साहित्य और साहित्यकार इसके मूलाधार होते हैं। ये तीनों पक्ष परस्पर में अटूट संबंधों से जुड़े हैं। समाज में विभिन्न वर्गों की स्थिति, साहित्य में रूप-विधान और साहित्यकार के व्यक्तित्व को अलग-अलग समझना और फिर साहित्य-सृजन में उपस्थित होने वाले तीनों के समवाय का बोध और प्रयत्न अपेक्षित है।

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य-प्रयोजनों में प्रतिबिंबित साहित्य और समाज के संबंधों की ओर बार-बार संकेत किया है। भरत मुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने इस संदर्भ को प्रतिपादित किया है। मम्मट के अनुसार काव्य के प्रमुख प्रयोजन छह-यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, शिव, सआनंद और कांतासम्मत उपदेश होते हैं। इनमें से व्यवहार-ज्ञान, शिव और कांता सम्मत उपदेश का संबंध समाज से है। तीनों ही सहृदय के व्यक्तित्व की सामाजिकता को लक्ष्य करते हैं। साहित्यकार के मानसिक गठन में एक ओर जहाँ साहित्य का रूप-विधान स्थित रहता है, वहीं दूसरी ओर साहित्यकार का अपना देशकाल भी सक्रिय रहता है। देशकाल के सम्यक् ज्ञान के बिना साहित्यकार के मानसिक गठन के मर्म तक पहुँच पाना असंभव है। 'देश' के अंतर्गत आता है-लेखक का समाज। लेखक जिस समाज या जाति की देन होता है, उसका लेखक के विश्वासों, आस्थाओं और स्वप्नों पर दूर तक प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक जाति का अपना जातीय गुण होता है और वह गुण लेखक के व्यक्तित्व के प्रत्येक नियामक तत्त्व में सूक्ष्मातिसूक्ष्म समाहित रहता है। साथ ही कोई भी जाति या समाज सर्वदा एक ही सतह पर नहीं जीता। उसमें अनेक वर्ग होते हैं, जिन्हें पहचान पाने पर ही लेखक के मानसिक संगठन तक पहुँचने का उपक्रम किया जा सकता है। 'देश' के बाद 'काल' का क्रम आता है। प्रत्येक 'काल' का अपना गुण होता है, जिसे 'युगधर्म' से संसाधित किया जाता है। इस 'युगधर्म' का परिज्ञान आवश्यक है। तभी

साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित संबंध की प्रतीति हो पाती है। आदिकाल से लेकर आज तक के हिंदी-भाषी समाज और हिंदी साहित्य के स्वरूप पर विहंगम दृष्टिक्षेप से साहित्य और समाज के पारस्परिक अटूट संबंध की झाँकी मिल जाती है। आदिकाल में दो प्रवृत्तियाँ प्रबल रहीं। शुरू में तो धर्मनिष्ठता और बाद में सामंती वीरता। तत्कालीन समाज और साहित्य को इन दोनों प्रवृत्तियों ने कितना प्रभावित किया, यह सर्वविदित है। भक्तिकाल में सामंती वीरता के स्थान पर भक्ति का प्रभुत्व हो गया। तत्पुगीन हिंदी-भाषी समाज तथा हिंदी-साहित्य पूर्णतः भक्तिनिष्ठ है। भक्ति के मूल में भी अलग-अलग आंदोलनों के माध्यम से प्रकट होने वाली पद्धतियों के अभिदर्शन होते हैं। रीतिकाल में देश और काल के अर्थात् जातीय गुणों एवं युग-धर्म के बदलते ही समाज और साहित्य में जो परिवर्तन उपस्थित हुए उसका सीधा प्रतिबिंब रीतिकालीन काव्य में अभिदर्शित है। आधुनिककाल के विभिन्न युगों में समय-समय पर जो बदलाव हुए वे तत्समय के समाज तथा साहित्य में पूर्णरूपेण प्रकट हुए—स्वतंत्रतापूर्व उत्कृष्ट देशप्रेम तथा समाजसुधार की आकांक्षा और स्वातंत्र्योत्तर काल में तीव्र औद्योगिककरण, महानगरीकरण तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार से उत्पन्न विषाद, संकटबोध तथा सर्वग्रासिनी पीड़ा। ये सभी तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि साहित्यकार के मानसिक गठन पर देश और काल का सम्यक् प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के माध्यम से साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित संबंध उजागर हो जाते हैं।

साहित्य और समाज की पारस्परिक घनिष्ठता का सबसे अधिक परिचय साहित्य के रूप-विधान से प्राप्त होता है। रूपविधान के निर्माण की प्रक्रिया हालाँकि मंद और जटिल होती है, लेकिन साहित्य और समाज के पारस्परिक संबंध का प्रभाव तात्कालिक पड़ता है। इस प्रभाव की स्वीकृति सविलंब मिलती है। हिंदी के आधुनिककाल में अँग्रेजी शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव ज्यों ही प्रसर्पित हुआ तो जन-जीवन ने अँगड़ाई ली। एक ओर तो नवीन प्रगति को समेटने की इच्छा तीव्रतर हो उठी, किंतु दूसरी ओर अंधानुकरण के दुष्परिणामों के प्रति सचेत रहने की आवश्यकता सामने आई। इन दोनों प्रवृत्तियों ने साहित्य के रूप-विधान को भी प्रभावित किया। ज्यों-ज्यों समाज-सुधार ने देशप्रेम की ओर बढ़ना शुरू किया, त्यों-त्यों कांतासम्मतयोपदेश युजे अधिकाधिक प्रबल होने लगा। स्वांतःसुखाय का स्थान समाज-सुधार तथा देशप्रेम ने ले लिया। स्वातंत्र्योत्तर काल आया तो परिवेश में गुणात्मक परिवर्तन हुआ। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों में गुणात्मक परिवर्तन हुए। इस गुणात्मक परिवर्तन की प्रभावना साहित्य के रूप-विधान पर भी हुई। यह बदलाव साहित्य के मूलधर्म से लेकर उसके बाह्य रूपाकार तक व्याप्त है। इस बदलाव की तीव्रता साहित्यशास्त्रियों को अर्चभित करती है।

साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित संबंध की झाँकी सर्जनात्मक साहित्य में सबसे अधिक और स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है। आदिकाल के पूर्वाद्ध में धर्म का प्राधान्य था। बौद्ध सिद्धों, योगी नाथों तथा जैनमुनियों की हिंदी-भाषी प्रदेशों में धूम थी। समाज का एक अन्य वर्ग और था जिसकी हलचल आदिकाल के उत्तराद्ध में उपस्थित हुई। इसके अभिदर्शन रासो काव्य में होते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि आदिकाल के पूर्वाद्ध और उत्तराद्ध से जुड़े समाज, साहित्य और साहित्यकार को हम अटूट संबंध से जुड़ा पाते हैं। जातीय परिवेश, साहित्य के रूप-विधान और साहित्यकारों के मानसिक गठन में अद्भुत साम्य है, अटूटता है। धर्म बंधन नहीं चाहता। बंधनों में कर्मकांड पला करता है, धर्म नहीं। आदिकाल के पूर्वाद्ध में बौद्ध-सिद्धों,

योगी-नाथों तथा जैनमुनियों में हम प्रत्येक को स्वतंत्र पाते हैं। राज्याश्रय से एकदम दूर और जनसामान्य के एकदम करीब। साहित्य के रूप-विधान में पुरुषार्थ चतुष्टय में से धर्म और मोक्ष को प्रमुखता मिली। इस काल के उत्तरार्द्ध में हिंदी-भाषी समाज में दूसरे वर्ग की प्रधानता हो जाती है। वर्णविषय बदल जाते हैं, काव्यरूप बदल जाते हैं, विचार और भाव बदल जाते हैं। भक्ति की जगह वीर और श्रृंगार ले लेते हैं। पाठ्य तथा गीतिमुक्तकों के स्थान पर रासो-ग्रंथ ले लेते हैं। जातीय गौरव की रक्षा ही परम मूल्य बन जाता है। 'रामायण' और 'महाभारत' के बाद 'पृथ्वीराज रासो' ने जाति के जीवन का प्रतिनिधित्व किया। रासो उस काल का राजनीतिक इतिहास नहीं तो सामाजिक इतिहास अवश्य बन गया है। वस्तुतः रासो चंद्रकालीन भारत का सवाक् चित्रपट है।

भक्तिकाल के आगमन पर यकायक पट-परिवर्तन होता है। एक ओर तो भक्ति की धारा प्रवहमान हो उठती है और दूसरी ओर तत्कालीन सम्राटों के नित्य प्रति बढ़ने वाले अत्याचारों, अनाचारों तथा उच्छृंखलताओं का विरोध प्रबल हो उठता है। अस्तु, जातीय गुण, साहित्य का रूप विधान और साहित्यिकों का व्यक्तित्व-सभी नए रूप धारण कर लेते हैं। जातीय गुण में भक्ति की ही प्रमुखता रहती है, लेकिन तत्समय राजतंत्र के अत्याचारों का विरोध भी गूढ़ स्थान प्राप्त कर लेता है। साहित्य के रूप-विधान में क्रांतिकारी बदलाव देखने को मिलते हैं। एक ओर तो भक्ति को लक्ष्य करके 'स्वांतःसुखाय' की भावना और दूसरी ओर समाज पर पड़ने वाले साहित्य के प्रभाव को लक्ष्य करके 'सुरनरि सम सब कहँ हित होई' की धारणा का प्राबल्य हो जाता है। काव्यकार न तो राज्याश्रय की चिंता करते हैं और न ही धार्मिक संप्रदायों के आश्रय की। यवन-शक्ति के बढ़ते हुए धार्मिक दबाव का सामना करने के लिए समन्वय की भावना जन्म लेती है और वह साहित्य और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करती है। धर्म और भक्ति के क्षेत्र में समन्वय की भावना अनेक स्तरों पर प्रकट होती है। साहित्यिक क्षेत्र में निर्गुण तथा सगुण के समन्वय में, वैष्णवों तथा शैवों के समन्वय में, ज्ञान और प्रेम के समन्वय में; उपासना के क्षेत्र में काशी तथा मथुरा में बड़े-बड़े मंदिरों के निर्माण तथा उसमें होने वाली सामूहिक पूजा-अर्चना के आयोजनों में, भजन-कीर्तन के आयोजनों में, घरों में सभी देवी-देवताओं की मूर्तियों के रखे जाने में समन्वय की प्रवृत्ति परिलक्षित है। उपासना की यह सामूहिक पद्धति भक्ति के क्षेत्र में सर्वथा नूतन और अनूठी देन थी। समस्त कृष्णकाव्य उपासना की सामूहिक रूप की ही देन है। तत्समय के सम्राटों के अत्याचारों, अनाचारों तथा उच्छृंखलताओं के विरोध ने कितना बल पकड़ा था, यह तत्समय के साहित्य से भलीभाँति प्रकट हो जाता है। यह विरोध गूढ़ रूप में प्रकट हुआ था। एकतंत्र का जमाना जो था। इस दृष्टि से तुलसी का 'रामचरितमानस' अपना महत्त्व रखता है। मानस में नितान्त गूढ़ ढंग से तत्समय की राजशक्ति के विरुद्ध उत्पन्न होने वाले क्षोभ तथा क्रोध को अभिव्यक्ति मिली है। मानस में अनेक स्थलों पर मिलने वाला राक्षसों और उनके अत्याचारों का वर्णन वास्तव में राक्षसी प्रवृत्ति वाले यवन शासकों का ही वर्णन है। तुलसीदास पर जनता-जनार्दन का ऐसा अटल विश्वास है कि राजा, नेता और फकीर-इनमें से जो भी तुलसी के खिलाफ होगा, जनता उसके खिलाफ हो जाएगी। वास्तव में समूचे उत्तरी भारत की कुंजी यदि किसी एक कवि के पास है तो वे तुलसी हैं। उत्तरी भारत के लोगों को तब तक समझ सकना असंभव है, जब तक हम मानस की एक-एक पंक्ति से पूर्णतया परिचित न हो लें। इस

काल में धर्म-परिवर्तन ने भी जोर पकड़ा था। उसकी प्रतिध्वनि भी सुनने को मिल जाती है।

रीतिकाल नए परिवेश के साथ सामने आया। हिंदी के अधिकांश काव्यकार राज्याश्रित हुए। राजदरबार से संबंधित व्यक्ति ही उनका समाज बने। छोटे-छोटे राजाओं, अमीर-उमरावों, नवाबों तथा जागीरदारों के दरबार थे। वहाँ राजशक्ति का प्रतीक विलासप्रियता तथा वैभव प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ और नहीं था। बहुगामिता, विलासप्रियता तथा वैभवप्रियता मुगलों के समय में ही जन्म ले चुकी थी। अकबर के अंतःपुर में पाँच हजार और जहाँगीर के अंतःपुर में तीन सौ रानियाँ या बेगमें थीं। जैसे ही मुगल साम्राज्य का विकेंद्रीकरण आरंभ हुआ और मुगल साम्राज्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा तो प्रत्येक प्रदेश के अधिकारी की बन आई। केंद्रीय सत्ता के अभाव में प्रत्येक प्रदेश का अधिकारी मनमानी करने पर उतर आया। फलस्वरूप तथाकथित नवाबों, राजाओं और जागीरदारों और उनसे संबद्ध व्यक्तियों में बहुगामिता, विलासप्रियता तथा वैभवप्रियता ने घर कर लिया। हिंदी का तत्कालीन कवि दुर्भाग्य से इसी समाज के संपर्क में आया। इस प्रकार के परिवेश में जिस प्रकार साहित्य जन्म ले सकता था, सन 1643 से सन् 1843 तक की दो सौ वर्षों की लंबी अवधि में उसी प्रकार का साहित्य रचा गया—सामंतवाद के विकृतरूप का पोषक साहित्य, बहुगामिता, विलासप्रियता वैभवप्रियता का पोषक साहित्य। तत्कालीन परिवेश का यह प्रभाव साहित्य-सर्जन तक ही सीमित नहीं रहा, वह साहित्य के रूप विधान पर भी पड़ा। गीतिमुक्तक नाममात्र को और वे भी भक्तिधारा के अंतर्गत आने वाले गिने-चुने कवियों द्वारा ही रचे गए। उनका स्थान पाठ्य-मुक्तकों ने ले लिया। प्रबंध रचे ही नहीं गए, गिने-चुने जो रचे भी गए उनमें साधारणीकरण की क्षमता नहीं थी। वे राजप्रवृत्ति से आगे नहीं जा सके। रस नाम के लिए काव्य की आत्मा बना रहा, किंतु वास्तविक स्थान रीतिप्रियता ने ले लिया। अलंकार-निरूपण और नायिका भेद निरूपण ही सबकुछ बन गया। रीतिकालीन परिवेश का प्रभाव साहित्यकार के मानसिक गठन पर सम्यक् रूप से पड़ा। भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय' की पंक्तियों—'आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई, नतरु राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है'—से तत्समय के काव्यकार के मानसिक गठन का संकेत मिल जाएगा।

अंतर्राष्ट्रीय जनजागृति, अँग्रेजी शिक्षा-दीक्षा और अपने यहाँ ही स्फुरित होने वाली चेतना के परिणामस्वरूप भारतेंदु युग में सर्वथा नवीन प्रकार का परिवेश प्रकट हुआ। शुरुआत में उसका मूलाधार बना समाज-सुधार और फिर यही समाज-सुधार धीरे-धीरे देशप्रेम में परिणत हो गया। इस परिवर्तन ने तत्कालीन साहित्य-सर्जन, साहित्य के रूपविधान और साहित्यकार के मानसिक गठन को प्रभावित किया। उपयोगितावाद जोर पकड़ने लगा। यह काव्य में ही नहीं अन्य साहित्यिक विधाओं—नाटकों, एकांकियों, कहानियों तथा उपन्यासों में भी प्रकट हुआ। काव्यशास्त्र के बंधन शिथिल पड़ने लगे और समाज-सुधार तथा देशप्रेम ही सफलता के निकष हो गए। द्विवेदी युग में उपयोगितावाद अपने उत्कर्ष पर मिलता है। पौराणिक आख्यान, घटनाएँ और पात्रों को फिर से उपस्थित किया गया। वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा सहज-स्वाभाविक बनाने का यत्न-प्रयत्न हुआ। साहित्य के रूपविधान में भी अंतर आया। रस को भले ही सर्वोपरि माना गया, किंतु स्थाईभावों को नए साँचों में ढालने की कोशिश की गई। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कथन—'कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कविता ही के लिए कविता करना एक तमाशा है'—से उपयोगितावाद की तत्कालीन महत्ता का पता लग जाएगा।

इस युग में 'प्रियप्रवास' की राधा अपने नए रंग-रूप-जनसेविका के रूप में सामने आती हैं, जो तत्समय की उपयोगितावाद का परिणाम है। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारतभारती' अपने समय की लोकप्रिय और प्रभावशाली कृति साबित हुई। छायावादी युग में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा और छायावादी धारा साथ-साथ प्रवाहित हुई। गद्य के क्षेत्र में राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा की धूम रही। जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा की काव्य-रचनाओं में छायावाद का सीधा-सीधा प्रभाव पड़ा था। घटना के स्थान पर भाव को महत्ता, स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की प्रतिष्ठा, मर्यादावाद के स्थान पर स्वच्छंदता की महत्ता, प्रबंध के स्थान पर गीति की महत्ता, अमिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना को महत्ता, प्रकृति का अधिकाधिक वर्णन, शृंगार के मानसिक पक्ष का वर्णन, नए-नए प्रयोगों में रुचि, अभिजात का मोह आदि, किंतु राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा में देशप्रेम, राष्ट्रभक्ति तथा समाजसुधार को ही प्रधानता मिली। द्विवेदीयुगीन उपयोगितावाद तो उत्कृष्ट देशप्रेम का रूप धारण करके राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावधारा में प्रकट हुआ और तत्कालीन राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय तथा साहित्यिक वातावरण से उत्पन्न व्यक्तिवाद ने छायावाद का रूप धारण किया। प्रेमचंद ने कहानी तथा उपन्यास के विषय-चयन, रचना-शिल्प तथा भाषा-शैली में क्रांतिकारी दृष्टि का परिचय दिया। निस्संदेह यह दृष्टि तत्समय के परिवेश की उपज थी। तत्समय भाषाप्रेम, देशप्रेम, ग्रामीणों के प्रेम, दीन-दलितों के प्रेम तथा नारी-स्वातंत्र्य की देन थी। 'गोदान' के खुर्शीद का कथन 'मेरा वश चले तो मैं आग लगा दूँ। जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं, व्यवहार में वह बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजीमार ले जाता है, जिसके पास रूपए हैं'-एक ओर तो तत्कालीन समाज की देन और दूसरी ओर आज के युग के लिए भी सच है।

सन् 1935-36 के आस-पास देश के वातावरण में क्रांतिकारी बदलाव आया। सुभाषचंद्र बोस के उग्रतावादी आंदोलन के कारण, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में तानाशाही के विरुद्ध जन्म लेने वाली प्रतिक्रिया के कारण और रक्तिम क्रांति के उपरान्त स्थापित हुई रूसी सरकार की नई-नई सफलताओं के कारण चहुँ ओर एक विशेष प्रकार का वातावरण बन गया। प्रगतिवाद इसी वातावरण की उपज था। उसने तत्समय के साहित्य, साहित्य के रूप विधान तथा साहित्यकारों के मानसिक गठन को पूरी-पूरी तरह प्रभावित किया। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल तथा रांगेय राघव के तत्कालीन उपन्यास उसी की सीधी देन हैं। काव्य के क्षेत्र में उसका प्रभाव सीमित रूप में पड़ा। पुराने कवियों में तो पंत और निराला उससे प्रभावित हुए और बाद के कई नए कवियों का भी उसे समर्थन मिला-नरेंद्र शर्मा तथा भगवतीचरण वर्मा की तत्कालीन कितनी ही कविताएँ, रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अंचल' का संपूर्ण काव्य, केसरी का समूचा काव्य। साहित्य के रूप-विधान को भी नया मोड़ देने की कोशिश की गई। साहित्य के सामाजिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया। इस दिशा में डॉ॰ रामविलास शर्मा और डॉ॰ नामवर सिंह का नाम अग्रगण्य है। साहित्यकारों के मानसिक गठन पर यह प्रभावना हुई कि छायावादी अस्पष्टता, दुरूहता, वायवीपन तथा रुग्ण शृंगारिकता का परित्याग कर साहित्यिकों में साहित्य की सामाजिक उपयोगिता, शोषित वर्ग से संबंधित उपयोगिता के महत्त्व को भी पहचाना और अपनी रचनाओं में उस महत्ता को अधिकता के साथ मूर्त करना चाहा। सन् 1950 के आस-पास के परिवेश का भारत के साहित्यिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक-आर्थिक जीवन में महनीय स्थान है। संपूर्ण देश का वातावरण

अभिनव मोड़ लेता दिखाई पड़ता है। इस स्थिति में भारतीय जनता को स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय देखे स्वप्नों की निरर्थकता का पता पहली बार लगा और उसमें औद्योगीकरण, महानगरीकरण तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार के सर्वव्यापी रूप के सम्मुख अपने को खड़ा पाया। राजतंत्र पर ज्यों-ज्यों उद्योगपतियों की पकड़ पक्की होती गई, त्यों-त्यों जनता स्वयं असहाय होती गई। धन, पद और शक्ति के लिए जो आपाधापी मची, उसने जनसमुदाय को निर्जीव, निस्प्राण और संज्ञाहीन-सा कर दिया। व्यक्ति को इस परवशता और असहायता का बोध होता गया और उसका मानसिक गठन बदलता गया। विषाद और व्यंग्य ने उसके चित्र में घर कर लिया। सभी जीवनमूल्य बदलते दिखाई पड़े। इसका प्रभाव सन् 1950 से लेकर आज तक की साहित्य-सर्जना पर पड़ा और पड़ रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य, साहित्य के रूपविधान तथा साहित्यकार के मानसिक गठन में सतत क्रांतिकारी बदलाव होते रहे हैं। कविता के क्षेत्र में अभिनव आंदोलन-प्रयोगवाद, नकेनवाद, नई कविता, अकविता, विचार कविता और हाइकू आदि सामने आए और आ रहे हैं। ये इसी संकटबोध का फल है। व्यक्ति प्रत्येक प्रकार की विभीषिका, विडंबना और कारण को जानना चाहता है। भेड़ की तरह निर्निमेष खड़े रह जाना उसे स्वीकार्य नहीं है। कहानी के क्षेत्र में भी कितने ही आंदोलन सामने आए और आ रहे हैं—नई कहानी, आंचलिक कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी आदि। समाज के वर्तमान स्वरूप का प्रभाव साहित्य-सर्जना पर ही नहीं, साहित्य के रूपविधान पर भी पड़ा है। काव्यरूप बदल गए हैं। महाकाव्य रचे ही नहीं जा रहे हैं। खंडकाव्य सामने आ रहे हैं। पद रचना लुप्त हो गई है। गीत रचे जा रहे हैं। फुटकल रची जाने वाली कविताओं के विषय, बिंब, प्रतीक, उपमान, शब्दावली तथा अर्थभंगिमाएँ सभी में बदलाव आ चुका है। साहित्यकारों के मानसिक गठन में बदलाव आया है। उनका झुकाव रूपवाद की ओर अधिक है। साधारणीकरण की ओर कम है। इसलिए साहित्य की सामाजिक महत्ता को ठेस पहुँची है। आज के साहित्य का समाज पर जो कुछ प्रभाव पड़ा और पड़ रहा है, यह तो आने वाला समय बता सकेगा, किंतु उससे संबंधित कुछ निशान अवश्य ही देखने को मिल जाते हैं।

इस प्रकार समाज और साहित्य दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। साहित्य और समाज के सूक्ष्म सूत्रों की अंतःप्रक्रिया को सम्यक् रूप से प्रस्तुत करना दुष्कर है और निर्भ्रांत मूल्यों की स्थापना अभी नहीं हो पाई है।

मंगलकलश,
394, सर्वोदयनगर
आगरा रोड, अलीगढ़ 202001 (उ०प्र०)
दूरभाष : 0571-2410486

पूर्वोत्तर भारत में हिंदी

प्रो० महावीरसरन जैन

स्वतंत्रता के बाद उत्तरपूर्वीय क्षेत्र को असम राज्य के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया। सन् 1960-70 में नागालैण्ड, मेघालय और मिजोरम राज्यों का गठन किया गया। वर्तमान में पूर्वोत्तर भारत से सात बहनों के नाम से प्रसिद्ध निम्न सात राज्यों का बोध होता है—

राज्य का नाम	राज्य की राजधानी का नाम
अरुणाचल प्रदेश	ईटानगर
असम	दिसपुर (गुवाहाटी का भाग)
मणिपुर	इम्फाल
मेघालय	शिलांग
मिजोरम	आइजवाल
नागालैण्ड	कोहिमा
त्रिपुरा	अगरतला

उत्तरपूर्वीय क्षेत्र में सन् 1947 ईस्वी में सिक्किम की स्थिति भारतीय संरक्षित राज्य की थी। सन् 1975 से यह भारत का पूर्ण राज्य है। इन आठ राज्यों के विकास के लिए सन् 1971 में केन्द्रीय संस्था के रूप में पूर्वोत्तर परिषद (North Eastern Council) के गठन के बाद से भारत सरकार ने इस क्षेत्र में हिंदी की प्रगति के लिए प्रभावी योजना बनाना आरंभ किया।

इन राज्यों में सेना, सुरक्षा से जुड़े हुए जवान, व्यापार के लिए हिंदीभाषा क्षेत्र से जाकर इन राज्यों में बस जानेवाले व्यापारी, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से काम के सिलसिले में इन राज्यों में काम करनेवाले मजदूरों के कारण यहाँ हिंदीभाषा का प्रचार-प्रसार हुआ। असम के न्यू बोगाई-गाँव नामक जनपद मुख्यालय में बीसवीं सदी के अंतिम दशक में 31 वीं वाहिनी पी० ए०सी० के सेनानायक डॉ० अजितकुमार सिंह ने पूर्वोत्तर भारत में हिंदी के प्रयोग एवं व्यवहार के संबंध में अपने अनुभव इस प्रकार व्यक्त किए हैं—

‘पूर्वोत्तर भारत में राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति लगाव में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। बोगाई-गाँव, कोकराझार, धुबरी, रंगिया, गोहाटी एवं शिलांग में ही नहीं वरन् दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्रों में भी हिंदी बोलनेवाले और समझनेवाले पर्याप्त संख्या में मिले।... पूर्वोत्तर भारत में हिंदी समझने एवं जानने वाले तथा बोलने वाले की संख्या पर्याप्त है। हमारी वाहिनी के कर्मचारीगण जो मात्र हिंदीभाषी थे, वे दूरस्थ वन क्षेत्रों तक में नियुक्त थे। बाज़ार से सामान क्रय करने एवं एक दूसरे की भावनाओं के आदान-प्रदान में उन्हें कहीं भी निराश नहीं होना पड़ा।’ (पूर्वोत्तर भारत का इतिहास, पृष्ठ 1, सदानारा प्रकाशन, लखनऊ (1998))

पूर्वोत्तर राज्यों में हिंदी के प्रचार एवं प्रसार में केन्द्रीय हिंदी संस्थान का योगदान भी उल्लेखनीय है। संस्थान के तीन केंद्र गोवाहाटी, शिलांग तथा दीमापुर में स्थित हैं। ये तीनों केंद्र

अपने-अपने कार्यक्षेत्रों के राज्यों में हिंदी के प्रचार एवं प्रसार के विशेष कार्यक्रम चलाते हैं तथा विशेष रूप से हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के क्षेत्र में कार्यरत हिंदी अध्यापकों के लिए आवश्यकतानुसार एक सप्ताह से लेकर चार सप्ताहों के लघु अवधीय नवीकरण पाठ्यक्रमों का संचालन करते हैं। इन पाठ्यक्रमों में प्राध्यापकों को भाषा-शिक्षण की उन पद्धतियों का ज्ञान कराया जाता है जिनको ध्यान में रखकर वे अपने स्कूलों में उन विद्यार्थियों को हिंदी पढ़ा सकें, जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं है। विशेष रूप से पूर्वोत्तर के विद्यार्थियों को हिंदी सीखते समय किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तथा उनकी कठिनाइयों का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है। गोवाहाटी के केन्द्र का कार्यक्षेत्र असम, अरुणाचल प्रदेश एवं सिक्किम राज्य हैं। शिलांग के केंद्र का कार्यक्षेत्र मेघालय, त्रिपुरा एवं मिजोरम राज्य हैं। दीमापुर के केंद्र का कार्यक्षेत्र नागालैण्ड एवं मणिपुर राज्य हैं। संस्थान 'समन्वय पूर्वोत्तर' शीर्षक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन करता है जिसमें पूर्वोत्तर भारत के राज्यों के लेखक अपने-अपने राज्य में प्रचलित लोककथाओं, लोकगीतों आदि का हिंदी में अनुवाद कर रहे हैं तथा मौलिक सर्जन भी कर रहे हैं। इसका दूरगामी परिणाम यह होगा कि वे अपने-अपने क्षेत्र की जनभाषा को देवनागरी लिपि में लिखने के अभ्यस्त हो जाएंगे।

अब हम कुछ राज्यों के संदर्भ में हिंदी की स्थिति पर विचार करेंगे।

1. मणिपुर में हिंदी

मणिपुर में 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' की ओर से सन् 1928 ईस्वी से हिंदी का प्रचार-कार्य शुरू हो गया था। कुछ वर्षों बाद यहाँ 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा' ने अपनी शाखा खोल दी। यहाँ इम्फाल में के हिंदी-प्रेमियों ने मिलकर 07 जून, सन् 1953 ईस्वी को 'मणिपुर हिंदी परिषद' की स्थापना की। इसकी स्थापना के लिए श्री मणिस्ना शर्मा शास्त्री की पहल पर बुलाई गई बैठक में हिजम विजयसिंह, नीलवीर शास्त्री, भागवतदेव शर्मा, चंद्रमणिसिंह आदि उपस्थित थे। मणिपुर की दूसरी संस्था का नाम 'मणिपुर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' है। दिनांक 12 अक्टूबर, सन् 1998 ईस्वी को इस संस्था ने हमें सम्मानित किया। इस कारण हमें इस संस्था की गतिविधियों, मणिपुर के हिंदी-प्रेमियों तथा मणिपुर में हिंदी के व्यवहार की स्थिति को नजदीक से देखने, जानने, परखने का अवसर प्राप्त हुआ।

मणिपुर के प्रमुख हिंदी प्रचारक और हिंदीसेवी

1. लाइयुम ललित माधव शर्मा, 2. टी०वी० शास्त्री, 3. फु० गोकुलानंद, 4. एन० तोम्बीसिंह, 5. हेमाम नीलमणि सिंह, 6. अरिबम पंडित राधामोहन शर्मा, 7. क० हिमाचार्य शर्मा, 8. एस० नीलवीर शर्मा शास्त्री, 9. अरिबम घनश्याम शर्मा 10. राधागोविंद थोडाम, 11. कालाचौंद शास्त्री, 12. नंदलाल शर्मा 13. नवीन चाँद, 14. सिजगुरुमयुम, 15. लाइमयुम नारायण शर्मा, 16. फिराइलात्पम पंडित जगदीश शर्मा, 17. द्विजमणि देव शर्मा।

नागालैण्ड में हिंदी

नागालैण्ड के प्रमुख हिंदीसेवक ब्रजबिहारी कुमार हैं। नागालैण्ड के लिए सन् 1992 से सन् 1998 की अवधि में केंद्रीय हिंदी संस्थान ने हिंदी शिक्षण डिप्लोमा पाठ्यक्रम की पाठ्य-पुस्तक का संशोधन एवं परिवर्द्धन करके उसकी पांडुलिपि प्रकाशन के लिए नागालैण्ड सरकार को सौंप दी। नागालैण्ड शिक्षा बोर्ड की कक्षा 9 से कक्षा 10 की हिंदी पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का कार्य किया। श्री के० फ्योखामो लोथा को 'हिंदी-अँग्रेजी-लोथा शब्दावली और शब्दकोश'

बनाने के लिए प्रेरित किया तथा कार्य संपन्न होने पर उसको प्रकाशित करने के प्रति सहमति व्यक्त की। उक्त पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। हिंदी-अंगामी द्विभाषी शब्दकोश प्रकाशित हो चुकी है। हिंदी-प्रचार के लिए 'नागालैंड राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' कार्यरत है। नागालैंड में अनेक जनभाषाएँ बोली जाती हैं। इन समस्त जनभाषाओं एवं असमिया तथा हिंदी के मेल-जोल से तैयार समन्वित भाषा का चलन बढ़ रहा है, जिसको नागालैंड के लोग 'तेजीदिए' के नाम से पुकारते हैं और जिसको अँग्रेजी के ग्रंथों की देखा-देखी 'नागामीज' कहा जाता है। इसमें मौसम, प्रार्थना, अंग आदि अनेक हिंदी-शब्दों का प्रयोग होता है तथा हिंदी-फिल्मों के संवादों तथा गानों में प्रयुक्त शब्दों का चलन बढ़ता जा रहा है। केंद्रीय हिंदी संस्थान नागालैंड के हिंदी-अध्यापकों के लिए सन् 1972 से विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित कर रहा है, जिसमें प्रति वर्ष नागालैंड से बीस से तीस हिंदी-अध्यापक आगरा आते हैं तथा प्रशिक्षण के बाद आगरा से अपने यहाँ 'हिंदी के राजदूत' बनकर लौटते हैं। धीरे-धीरे नागालैंड के अंगामी, रंगमा, लोथा, चाखेसाड, फोमा आदि जनभाषाओं के बोलनेवाले देवनागरी लिपि को अपना रहे हैं।

मिजोरम में हिंदी

मिजोरम में श्री दारछोना ने हिंदी के प्रचार का कार्य शुरू किया। मिजोरम के हिंदी सीखनेवालों की सुविधा के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान ने सन् 1998-99 सत्र में हिंदी-लुशाई शब्दकोश के निर्माण का कार्य संपन्न किया। यह प्रकाशित हो चुका है। संस्थान ने मिजोरम राज्य की कक्षा 5, 6, 7 तथा 8 की पाठ्यपुस्तकों का संशोधन कार्य संपन्न किया है तथा उनकी पांडुलिपि राज्य सरकार को सौंप दी है। मिजोरम की डॉ० इंजीनियरी जेनी संस्थान में हिंदी की प्रोफेसर हैं तथा इन्होंने 'पूर्वाचलीय हिंदी साहित्य' पर शोधकार्य किया है तथा इनका हिंदी-मिजो-शब्दकोश प्रकाशित हो चुका है। हिंदी के प्रचार की संस्था का नाम 'मिजोरम हिंदी प्रचार सभा, आइजोल' है। आर०एल० थनमोया एवं ललथलमुआनो हिंदी-मिजो परियोजना पर कार्य कर रहे हैं।

मेघालय में हिंदी

संस्थान ने सन् 1976 में अपना शिलांग केंद्र खोला। हमने निदेशक के रूप में फरवरी, सन् 1995 ई० में इस केन्द्र का संदर्शन किया तथा मेघालय, त्रिपुरा एवं मिजोरम राज्यों में हिंदी की स्थिति का साक्षात्कार किया। हिंदी-खासी द्विभाषी कोश प्रकाशित है। संस्थान ने मेघालय के सरकारी स्कूलों के कक्षा 5 से 7 तक की पुस्तकों का निर्माण किया है। यहाँ की दो प्रमुख भाषाओं-खासी तथा गारो-का हिंदी से व्यतिरेकात्मक विश्लेषण का कार्य हो रहा है। इससे खासी भाषी तथा गारो भाषी विद्यार्थियों के लिए हिंदी-प्रशिक्षण सामग्री और अधिक वैज्ञानिक ढंग से बनाई जा सकेगी। संस्थान ने मेघालय राज्य की कक्षा 5, 6, 7, 8 की पुस्तकों का निर्माण किया है। आशा है अब तक 'हिंदी-खासी-गारो-अँग्रेजी बाल-शब्दकोश' बन चुका होगा। प्रोफेसर एस० लमारे एवं श्रीमती जीन एस० इखार हिंदी-खासी परियोजना पर कार्य कर रहे हैं।

त्रिपुरा में हिंदी

त्रिपुरा के हिंदी प्रचारकों में रमेशकुमार पाल का नाम उल्लेखनीय है। डॉ० नरेंद्रदेव वर्मा तथा खोमतियादेव वर्मा हिंदी-कॉकबराँक परियोजना पर कार्य कर रहे हैं।

सेवानिवृत्त निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान
123, हरि एन्कलेव, चाँदपुर रोड
बुलंदशहर (उत्तर प्रदेश) 203001

संत दादूदयाल के काव्य में सामाजिक समरसता

डॉ० संतराम वैश्य

मध्यकालीन हिंदी संतकवियों में दादूदयाल जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अपने युग के महान साधक थे। कबीरदास जी की तरह इन्हें भी जनमानस में अपार लोकप्रियता प्राप्त हुई। सादगी, सरलता और सौम्यता दादूदयाल जी की प्रमुख विशेषताएँ हैं। महान रचनाकार अपने कर्तृत्व से पूरे युग को प्रभावित करते हैं। संत दादूदयाल भी उन बिरले पुरुषों में हैं, जिन्होंने अपने युग को बदलने का कार्य किया।

संत दादूदयाल जी विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे। इन्होंने स्वानुभूति और सत्संग द्वारा ज्ञान अर्जित किया था। ये समाज के निचले वर्ग से आए थे। युगीन सामाजिक विषमता को इन्होंने निकट से देखा और अनुभव किया था। सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों तथा साधना संबंधी मिथ्याचारों के कारण हो रहे सामाजिक पतन के ये प्रत्यक्षदर्शी थे। कबीरदास जी की तरह संत दादूदयाल जी ने समाज को बदलने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कबीरदास जी की तरह इन्होंने भी सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों और मिथ्याचारों पर आघात किया। पर इनकी वाणी में कठोरता नहीं, अपितु कोमलता थी।

संत दादूदयाल जी की वाणी में सर्वत्र सामाजिक समरसता के दर्शन होते हैं। अन्य संत कवियों की तरह दादूदयाल जी ने भी समाज को जोड़ने का कार्य किया। मानव-मानव में एकता की स्थापना इनका मुख्य लक्ष्य रहा है। दादूदयाल की दृष्टि में यह एकता प्रेम और सद्भाव के द्वारा स्थापित हो सकती है। उन्हीं के शब्दों में—

दादू पाती प्रेम की, बिरला बाँचे कोइ।
वेद पुराण पुस्तक पढ़े, प्रेम बिना क्या होइ।

प्रेम की महत्ता को प्रायः सभी संत-भक्तकवियों ने स्वीकार किया है। बिना प्रेम के ईश्वर तक पहुँचना संभव नहीं है।

भगवत-प्रेम की प्राप्ति के लिए मानव-प्रेम परमावश्यक है, क्योंकि प्रेम से ही प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम से ही परमात्मा तक पहुँचा जा सकता है। सूरदास के शब्दों में 'प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम ते पारहि पड़ये'। जायसी के शब्दों में 'मानुष प्रेम भयेउ बैकुंठी। नाहि त काह छार एक मूँठी।' समाज वही श्रेष्ठ है, जिसमें प्रेमभाव, दयाभाव और भक्तिभाव हो। जिस समाज में यह सब न हो, वहाँ जाना व्यर्थ है—

दादू भावहीन जे पिरथवी, दया बिहूणा देस।
भगति नहीं भगवंत की, तहँ कैसा परवेस।

दादूदयाल की दृष्टि में प्रेम-पियाले का राम-रस ही समस्त धर्मों में एकता की स्थापना

कर सकता है। अतः जीव को इसी को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। एक क्षण के लिए भी जिसने इस प्रेमरस का पान कर लिया, उसका जीवन धन्य हो गया, जिसे नहीं मिला उसका जीवन व्यर्थ है—

कोटि बरस क्या जीवना, अमर भए क्या होय।

प्रेम भक्तिरस राम-बिनु क्या दादू जीवन सोय।

दादूदयाल जी कहते हैं कि हे प्रभु मेरी तो केवल प्रेम-पियाले में रामरस की ही कामना है, जो भोग या ऋद्धि-सिद्धि चाहते हैं, उन्हें तो आप वही प्रदान करो—

प्रेम-पियाला राम रस, हमको भावै एह।

रिधि-सिधि माँगे मुक्ति फल, चाहे तिनको देह।

मनुष्य को अपने जीवन का एक निश्चित लक्ष्य बनाना चाहिए। इसी में उसकी सफलता है। दादूदयाल जी की दृष्टि में अहंकार का त्याग, भगवद्भजन, शरीर और मन के विकारों का परिमार्जन तथा समस्त जीवों के प्रति मैत्री या निर्वैरता का भाव यही जीवन का सार है—

आपा मेटै हरि भजै, तन-मन तजै विकार।

निर्वैरी सब जीव सँ, दादू यह मत सार।

व्यक्ति का आचरण साधु जैसा होना चाहिए। साधु के स्वभाव का वर्णन कबीरदास जी ने इन शब्दों में किया है—

साधू ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाया।

सार-सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाया।

दादूदयाल की दृष्टि में साधु वह है, जो विष को अमृत कर सके, आग को पानी बना सके, बाँके को सीधा कर सके, अपूर्ण को पूर्ण कर सके, खारे को मीठा कर सके, बँधे हुए को मुक्त कर सके, उलझे हुए को सुलझा सके, शत्रु को मित्र बना सके, काँच को कंचन कर सके तथा मैले को निर्मल कर सके—

विष का अमृत कर लिया, पावक का पानी।

बाँका सूधा कर लिया, सो साधु बिनानी।

ऊरा पूरा कर लिया, खारा मीठा होय।

फूटा सारा कर लिया, साधु विवेकी होय।

बंध्या मुक्ता कर लिया, उरझ्या सुरझि समान।

बैरी मीता कर लिया, दादू उत्तम ज्ञान।

झूठा साँचा कर लिया, काँचा कंचन सार।

मैला निर्मल कर लिया, दादू ज्ञान विचार।

दादूदयाल जी ऐसे ही संत थे। इन पंक्तियों में उन्होंने अपना जीवन-दर्शन प्रस्तुत कर दिया है। उन्होंने खारेपन को मिठास से भर दिया है। उनकी वाणी जल की तरह शीतल है। उसमें कहीं भी चुनौती, ललकार या आक्रोश नहीं है। वे अपनी बात बड़े ही विनीत और शिष्ट ढंग से कहते हैं।

डॉ० वासुदेव शर्मा के शब्दों में—‘दादू ने रूढ़ियों के खंडन-मंडन में भी उतना आग्रह

और तीव्रता का आभास नहीं दिया, जितना कबीर ने। जहाँ कहीं उन्होंने बाह्याचार एवं प्रदर्शन का विरोध और उसकी निरर्थकता सिद्ध की है, वहाँ उसमें यथासाध्य अनुभूति और अर्थ को व्यक्त करने की इच्छा लक्षित होती है, किसी के विरोध की आकांक्षा नहीं।¹

दादूदयाल की दृष्टि में संसार के सभी प्राणी परमात्मा के बनाए हुए हैं। सभी में परमात्मा का अंश समाया हुआ है। हिंदू मुसलमान का कोई भेद नहीं है। सभी प्राणी समान हैं, जैसे धरती, जल और आकाश। दादू कहते हैं कि धरती, आकाश, पानी, हवा, दिन, रात, चाँद और सूरज ये किसके पंथ में आते हैं? हिंदू के या मुसलमान के?

दादू ये सब किसके पंथ में धरती अरु असमान।

पाणी पवन दिन-रात का चंद-सूर रहिमान।

लोगों ने ब्रह्म को खंड-खंड कर बाँट लिया है और अपने-अपने पक्ष में कर लिया है—

खंड-खंड करि ब्रह्म कूँ पषि पषि लीया बाँटि।

दादू पूरण ब्रह्म तजि बँधो भ्रम की गाँठि।

इसीलिए वे कहते हैं कि इस तरह की मिथ्या धारणा का त्याग कर दो। हिंदू और तुरक दो नहीं हैं। साईं सबका एक है जो जल में, थल में, कीट-पतंग में सबमें व्याप्त है—

हिंदू तुरक न जानौं दोई।

साईं सबनि का सोइ हेरे, और न दूजा देखे कोई।

कीट-पतंग सबै जोनिन मैं, जल-थल संगि समाना सोई।

दादू जी कहते हैं कि हमने भली प्रकार विचार करके देख लिया है कि संसार के सभी मनुष्य एक हैं। उनमें कोई भेदभाव नहीं है। सबमें एक ही आत्मा निवास करती है, वह चाहे हिंदू हो या मुसलमान—

हम सब देख्या सोधि करि, दूजा नाँहीं आन।

सब घट एके आत्मा, क्या हिन्दू मुसलमान।

डॉ० रवींद्रकुमार सिंह के अनुसार—‘दादू की दृष्टि में हिंदू और मुसलमान दोनों एक ही कमल के दो दल हैं, एक ही देश की दो आँखें हैं, एक सागर की दो लहरें हैं। अतः उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जिसमें दोनों धर्मों के लोग प्रेम, सहयोग और आदर के साथ, एक परिवार के सदस्यों की भाँति रह सकें। इसीलिए जो लोग हिंदू-मुसलमान एकता के व्रत में दीक्षित हैं, वे भी कबीर की भाँति दादूदयाल को अपना मार्गदर्शक मानते हैं।² दादू कहते भी हैं—

दादू दून्यू भाई हाथ पग, दून्यू भाई कान।

दून्यू भाई नैन द्वै, हिंदू-मुसलमान।

दादू कहते हैं कि आपस की मार-काट अच्छी नहीं है। तुम जिसे मारने के लिए जाओगे, वह भी तुम्हें मारने के लिए दौड़ेगा। यदि मारना ही है तो अपने अंदर के अहंकार को मारो। बिना अहंकार को मारे ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती—

आपस कूँ मारे नहीं, पर कूँ मारण जाइ।

दादू आपा मारे बिना, कैसे मिलै खुदाइ।

जो लोग हिंदू-मुसलमान अथवा राम-रहीम में भेद करते हैं दादू उनसे सहमत नहीं हैं।

वे कहते हैं कि सच्चा साधु तो इन भावों से ऊपर होता है—

दादू करणी हिंदू तुरक की, अपणी-अपणी ठौर।

दुहुँ बिच मारग साधु का, यहु संतों की रह और।

वास्तव में दादू सच्चे मानववाद के प्रतिष्ठापक थे। सांप्रदायिक भेदभाव एवं धार्मिक कट्टरता के लिए उनके मत में कोई जगह नहीं है। सब जीव एक ही परमात्मा के बनाए हुए हैं। सबमें एक ही आत्मा का निवास है, वर्ण तो काया का गुण है—

जब पूरण ब्रह्म बिचारिये, तब सकल आतमा एक।

काया के गुण देखिए, तो नाना वरण अनेक।

दादू की दृष्टि में ईश्वर एक है और वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। चाहे उसे राम कहकर पुकारो या अल्लाह कहकर। हिंदू-मुसलमान का भेद मिथ्या है। एक ही ईश्वर सब जीवों में वास करता है—

दादू नारि पुरिष का नांव धारि, इहि संसे भ्रमि भुलान।

सब घटि एके आतमा क्या हिंदू मुसलमान।

ब्रह्म के निर्गुण रूप में विश्वास करने के कारण दादू प्रतिमा-पूजन में विश्वास नहीं रखते। इसीलिए उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध एवं देवतावाद का खंडन किया है—

ब्रह्मा का वेद विष्णु की मूर्ति, पूजै सब संसारा।

महादेव की सेवा लागै, कहाँ है सिरजनहारा।

कबीरदास जी की भाँति दादू जी ने भी अपने काव्य में पत्थर-पूजन का विरोध किया है। उनकी ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

दादू जिन कंकर पत्थर सेविया, सो अपना मूल गँवाइ।

अलख देव अंतरि बसै, क्या दूजी जागह जाइ।

पत्थर पीवैं धाड़ करि, पत्थर पूजै प्राण।

अंतिकाल पत्थर भए, बहु बूड़े एहि ज्ञान।

कंकर बंध्या गाँठड़ी, हीरे के बेसास।

अंतिकाल हरि जौहरी, दादू सूत कपास।

कबीर की भाँति दादू ने तीर्थों की महत्ता को भी अस्वीकार किया है। वे कहते हैं कि लोग कितने अज्ञानी हैं, जो ईश्वर को ढूँढने के लिए द्वारिका, काशी और मथुरा जाते हैं। ईश्वर तो घर के अंदर ही है, उसे वहीं खोजना चाहिए—

दादू केई दौड़े द्वारिका, केई कासी जाहिं।

केई मथुरा कौं चले, साहिब घट ही माँहि।

दादू ने बाह्याचारों का भी स्थान-स्थान पर खंडन किया है। उनकी दृष्टि में परमात्मा की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार का वेश धारण करने की आवश्यकता नहीं है। भेष आदि की व्यर्थता बताते हुए दादू ने कहा है—

जे तू समझै तौ कहाँ साँचा एहि अलेष।

डाल पात तजि मूल गहि, क्या दिखलावै भेष।

सब दिखावै आप कूँ नाना भेष बनाइ।

जहाँ आपा मेटन हरिभजन, तेहिं दिसि कोइ न जाइ।

दादू की दृष्टि में परमात्मा की प्राप्ति के लिए पुस्तकीय ज्ञान का होना आवश्यक नहीं है। उनके समय तक पुस्तकीय ज्ञान पर केवल उच्च वर्णों का ही एकाधिकार था। निम्न जातियों के लिए तो एक तरह से शिक्षा का निषेध ही था। दादू ने इसीलिए पुस्तकीय ज्ञान की उपेक्षा की है—

दादू केते पुस्तक पढ़ि मुए, पंडित वेद पुरान।
केते ब्रह्मा कथि गए, नाहिन राम समान।
दादू पंडित निबरे नाव बिन, झूठे कथै गियान।
बैठे सिर खाली करै, पंडित वेद पुरान।

जाति-पाँति के भेदभाव को मिटाने में दादू आदि संतों का योगदान सराहनीय है। सामाजिक समरसता स्थापित करने की दिशा में किया गया यह इनका महत्वपूर्ण प्रयास था।

डॉ० रवींद्रकुमार सिंह के शब्दों में, 'दादू ने जाति-पाँति से खंडित हो रही मानवता की रक्षा की। दादू मात्र यह चाहते थे कि मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी अर्थ, पद या वंश न होकर शुद्ध रूप से कर्म होना चाहिए। क्या इतना ही काफी नहीं है कि कोई मनुष्य है, और मनुष्य से बड़ा जगत में और क्या है? इस प्रकार नए मानवमूल्यों की स्थापना के लिए क्रांति के इस युग में दादू का काव्य अपनी पूर्ण सार्थकता के साथ हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है।'³

दादू समाज में ऊँच-नीच के भेदभाव तथा वर्ण-व्यवस्था को समूल नष्ट करना चाहते थे। उनकी दृष्टि में सामाजिक पतन के ये ही दो मुख्य कारण थे। इस व्यवस्था के कारण ही समाज का एक वर्ग नारकीय जीवन जीने को विवश था। दादू ने बहुत ही सीधे और सरल शब्दों में अपनी बात रखकर सामाजिक एकता की दिशा में सार्थक प्रयास किया। उन्होंने बहुत ही विनम्र भाव से ऊँच-नीच के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किए—

दादू सम करि देखिए, कुंजर कीट समान।
दादू दूबध्या दूरि करि, तजि आपा अभिमान।
परमात्मा सबमें व्याप्त है, उसके लिए न कोई ऊँच है, न नीच—
दादू सब रंग रंगि रहया, दूजा कोई नाहिं।
सब रंग तेरे ही रंगे, तू ही सब रंग माहिं।

जाति या वर्णगत भेदभाव रखकर किसी को दुःख पहुँचाना घोर पाप है। सबमें उसी साईं का निवास है, सबमें एक ही आत्मा है—

काहै कौं दुख दीजिए, साईं है सब माहिं।
दादू एके आत्मा, दूजा कोई नाहिं।

दादू का यह समत्व दर्शन अथवा सामाजिक समरसता का सिद्धांत आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना उस युग में था। दादू के इस व्यावहारिक दर्शन की उपयोगिता जितनी उस युग में थी, उतनी आज भी है।

डॉ० बलदेव वंशी के शब्दों में—'वर्तमान युग जितना अधिक विसंगतियों, वेदनाओं और मानवीय संकटों से भयभीत करने वाला हो रहा है, दादू उतने अधिक प्रिय और अनिवार्य होते जा रहे हैं।'⁴

दादू के काव्य की महत्ता इस बात में है कि उसमें मानव-मात्र की एकता का संदेश निहित है। जो सामाजिक मान्यताएँ या विश्वास इस एकता को खंडित करते हैं, दादू ने उनसे बचने या उनके निराकरण की बात की है। इस क्रम में जहाँ कहीं वे खंडन की बात करते हैं, वहाँ उनका लक्ष्य समाज-विरोधी कतई नहीं है। वहाँ वे यह बतलाना चाहते हैं कि इस धरती के सभी मनुष्य एक हैं। अतः मिलकर रहो। स्वयं जियो और दूसरों को भी जीने दो। अपने-पराए का भेद त्याग दो। सब एक ही ईश्वर की संतान हैं। सबमें उसी का नूर समाया हुआ है। अतः संसार के सभी प्राणियों में उसी का दर्शन करो। सुख-दुःख को समान भाव से देखो। सुख में घमंड न करो, दुःख में घबराओ नहीं। दोनों में सम भाव रखो। यही जीवन का सार होना चाहिए।

संत दादूदयाल के काव्य में निहित सामाजिक समरसता का यह संदेश ही उनके काव्य को कालजयी बनाता है। उनके काव्य की अमरता का यही रहस्य है।

संदर्भ

1. संत कवि दादू और उनका पंथ, डॉ० वासुदेव शर्मा, शोधप्रबंध प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण दिसंबर 1969 ई०, पृ० 146
2. दादू काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, रवींद्रकुमार सिंह, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 110002, प्रथम संस्करण 1988, पृ० 63
3. दादू काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, रवींद्रकुमार सिंह, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 110002, प्रथम संस्करण 1988, पृ० 67-68
4. संत कवि दादू, संपा० बलदेव वंशी, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, 31, प्रथम संस्करण, फरवरी 2000, पृ० 14

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार 249404 (उत्तराखंड)

प्रभा खेतान : नारीमुक्ति व स्वतंत्र्य की अभिप्रेरक

कु० अंजु शर्मा

प्रस्तावना

प्रभा खेतान ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री-मुक्ति के विभिन्न रूप पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने मारवाड़ी समाज में सदियों से चले आ रहे पीढ़ी-दर-पीढ़ी लागू एक पेचिदा तंत्र की ताकत को मात्र दर्शक बनकर देखा ही नहीं वरन् बतौर वक्ता माँ, बेटी, बहू, पत्नी आदि विभिन्न रूपों में भाग लेकर स्त्री के भोगे हुए सच एवं अनुभूति पति-पत्नी के बनते बिगड़ते हुए रिश्तों साथ ही मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग की मानसिकता पूर्वाग्रह अंतर्विरोधियों तथा उनके जीवन में निरंतर चलने वाले संघर्षों, तनावों, कुंठाओं को अपने उपन्यासों में चित्रित किया है।

उनके प्रत्येक उपन्यास के अंत में हम पाते हैं कि उनके उपन्यासों का मूल नारी-वेदना ही है। जहाँ उपन्यास की नायिका मूक रहकर अन्याय सहने की अपेक्षा उससे मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। उनके उपन्यासों में स्त्री-मुक्ति हेतु निम्नलिखित तथ्यों को उजागर किया गया है।

नारी-शिक्षा

प्रभा जी का जन्म एक मारवाड़ी समाज में हुआ था जहाँ नारी को आरंभ से ही कोमलता, भावुकता, क्षमाशीलता, सहनशीलता की प्रतिमूर्ति माना जाता था। वहाँ रहकर उन्होंने अनुभव किया कि आवश्यकता पड़ने पर नारी को रणचंडी रूप धारण करने में भी संकोच नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह कोमल भाव मात्र उन्हें सहानुभूति और सम्मान की नजरों से देख सकता है, पर समानांतर खड़ा होने के लिए अपने को मजबूत बनाना ही होगा, जिसमें शिक्षा एक अमूल्य सहयोग प्रदान कर सकती है। शिक्षा के बल पर नारी आवश्यकता पड़ने पर घर की चारदीवारी की कैद से निकलकर स्वतंत्र हो सकती है। उचित कदम उठाकर सही निर्णय लेकर अपनी रक्षा कर सकती है। उन्होंने अपने उपन्यासों की नायिकाओं प्रभा, प्रिया, रमा, सोमा के माध्यम से दर्शाया है कि वर्तमान समय में चिलमन की ओर झाँकने वाली नारी की आवश्यकता नहीं है, उसे स्वतंत्र हो कर समाज के सामने आना चाहिए।

‘छिन्नमस्ता’ की नायिका प्रिया व ‘पीली आँधी’ की नायिका सोमा के जीवन में आए बदलाव का कारण शिक्षा ही है। शिक्षा के माध्यम से प्रिया को व्यापारिक जगत में एक स्वतंत्र पहचान मिलती है, जिसके कारण उसका फोटो प्रसिद्ध पत्रिका इंडिया टुडे में भी निकलता है। ए ग्रेट बिजनेस इंटरप्राइजर मिसेज प्रिया अग्रवाल। प्रिया कहती है, ‘आज मेरा व्यवसाय मेरी आइडेंटिटी है। यह आए दिन की विदेशों की उड़ान, यह मेरी जिंदगी के कैनवास को बड़ा करती

है। नित्य नए लोगों से मिलना-जुलना, जीवन-जगत को समझना। मुझे जिंदगी उद्देश्यहीन नहीं लगती।”

प्रिया की रखैल सास की बेटी नीना भी संघर्ष से जीवन सुखमय बनाने की पक्षधर है। वह कहती है, ‘यदि दुःखी हूँ तो सुख भी अर्जित करूँगी। अपने पैरों पर खड़ी स्त्री का कोई निरादर नहीं कर सकता। भाभी पापा का यों महीने के महीने रुपये देना? मुझे नफरत होती है उनसे। सच कहती हूँ भाभी, ऐसे बुजदिल इंसान से मुझे सख्त नफरत है।”

वहीं सोमा भी अपने पैरों पर खड़ी होकर अपने निर्णय लेती है और विषम परिस्थितियों से जूझती है। सोमा के प्रेमी एवं दूसरे पति सुजीत की पत्नी चित्रा ही सोमा को बी०एड्० की परीक्षा दिलवाती है और फिर कॉलेज की नौकरी। चित्रा सोमा को समझाते हुए कहती है, ‘जो तुम्हारे साथ घटा, वह तुम्हारे साथ या किसी और औरत के साथ घट सकता है। कम-से-कम अपने पैरों पर खड़ी औरत भीख तो नहीं माँगी।”¹³ इस प्रकार प्रभा जी ने अपने उपन्यासों में शिक्षा के महत्त्व को दर्शाया है।

स्त्री-शोषण का विरोध

प्रभा जी को नारी का सब कुछ सहने फिर भी मौन रहनेवाला रूप पसंद नहीं आया है। वह उन्नति की पक्षधर व परिवर्तन की आकांक्षी हैं। वह कहती हैं कि भारतीय नारी जिस पति को परमेश्वर की भाँति पूजती है, परंतु जब उसी पुरुष के द्वारा उसके अहम् को ठेस पहुँचती है तो वह नागिन की रूप धारण करने में भी नहीं हिचकती। इस मनोवैज्ञानिक सत्य-संबंधी अपने विचार को प्रभा जी ने ‘छिन्नमस्ता’ की नायिका प्रिया के माध्यम से व्यक्त किया है। जब प्रिया का पति उसके व्यापार को बर्बाद करा देने की धमकी देता है तो प्रत्युत्तर में वह कहती है, ‘मैं इनकम टैक्स, सेल्स टैक्स, एक्साइज तुम्हारे सारे बखेड़ों का खुले बाज़ार में भंडा फोड़ूँगी और देखती हूँ कि तुम कैसे बचते हो?’

‘ओ, तो बात यहाँ तक पहुँच गई है? क्या यह अच्छा नहीं होगा कि उससे पहले तुम्हारी कबूतर-सी गर्दन मरोड़ दी जाए?’

इस पर प्रिया झल्ला उठती है और कहती है, ‘हाँ क्यों नहीं? कर सकते हो, पर थाने में एफ०आई०आर० करके आई हूँ और मैं मर भी गई नरेंद्र, तो इतना भर समझ लेना, तुम और तुम्हारा अग्रवाल हाउस साबुत नहीं बचेगा।”¹⁴

उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न भी किया है कि कोमल भावनाओं के सहारे जीवन जीने वाली नारी के भीतर प्रतिशोध की ज्वाला धधकती है तब वह चंडी रूप धारण कर लेती है। प्रेम अंधा होता है, किंतु घृणा उससे भी अधिक अंधी और घातक होती है। प्रिया की ननद के मन में अपने पिता के लिए कड़वाहट है, क्योंकि मारवाड़ी समाज में एक पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह अवैध माना जाता है। इसीलिए पिता ने सामाजिक मर्यादा के डर से उनकी माँ को पत्नी होने का हक नहीं दिया। यद्यपि उसकी माँ इसका विरोध नहीं करती, परंतु पिता द्वारा अपनी माँ के हो रहे शोषण के विरुद्ध वह आवाज़ उठाती है। वह कहती है, ‘नहीं जिंदा रहने और अपनी लड़ाई स्वयं लड़ने के लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि हम अपमान और वंचना को भी याद रखें। मुझे आप ये चुप-चुप रहने वाली बातें न सिखलाएँ तो।”¹⁵

इस प्रकार प्रभा जी के उपन्यासों में स्त्री शोषण के विरुद्ध भी संघर्ष दृष्टिगोचर होता है।

अंतर्जातीय विवाह-संबंध

प्रभा जी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से अंतर्जातीय विवाह-संबंध को समर्थन प्रदान किया है। 'धर्मशास्त्र के अनुसार प्रत्येक हिंदू को अपनी जाति में ही विवाह करना होता चाहिए, परंतु एक ही जाति में उपजातियाँ होने के कारण अंतर्विवाह का क्षेत्र इन उपजातियों तक ही सीमित हो गया है। आधुनिकयुग में अंतर्जातीय विवाहों का प्रचलन बढ़ चुका है। इसका कारण पाश्चात्य शिक्षा एवं सहशिक्षा, समानता की धारणा, राष्ट्रीय आंदोलन और आर्यसमाज के प्रभावक तथा वरमूल्य प्रथा का कटु रूप आदि है।'⁶

प्रभाजी ने अपने उपन्यासों में ऐसे मारवाड़ी परिवारों का चित्रण किया है, जो सामाजिक बंधनों में बँधे हुए हैं। जातीयता की भावना आज भी इन परिवारों को बंधनों में बँधे हुए है। विशेषकर इन परिवारों के बुजुर्ग इन रूढ़ियों एवं परंपराओं में इस कदर जकड़े हुए हैं कि किसी भी प्रकार का आधुनिक तर्क उन्हें रूढ़ियों से हटने नहीं देता है। किंतु युगानुरूप उनमें परिवर्तन संभव है। 'पीली आँधी' में प्रभाजी इसका वर्णन करती हैं। सुजीत कायस्थ है, वह बंगाली ब्राह्मण की कन्या चित्रासेन से विवाह करता है तो वहीं 'छिन्नमस्ता' की नायिका प्रिया की ननद नीना एक जर्मन लड़के से विवाह करती है।

उनका मानना है कि विवाह मात्र दो व्यक्तियों का मिलन नहीं, अपितु दो मन का मिलन है। अंतर्जातीय विवाह-संबंध को अपनाया जाए तो काफी हद तक दहेज-प्रथा, स्त्री की मानसिक शारीरिक उत्पीड़न व अनमेल विवाह से होने वाले दुष्परिणामों से बचा जा सकता है।

किंतु भारतीय समाज में अंतर्जातीय विवाह-संबंध को मान्यता प्राप्त नहीं है, जिसके कारण वर-वधू दोनों को विभिन्न मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। इसका वर्णन करते हुए सुजीत की पत्नी चित्रा कहती है, 'फर्क समाज का नहीं, शिक्षा का है। मेरी नानी ने बेथून कॉलेज से बी.ए. पास किया था। शायद नानी की छाप मुझ पर अधिक है, क्योंकि उस जमाने में बंगाल में बहु-विवाह प्रचलित था। खासकर हम ब्राह्मणों में तो बहुत अधिक। जानती हो, सुजीत कायस्थ है। सेन के घर मुकजी कन्या जाएगी यह कैसे हो सकता है। मेरे पिता आजतक हमारे घर नहीं आए। मैं ब्राह्मण जाति से बहिष्कृत थी।'⁷

एक सिक्के के सदैव दो पहलू होते हैं। अंतर्जातीय विवाह जहाँ सुखकर प्रतीत होता है वहीं इसने कुछ समस्याओं को भी जन्म दिया है, किंतु सुख की छाया पाकर दुःख अपना प्रभाव खो ही देता है। इसी विचार को ध्यान में रखकर प्रभाजी पाठकों को नारी-मुक्ति के लिए इसे अपनाने की सलाह भी देती हैं ताकि प्रिया, नीना, सोमा जैसे ही वह भी खुशी से जीवनयापन कर सकें।

पतिव्रतःसतीत्व पर पुनर्विचार

प्रभा जी ने अपने उपन्यासों में पतिव्रत एवं सतीत्व पर पुनर्विचार किया है। पतिव्रत धर्म की पराकाष्ठा से उनका तात्पर्य है जहाँ नारी 'सतीत्व का आदर्श' लेकर अपना संपूर्ण जीवन अपने पति को समर्पित कर देती है। 'अपने-अपने चेहरे' की नायिका रमा अपने प्रेमी की पुत्री रीतु को समझाते हुए कहती है कि तुम्हारा पति कुणाल, जो परस्त्रीगामी है, किसी कानून की मदद से तुम्हारे पास नहीं आ सकता, क्योंकि सजा देने वाला भी पुरुष ही है, सजा पाने वाला भी। तुम इन पुरुषों से पार नहीं पा सकतीं। बल्कि वह संस्था आज हर जगह टूट रही है। वह प्रेम और वासना

में अंतर स्पष्ट करते हुए कहती है, 'प्रेम और वासना में फर्क है। प्रेम त्याग है, वह बस देना जानता है, यह हमारी वासना है, अहंकार है जो अधिकारों की लड़ाई लड़ता है।'⁸

उनकी नायिका यूज एण्ड थ्रो वाली फिलोस्फी को अपनाती है। उनके उपन्यास की नायिका चित्रा को जब अपने पति और सोमा के प्रेम-प्रसंग के विषय में पता चलता है तो वह स्वयं उनके बीच से हट जाती है। वह कहती है, 'जब सुजीत ने पहले-पहल इस संबंध की चर्चा की थी तो मैं भी रोई थी। खूब-खूब रोई थी। सुजीत को धोखेबाज कहा था। फिर बाद में लगा कि यह धोखा तो मैं स्वयं को दे रही हूँ। जब प्रेम ही नहीं तो किस बात की जलालत? प्रेम की भीख नहीं माँगी जाती। मेरा कोई आत्मसम्मान नहीं? और यह फिर किस शास्त्र में लिखा है कि किसी से प्रेम करो तो ताउम्र करते जाओ।'⁹

वहीं 'आओ पेपे घर चलें' की पात्र कैथी भी पतिव्रत धर्म पर प्रश्नचिह्न लगाती प्रतीत होती है। वह प्रभा से कहती है, 'मुझे ब्रैडी कैथी के पति से बात करनी होगी। नहीं, मेरा प्रेम पर विश्वास नहीं। उसने पहली पत्नी को छोड़ा। कल मुझे भी छोड़ देगा। मैं नहीं चाहती कि मम्मी की तरह होऊँ जो डैड के आतंक में थरथर काँपती रहूँ। न मैं एलिजा की तरह दीवालिया होना चाहती हूँ। मुझे मेरा मैं चाहिए, एक मजबूत व्यक्तित्व, जो सम्मान से सिर उठाकर खड़ा हो सके।'¹⁰

प्रभा के समझाने पर भी वह नहीं समझती और कहती है, 'ओफ! तुम्हारी यही बातें मेरा जी जला देती हैं। तुम इतना क्यों डरती हो? क्यों? बोलो तो आखिर? ब्रैडी न हुआ मानो भगवान हो गया। एक ब्रैडी जाएगा तो मुझे दस मिलेंगे, पर काम करने के लिए जीसस ने मुझे एक ही बार आदमी का शरीर दिया है। मेरे बीते हुए कर्म लौटेंगे क्या? एलिजा ने पहले कदम उठाए होते, मगर नहीं, हम सब अपनी आदतों के गुलाम होते हैं।'¹¹

इस प्रकार उन्होंने पतिव्रत एवं सतीत्व पर पुनर्विचार प्रस्तुत कर नारी को इसमें बदलाव लाने का पक्ष सामने रखा है।

पितृसत्तात्मक मूल्यों के प्रति विद्रोह

प्रभा जी ने पितृसत्तात्मक समाज की स्त्रियों की जीवंत प्रस्तुति अपने उपन्यासों में की है। पितृसत्ता को परिभाषित करते हुए वह कहती है, 'पितृसत्ता एक सामाजिक घटना है, हजारों साल से चली आ रही ऐसी व्यवस्था है, जिसमें स्त्री की अधीनस्थता सर्वविदित है। पितृसत्ता ने स्त्री को अपने ज्ञान की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रयोग किया। उसके नाम, रूप, जाति, गोत्र सब अपने संदर्भ में परिभाषित किए। स्त्री का यह अमानवीयकरण दलित के अमानवीयकरण से कहीं ज्यादा सूक्ष्म है, क्योंकि दलित पुरुष भी तो पितृसत्तात्मक व्यवस्था का सदस्य है और पुरुषोचित अहंकार के कारण स्त्री के शोषण और उत्पीड़न से बाज नहीं आता।'¹²

उनका मानना है कि यदि सेवा स्त्री का सर्वोत्तम धर्म है, तो वह भी शिरोधार्य है, मगर सेवा करते हुए स्त्री अधीनस्थ क्यों रहे? पुरुष भी समाज की सेवा करता है, मगर वह निर्णय लेता है, सेवा करने वाला पुरुष तो 'लोकनायक' कहलाता है। समाज को उस पर गर्व है, पर क्यों हमारा समाज स्त्री को मान देने में झिझकता है? क्यों हमारा समाज स्त्री के प्रतिशोध को स्वीकार नहीं कर सकता?

'अपने-अपने चेहरे' की नायिका रमा अपने प्रेमी की पुत्री रीतु को समझाते हुए कहती है कि 'तुम्हारा प्रेम तो टूट चुका है। यदि प्रेम चाहिए तो कहीं और खोजो और यदि व्यवस्था की

सुरक्षा चाहिए तो कुणाल के साथ रहो। रीतु, यह व्यवस्था पुरुष की बनाई हुई है, स्त्री की नहीं। इस व्यवस्था के साथ हजारों साल की परंपरा जुड़ी हुई है। पुरुष की जमीन पर खड़ी होकर पुरुष के खिलाफ बोलोगी तो उठाकर फेंक दी जाओगी। अपनी जमीन तैयार करो।¹³

यह पुरुष-प्रधान समाज न तो स्त्री समस्या को सुनने का इच्छुक है और न ही उसके समाधान का पक्षधर। 'समाज यानी पुरुष, राजनीति की गोट बिछाता हुआ पुरुष। हर नए सिद्धांत को खोजता हुआ पुरुष। प्रत्येक औरत से ये कहता हुआ—नहीं, अभी और बहुत सी समस्याएँ हैं। अभी औरत को अपने बारे में बोलने का अधिकार नहीं। वह जहाँ है, जैसी भी है, वैसी ही रहे। जब हमें समय होगा, तब उसके बारे में बात करेंगे। अभी नहीं, अभी और भी हजारों समस्याएँ हैं।'¹⁴

मारवाड़ी समाज के पारंपरिक ढाँचे में फँसी नारी किस प्रकार घुटन अनुभव करती है और उससे मुक्ति के लिए छटपटाती है उसका वर्णन करते हुए सोमा कहती है, 'गौतम यह घर लोहे की दीवारों से बना है। बहुत मजबूत है यह घर। यहाँ धूप नहीं आती, कहीं कोई सुराख नहीं। हवा नहीं घुस सकती।'¹⁵ पुरुषों के पास स्त्री-जाति के लिए न पहले समय था, न वर्तमान में है और न ही भविष्य में होगा। अतः स्त्री-जाति की सहायता हेतु संपूर्ण नारी जाति को एकत्रित होकर पुरुष प्रधान समाज का विरोध करना होगा। तभी शायद स्त्री को स्त्री होने का अधिकार प्राप्त होगा।

इस प्रकार प्रभाजी ने पितृसत्तात्मक मूल्यों से विद्रोह कर नारी-मुक्ति के लिए एक नई दिशा पाठकों के सम्मुख ला खड़ी की है, जिससे स्त्री के दैहिक, मानसिक व आत्मिक शोषण पर लगाम लगाई जा सके, जिसे पुरुषों ने अपनी सुविधा के लिए जबरन उस पर लागू कर रखा है।

इस प्रकार प्रभा जी ने अपने उपन्यास के माध्यम से स्त्री को विद्रोह करके अपनी स्वतंत्रता प्रदर्शित करने का समर्थन किया है। उनका मानना है कि मुक्ति की चेष्टा सामूहिक होनी चाहिए। महादेवी वर्मा जी का कथन है—'शासन लिखित विधान से चलता है और समाज अलिखित परंपरा से' समाज में समान मानवाधिकारों की कल्पना को मात्र कानूनों के द्वारा व्यावहारिक नहीं बनाया जा सकता, उसके लिए तो संपूर्ण सामाजिक और वैचारिक क्रांति की आवश्यकता है। एक ऐसी क्रांति जो आबाद दुनिया में बेहतर ज़िंदगी की कामना करती है, जिसका प्रमुख उद्देश्य नारी का अपने पक्ष में खुद लड़ना और खुद खड़े होना रहा है, क्योंकि व्यवस्था के बदलने मात्र से मानसिकता में परिवर्तन नहीं होता है, बल्कि लोगों की सोच में परिवर्तन व्यवस्था में परिवर्तन ला सकता है। जब तक यह लड़ाई अपनी ओर से नहीं लड़ी जायेगी नारी के पक्ष में नहीं जाएगी। अतः अब समय आ गया है कि नारी अपने अस्तित्व को पहचानकर अपने वर्चस्व का परिचय इस समाज को दे।

संदर्भ

1. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 2004 ,पृ० 10
2. वही, पृ० 125
3. प्रभा खेतान, पीली आँधी, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 2007, पृ० 260
4. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 2004, पृ० 151

5. वही, पृ० 125
6. डॉ० शीलप्रभा शर्मा, उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक संदर्भ, विद्या विहार गांधी नगर, कानपुर, 1987, पृ० 66
7. प्रभा खेतान, पीली आँधी, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 2007, पृ० 261
8. प्रभा खेतान, अपने अपने चेहरे, किताबघर प्रकाशन, 1996, पृ० 126
9. प्रभा खेतान, पीली आँधी, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 2007, पृ० 260
10. प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, हंस, मई, 1989, पृ० 82
11. वही, पृ० 82
12. प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 2007, पृ० 39
13. प्रभा खेतान, अपने अपने चेहरे, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृ० 127
14. वही, पृ० 193
15. प्रभा खेतान, पीली आँधी, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 2007, पृ० 260
16. जगदीश चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री-अस्मिता : साहित्य और विचारधारा, आनंद प्रकाशन, कोलकाता 2004, पृ० 90

शोध छात्रा
हिंदी विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार।

गुरु गोविंदसिंह कृत चंडी-चरित्र में युगबोध

हरदीप कौर

प्रवक्ता, श्री गुरु नानकदेव खालसा कॉलेज
देवनगर, करोल बाग
नई दिल्ली

‘युगबोध’ शब्द ‘युग’ और ‘बोध’ दो पृथक् शब्दों के सहयोग से बना है, जिसे सामान्य बोलचाल की भाषा में समसामयिक परिस्थितियों का परिज्ञान कह सकते हैं। ‘युग’ शब्द का कोशगत अर्थ है—समय काल तथा काल-विशेष¹ तथा ‘बोध’ से अभिप्राय है—प्रतीति, ज्ञान, जानकारी अथवा किसी के अस्तित्व, प्रकार, स्वरूप आदि का होनेवाला मानसिक भान।² इस दृष्टि से युग-बोध से अभिप्राय हुआ—किसी काल-विशेष की परिस्थितियों अथवा विशेषताओं का सम्यक् ज्ञान। किसी भी साहित्यकार की रचनाओं में युग-बोध से तात्पर्य यह है कि उसके साहित्य में समकालीन गतिविधियों, आंदोलनों तथा परिस्थितियों आदि का कहाँ तक प्रतिफलन हुआ है, अथवा दूसरे शब्दों में समसामयिकता का किस सीमा तक अंकन हुआ है। विभिन्न विद्वानों की युग-बोध के विषय में दी गई परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—अमृतराय ‘आधुनिक भावबोध की संज्ञा’ पुस्तक में लिखते हैं—‘आधुनिक हो, पुराना हो, सच्चा लेखन वही है जिसमें लेखक अपने देखे हुए, अपने भोगे हुए को अपने कलात्मक सामर्थ्य भर अधिक से अधिक पूर्णता के साथ चित्रित करना चाहता है।’³ इस भोगे हुए को चित्रित करना ही युग-बोध है। डॉ. मुकुंद द्विवेदी लिखते हैं—‘युगपरिवर्तन के साथ ही युग के निर्धारक मूल्य भी बदल जाते हैं। व्यक्ति मानस बदलते हुए मूल्यों को प्रथमतः स्वीकार करने में झिझकता है, पर वे ही जब सामूहिक रूप से स्वीकृत हो जाते हैं तो युग की चेतना का रूप धारण कर लेते हैं।’⁴ युगबोध को स्पष्ट करते हुए डॉ. द्विवेदी लिखते हैं कि ‘युग-विशेष में अधिकांश लोगों के मन में प्रच्छन्न रूप से चलते रहने वाले जीवन-लक्ष्यों और मूल्यों का बोध-मात्र है। इसे हम युग-बोध कह सकते हैं।’⁵ एक सफल लेखक अपने समय की परिस्थितियों के प्रति सजग होता है। इन परिस्थितियों अथवा प्रवृत्तियों के विषय में वह अपनी विचारधारा बनाता है और इसी विचारधारा को वह अपनी रचना में युग का यथार्थ चित्र अंकित करके उसके लिए आदर्श प्रस्तुत करना चाहता है। परिस्थितियाँ जैसे-जैसे बदलती जाती हैं, युग का साहित्य भी परिवर्तित होता जाता है। युग की परिस्थितियों के अनुसार साहित्य अपना रंग-रूप बदलता रहता है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार, ‘कोई भी चिंतन सामाजिक वास्तविकताओं से अछूता नहीं है, बल्कि वास्तविकता की विभिन्न प्रक्रियाएँ साहित्य और जीवन-संबंधी चिंताओं में व्यक्त होती है।’⁶ अपने युग के समाज एवं उसकी वास्तविकता को पहचान कर साहित्य में प्रस्तुत

करना ही 'युग-बोध' है। प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० रामदरश मिश्र युगीन चेतना के बोध को सर्जन के लिए अनिवार्य मानते हैं, 'युगीन चेतना फैशनवश ओढ़ी हुई कोई चीज़ नहीं है, वह ऐतिहासिक संदर्भ में पूरे समाज के जीवन के मूल्य और प्रणाली को प्रभावित करने वाली नवीन शक्ति है। अतः युग-चेतना को छोड़कर हम किसी समाज को सही रूप में अंकित नहीं कर सकते। हर सर्जन के पीछे एक दृष्टि होती है। वह दृष्टि सहज ही नहीं मिल जाती, युगीन परिस्थितियों और चेतनाओं के परिवेश में जीवन-सत्यों को पहचानने की शक्ति प्राप्त करने से प्राप्त होती है। अतः इस नवीन दृष्टि से संपन्न व्यक्ति ही अपने समाज के नये प्रश्नों, भाव-सौंदर्य के नये आयामों, नये मूल्यों, नये सामाजिक संबंधों को समझ सकता है, वही सर्जन कर सकता है। अतः मैं युगीन चेतना के बोध को सर्जन के लिए अनिवार्य और आवश्यक मानता हूँ।'⁷ आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी साहित्य और युग अथवा समाज के घनिष्ठ संबंध-स्थापन का प्रयास करते हैं। इन्होंने प्रथमतः साहित्य-साधना को सामाजिक जीवन के संदर्भ में देखने का प्रयास किया है। उन्होंने कहा है कि— 'काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं।'⁸

संसार का हर लेखक अपने युग से संबोध होता है अबोध नहीं। अगर वह अपने युग से परिचित नहीं होता तो वह श्रेष्ठ साहित्य की रचना नहीं कर सकता। सारांशतः हम कह सकते हैं कि किसी कालखंड में विद्यमान राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक परिवेश के प्रति जागरूक एवं सजग मानस की प्रतिक्रिया ही युग-बोध है। हम इसे यूँ भी कह सकते हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व के दो भेद होते हैं—1. आनुवंशिक 2. अनुभवजन्य। दूसरे भेद से जुड़ा हुआ बोध ही युग-बोध है। कतियय आलोचकों ने युग-बोध के लिए युग-सत्य का प्रयोग किया है।⁹

युग-बोध के विभिन्न आयाम

युगबोध के निर्माण में अनेक तत्त्व अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे तत्त्व अपने रूपात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन से समस्त चिंतनधारा को प्रभावित कर युग-बोध की दिशा परिवर्तित करने में भी सक्षम होते हैं। युगबोध को समझने के लिए विभिन्न आयामों को निम्न क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है—

1. समाज बोध
2. सांस्कृतिक बोध
3. साहित्यिक बोध
4. दार्शनिक बोध
5. धर्मबोध
6. मनोवैज्ञानिक बोध
7. राष्ट्र-बोध

चंडी-चरित्र में समाज-बोध

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के बिना समाज का और समाज के बिना मनुष्य का अस्तित्व असंभव सा जान पड़ता है। अतः स्वभावतः मनुष्य समाज से बहुत गहरा जुड़ा होता

है। कवि भी पहले हमारी-आपकी तरह एक व्यक्ति होता है। उसका अपना एक समाज होता है। उसे भी हमारी ही तरह सुख-दुखात्मक अनुभूतियाँ होती हैं। इस प्रकार साहित्य और समाज भी एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। कवि और समाज के बीच आदान-प्रदान चलता रहता है। समाज में रह-रहकर कवि का निर्माण होता है तो समर्थ कवि समाज को नई दिशा और नया बोध प्रदान करता है।

काव्य और समाज का अंतःसंबंध

काव्य और समाज के परस्पर अंतःसंबंध पर प्राचीन युग से लेकर आधुनिकयुग तक अत्यधिक चिंतन हुआ है। कारण, किसी भी कला का समाज से पृथक् अस्तित्व संभव नहीं है, क्योंकि इनका रचयिता समाज का ही एक अंग है। वह अपने आस-पास के परिवेश से ही प्रेरणा लेकर अपनी प्रतिभा द्वारा कला का सृजन करता है और काव्य अथवा साहित्य भी इसके अपवाद नहीं हैं। आचार्य मम्मट, जो प्रसिद्ध काव्यशास्त्री हैं, उन्होंने काव्य-हेतुओं का वर्णन करते हुए 'काव्यप्रकाश' में लिखा है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।¹⁰

साहित्य और समाज के बीच अंतर्संबंध स्थापित करते हुए इतना कहा जा सकता है कि साहित्य को समाज के लिए उपयोगी होना चाहिए क्योंकि साहित्य का रचयिता तथा उसका अध्येता दोनों ही समाज के अंग हैं। 'साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है।'¹¹

गुरु गोविंदसिंह जी का मुख्य उद्देश्य समाज का नवनिर्माण करना था। उनका काव्य और भक्ति इसी लक्ष्य का अनुसरण करती है। उनके साहित्य का उद्देश्य वीर भावों को जागरण करना है। वीर भावों में संचार के लिए उन्होंने वीर-रस से पूर्ण काव्य का सृजन किया। तदुत्तुगीन निर्बल समाज में वीरता का संचार करने के लिए कवि ने देवी के वीरतापूर्ण आदर्श चरित्र को सामने रखकर चंडी-चरित्र नामक काव्य रचा। चंडी शक्ति की प्रतीक मानी जाती है।

मुगल शासक औरंगजेब हिंदू जनता को विभिन्न प्रकार से प्रताड़ित किया करता था। गुरुजी अन्याय और अत्याचार का दमन करना चाहते थे, इसके लिए उन्होंने निष्प्राण हो रही हिंदू जनता में शक्ति, साहस एवं आत्मविश्वास का अजस्र स्रोत प्रवाहित करना आरंभ किया। हिंदू शक्ति को पुनः संगठित करने के उद्देश्य से गुरुजी ने हिंदुओं की पौराणिक देवी 'चंडी' को अपने काव्य का आधार बनाया। चंडी-चरित्र में समाजबोध निम्न प्रकार से मिलता है—

1. समाज को कर्तव्यबोध कराना
2. अतीत का गौरवमान
3. लोक जीवन से लगाव
4. सामाजिक समानता

गुरुजी ने हिंदू होते हुए इस्लाम के प्रति उदारता दिखलाई। इस्लाम धर्म की अनीति, अत्याचार, कूटनीति का अवश्य विरोध किया। जाति-पाँति के भेद को दूर करना ही गुरुजी का उद्देश्य था।¹² विभिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रतिष्ठा थी और पूजा के रूप भी निराले ही थे, इससे भी समाज में असमानता आ गई थी। अपनी-अपनी बात को महत्त्वपूर्ण तथा प्रमुख तो सभी बतलाते थे परंतु वास्तविक शक्ति को भूल गए थे—

कोऊ दिजेस को मानत है आरू कोऊ महेस को ऐश बतै है।
कोऊ कहै बिसनों विश्वनायक जहि भजे ऊध करे है।
बार हजार बिचार अरे जड़ भजे समै सबही तजि जै है।
ताहि को ध्यान प्रमानि हीए जोक थे अब हाँ अरू आगे ऊहै है।¹³

चंडी-चरित्र में सांस्कृतिक बोध

संस्कृति शब्द का संबंध संस्कार से है, जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कृति और काव्य का संबंध अन्योन्याश्रित है। संस्कृति की विशाल पीठिका पर ही काव्य का जन्म होता है। संपूर्ण साहित्य संस्कृति का एक अंग-मात्र है। संस्कृति साहित्य से बहुत प्राचीन है। संस्कृति का जन्म मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही हो गया था, परंतु साहित्य और काव्य का प्रादुर्भाव बहुत बाद में हुआ। या यूँ कहा जा सकता है कि संस्कृति के विकास या सभ्यता के प्रसार के फलस्वरूप साहित्य और कविता उपजे हैं। कविता अपना जीवन-नेतृत्व सांस्कृतिक उपकरणों से प्राप्त करती है। गुरु गोविंदसिंह का संपूर्ण काव्य भारतीय संस्कृति का ही प्रसारक सिद्ध हुआ है। भारतीय संस्कृति के मूलाधार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष उनके व्यक्तित्व में अनायास ही और उनके साहित्य में भी अनुस्यूत हो गए हैं। चंडी-चरित्र में सांस्कृतिक बोध निम्न प्रकार से मिलता है-

1. शुभ कर्मों से कभी न हटना और सत्य की रक्षा करना।
2. भक्ति और शक्ति का अद्भुत समन्वय
3. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष
4. भारतीय संस्कृति के अनुरूप चंडी-चरित्र में धर्म-युद्ध
5. उदात्त चरित्र
6. ब्रजभाषा या हिंदी के माध्यम से भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति।

शुभ कर्मों से कभी न हटना सत्य की रक्षा और असत्य के संहार के लिए निर्भय होकर शत्रु से लड़ पड़ना और निश्चित रूप से विजय में विश्वासी बने रहना, यह सब भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धांत हैं। भारतीय संस्कृति के अनुरूप भक्ति और शक्ति का अद्भुत समन्वय भी गुरु गोविंदसिंह ने चंडी-चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत किया है-

तमसता ममता नमता कविता कवि के मन मद्धि गुही है।

कीनों है कंचन लोह जगत में पारस मूरत जाहि छुटी है।¹⁴

गुरुजी ने भारतीय संस्कृति का सच्चे अर्थों में अनुसरण किया और उसी परंपरा को जीवित और जाग्रत रखने में पूरा सहयोग भी दिया। भारतीय संस्कृति के अनुरूप तप, त्याग और सेवा-साधना से हिंदू, जाति, धर्म और देश की रक्षा करते हुए उन्होंने समाज में नवरक्त का संचार किया।

चंडी-चरित्र में साहित्य-बोध

काव्य के दो पक्ष माने गए हैं-भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष का संबंध काव्य के अंतरंग, वर्ण्यविषय और अनुभूति से है तथा कलापक्ष का संबंध काव्य के बहिरंग, वर्णन शैली अथवा अभिव्यक्ति से है।¹⁵ दोनों पक्ष अपना स्वतंत्र महत्त्व रखते हुए भी परस्पर अन्योन्याश्रित हैं।

चंडी-चरित्र वीररसात्मक खंडकाव्य है। व्यापकता की दृष्टि से शृंगाररस के उपरांत वीररस का स्थान है। वीररस का स्थायी भाव उत्साह सर्वत्र पाया जाता है। इसमें मूल रूप से भावों की कर्मनिष्ठा विद्यमान रहती है। यह रस कर्म प्रधान एवं समाज का पोषक है।¹⁶ चंडी-चरित्र में वीररस के चारों प्रकारों में से युद्धवीर की व्यंजना अधिक हुई है। युद्धवीर के आलंबन-शत्रु, उद्दीपन-शत्रु का पराक्रम, अनुभाव-गर्व सूचक उक्तियाँ, व्यभिचारी-धृति, गर्व और तर्क आदि है अर्थात् आलंबन मधु-कैटभ, महिषासुर आदि दैत्य हैं, उद्दीपन उनका पराक्रम है। अनुभाव-देवी काली, विष्णु, देवशक्तियों का उत्साहपूर्वक युद्ध तथा व्यभिचारी धृति, हर्ष, उल्लास, उमंग गर्व आदि हैं—

जै जै सत्र सामुहै भए, बहुरजी अत गृह को नहीं गये।

जिहं पर परत मई तरवारा, इकि इकि ते भए दो या दो पारा।¹⁷

चंडी-चरित्र में भाषिक युग-बोध भी दिखाई देता है। अपने भावों को अभिव्यक्त करने का एकमात्र माध्यम भाषा होती है। भाषा का रूप स्थिर नहीं होता वह समय, देश, जाति, काल आदि के अनुरूप भिन्न और परिवर्तित होती रहती है। रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक भाषा युग-बोध कविता में भाषा के विषय में लिखा है—‘समाज में मनुष्यों के पारस्परिक संबंध बदले हैं और उनके साथ ‘मनुष्यत्व’ की परिभाषाएँ भी बदली हैं। साहित्य के भाव, विचार उनको व्यक्त करने के ढंग गतिशील युग-प्रवाह में बदलते रहे हैं। उनके इस बदलने के क्रम को इस बहाव को स्थायी कहा जा सकता है।’¹⁸

गुरु गोविंदसिंह ने अपने युग में प्रचलित ब्रजभाषा को ही अपने काव्य का आधार बनाया। अतः गुरु गोविंदसिंह की भाषा से उनके युग का बोध होता है। उनकी भाषा परंपरागत ब्रजभाषा का प्रौढ़ रूप है।

चंडी-चरित्र में दार्शनिक बोध

भारतवर्ष सदैव से दार्शनिक संतों आदि का देश है। गुरु गोविंदसिंह के व्यक्तित्व में उनके कवि, धर्म-गुरु, दार्शनिक, कुशल योद्धा आदि बहुपक्षीय व्यक्तित्व का संगुंफन मिलता है। उनके काव्य में हमें दर्शन और काव्य दोनों ही नजर आते हैं। इस प्रकार हम उनके काव्य को दर्शन से संयुक्त होने के कारण ‘पूर्णता’ की कोटि का काव्य कह सकते हैं।¹⁹ चंडी-चरित्र में देवी की अपार शक्ति, अनंत पराक्रम और शौर्य आदि का वर्णन किया है। गुरुजी के दार्शनिक विचारों की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।²⁰ चंडी-चरित्र में दार्शनिक युगबोध निम्नलिखित रूपों में मिलता है—

1. ईश्वर का स्वरूप
2. नाम-महिमा
3. ईश्वर का रुद्र रूप
4. सृष्टि (जगत)
5. सामाजिक दर्शन

ईश्वर के स्वरूप में गुरुजी का मानना है कि परमात्मा सत्यस्वरूप निराकार एवं एक है। वह शक्ति को परम चिन्मय, अखंड, अपार, अनंत, सर्वव्यापक, अभय नित्य, पवित्र मानते हैं। वह

एक अद्वैत शक्ति निखिल ब्रह्मांड का सृजन, नियमन एवं संहार करती है। ईश्वर की अनंत शक्ति और गुणों को दृष्टि में रखकर भक्तों ने उन्हें अनेक नामों से पुकारा है। महात्मा कबीर ने इसी भावना से प्रेरित होकर कहा है—‘अपरंपार के नाऊ अनंत’²¹

गुरुजी का संपूर्ण चिंतन तथा दर्शन मानव-प्रेम पर आधारित है। मानव-मानव में कोई अंतर नहीं, ऊँच-नीच, हिंदू-मुस्लिम एवं जाति-पाँति के भेद-भाव को दूर कर मानव-मात्र की समानता में गुरुजी का विश्वास है।

कोऊ भयो मुडिया संन्यासी, कोऊ जोगी भयो।
कोऊ ब्रह्मचारी कोऊ जाति अनुमानवा।
हिंदू तुरक कोऊ रफजी इमामशाही।
मानस मी जात सबै एके पहिचान बौ।²²

वे सत्य के खड्ग, न्याय का खौंडा और नीति का तुरंग और नाम का अग्नि-बाण लेकर धर्मयुद्ध के लिए निकले थे और असत्य, अन्याय और दुराचार की प्रतीक आसुरी शक्तियों की जड़ें हिलाने में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई।²³

चंडी-चरित्र में धर्मबोध

‘धर्म’ शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है, जो धारण अर्थ वाली ‘धृ’ धातु से बना है। अतः ‘धार्यते इति धर्मः’ अर्थात् जो धारण किया जाए वह धर्म है। धर्म शब्द अपने-आपमें एक व्यापक अर्थ को समेटे हुए है। साधारण रूप से इसका अर्थ अंग्रेजी में ‘रिलिजन’ और फ़ारसी में ‘मजहब’ माना गया है। ‘जगत के सकल नानात्मक रूप-व्यापारों की संज्ञा धर्म है।’²⁴ महाभारत के अनुसार—‘धारणाद् धर्म नित्यादु धर्मो धायते प्रजाः’²⁵ अर्थात् जो धारण किया जाए और जिसे प्रजाएँ धारण की हुई हैं, वह धर्म है।

गुरुजी ने चंडी-चरित्र के माध्यम से असुर-संहार की प्राचीन धर्मगाथा को काव्य-रचना का आधार बनाया।

उन्होंने चंडी-चरित्र की रचना पूर्णतया धार्मिक भावना से ओत-प्रोत होकर की है। उनका मानना है कि जो कोई भी इस कथा को पढ़ता या दोहराता है, वह धर्मलाभ की कामना रखता है। गुरुजी ने चंडीदेवी से यह प्रार्थना की है, जो कोई भी जिस उद्देश्य अथवा कामना को लेकर इस ग्रंथ का पारायण करे, आप उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण करें। इससे स्पष्ट होता है कि गुरुजी स्वयं इस कृति को धार्मिक कृति बनाना चाहते थे—

ग्रंथ सतसई को करौजा सम अवर न कोई।
जिह निमित्त कवि ने कहौ देह चंडिका सोई।²⁶

गुरुजी धर्मलाभ की कामना करते हुए कहते हैं कि हे देवी, मेरी आपसे प्रार्थना है कि मुझे सदैव के लिए यही वरदान देने की कृपा करें कि मैं शुभकर्मों को संपन्न करने से कभी न हटूँ। आलस्य अथवा उपेक्षा अथवा अकर्मण्यता के कारण कर्त्तव्य-पालन से शिथिल न हो जाऊँ अपितु सदैव रुचि, उत्साह और लगन के साथ कर्त्तव्य-कर्मों का निर्वाह करूँ—‘देहि सिवा नित मोहि इहै सुभ करमन ने कबहूँ न तरौ।’²⁷

डॉ० महीपसिंह ने लिखा है, ‘जब चारों ओर धर्म का ढोल पूरे जोर से बजाया जा रहा

था, धर्म के वास्तविक स्वरूप की हत्या करना ही सबसे बड़ा धर्म समझा जा रहा था, नैतिक तथा बौद्धिक हास के इस युग में धर्म की उदात्त-भावना पूर्ण रूप से लुप्त हो गई थी। धर्म का उद्देश्य होता है व्यक्ति और समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा बनाना तथा जनता में लौकिक संघर्षों से टक्कर लेने की शक्ति उत्पन्न करना। परंतु इस काल में धर्म के नाम पर भी अनेक विकृतियाँ ही अवशिष्ट रह गई थीं। इस युग में अंधविश्वास, रूढ़ियों का अनुसरण तथा बाह्याडंबरों का पालन ही धर्म की परिभाषा थी।²⁸

चंडी-चरित्र में मनोवैज्ञानिक बोध

मनोविज्ञान का शाब्दिक अर्थ है—मन का विज्ञान अर्थात् मन की प्रकृति, वृत्तियों, दशाओं एवं क्रियाओं आदि का विवेचन करने वाला विज्ञान। इस प्रकार मनोविज्ञान मन का शास्त्र तथा उसका वैज्ञानिक अध्ययन है।²⁹

द ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार—मनोविज्ञान शब्द का अर्थ है—मानव की आत्मा अथवा मन की प्रवृत्ति एवं परिदृश्य का विज्ञान।³⁰

काव्य अथवा साहित्य एवं मनोविज्ञान

काव्य की उपादेयता मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर सिद्ध की जा सकती है क्योंकि काव्य अपनी प्रत्येक दशा में मानव-मन की ही अभिव्यक्ति है, किंतु उसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि काव्य और मनोविज्ञान एक ही प्रकृति के विषय हैं। कविता कभी भी अपने शुद्ध रूप में मनोविज्ञान नहीं हो सकती, मनोविज्ञान शास्त्र का अपना विज्ञान है, अपना शास्त्र है। कविता में मनोविज्ञान का समावेश व्यावहारिक दृष्टिकोण से किया जाता है। काव्य की भावात्मक अनुभूति को समग्र रूप से ग्रहण करने के लिए उसके देश और काल की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, रचयिता के मानस की आधार भूमि, वर्ण्य-विषय की भावात्मक दशा, अभिव्यक्ति की भावोत्तेजक जनशक्ति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। इस कार्य में मनोविज्ञान भावुक कवि सहृदय पाठक की सहायता करता है।

गुरुजी द्वारा रचित चंडी-चरित्र कवि के अवचेतन मन की ही प्रतिक्रिया है। कवि अपने युगीन जीवन की अव्यवस्था एवं असंगतिपूर्ण वातावरण से प्रभावित होकर उस स्थिति के निराकरण के लिए अपने मानस-मंथन द्वारा, ज्ञानामृत की उपलब्धि काव्य के माध्यम से करता है। गुरुजी ने जीवनभर जिन संस्कारों और प्रभावों को अपने अचेतन मन में ग्रहण किया, उन्हें अपने हृदय में सँजोकर उन्हें उदात्तीकृत किया। पौराणिक कथा को काव्य का आधार बनाया, अन्याय, अत्याचार, हिंसा जैसी अनेक दुष्प्रवृत्तियों को दूर करने के लिए चंडी और असुरों के मध्य धर्मयुद्ध प्रतीक के रूप में दिया—

कान सुनि देवन घुनि की सब दानव भारन को पुन कीनो।

होई के प्रतच्छ कहा बरचंड सुक्र दूध है जुद्ध विरखै तन दीनो।³¹

चंडी-चरित्र का कलापक्ष भी मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से युक्त है। उसकी काव्यशैली अत्यंत सहज, सरल एवं भावानुकूल है। इसमें वीररस की तीव्र अभिव्यंजना हुई है।

चंडी-चरित्र में राष्ट्र-बोध

राष्ट्र शब्द का शब्दकोश के अनुसार अर्थ है—‘वह लोकसमुदाय जो एक ही देश में

बसता हो या एक ही राज्य या शासन में रहता हुआ एकताबद्ध हो।³²

राष्ट्रीयता एक मनोभाव है, श्रद्धा और भक्ति की एक भावना है। एक आदर्श है, जिसका केंद्र राष्ट्र होता है।³³

चंडी-चरित्र में राष्ट्र-बोध के निम्नलिखित तत्त्व देखने को मिलते हैं -

1. प्राचीन गौरव की स्मृति
2. वर्तमान स्थिति के प्रति क्षोभ
3. देश-प्रेम, भारतीय संस्कृति तथा धर्म के प्रति श्रद्धा
4. हिंदी का प्रचार।

गुरुजी राष्ट्रनायक हैं। वह राष्ट्रीय कवियों में प्रथम पंक्ति में बैठने के अधिकारी हैं। चंडी-चरित्र में राष्ट्रीय उद्बोधक सभी तत्त्व विद्यमान हैं। प्राचीन परंपरा के प्रति यदि श्रद्धा है तो वर्तमान स्थिति के प्रति क्षोभ है। काव्य इस तथ्य का प्रमाण है कि कवि अपनी व्यक्तिगत भावनाओं से अधिक राष्ट्र की समष्टिगत भावनाओं को मूर्तरूप प्रदान करता है। कवि की जागरूकता सदैव उसे राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर होने के लिए निरंतर प्रेरित करती है।

गुरुजी की रचना 'चंडी-चरित्र' में राष्ट्रीय स्वर वैसा ही उग्र है जैसाकि राजनीति क्षेत्र में उनका योद्धारूप है। इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने जीवन में अनेक युद्ध किए, ये युद्ध किसी जाति विशेष अथवा संप्रदाय विशेष के विरुद्ध नहीं थे, उनका उद्देश्य केवल अत्याचारियों का दमन करना था। उन्होंने स्वयं लिखा है -

‘या कलि मैं समकाल कृपान के।

मारी भुजान को मारी भरोसो।’³⁴

अंततः यह कहा जा सकता है कि चंडी-चरित्र में युग-बोध से अवगत करवाने वाले सभी तत्त्व विद्यमान हैं। समाज-बोध, संस्कृति-बोध, साहित्य-बोध, दार्शनिक बोध, धार्मिक बोध, मनोवैज्ञानिक बोध, राष्ट्र-बोध आदि सभी बोधों का वर्णन कवि ने युगानुरूप किया है। इन बोधों का वर्णन करने में कवि पूर्ण सफल हुआ है।

संदर्भ

1. मानक हिंदी कोश, संपा० रामचंद्र वर्मा, पृ० 444
2. (क) हिंदी शब्दसागर, सातवाँ भाग, संपा० श्यामसुंदर दास, पृ० 3574
(ख) मानक हिंदी कोश (खंड 4), संपा० रामचंद्र वर्मा, पृ० 1741
3. आधुनिक भावबोध की संज्ञा, अमृतराय, पृ० 24
4. हिंदी उपन्यास युगचेतना और पाठकीय संवेदना, डॉ० मुकुंद द्विवेदी, पृ० 10
5. वही, पृ० 101
6. नया साहित्य नये प्रश्न, नंददुलारे वाजपेयी, पृ० 18
7. निबंध (आधुनिक बोध और साहित्य), रामदरश मिश्र रचनावली (भाग 13), पृ० 3
8. चिंतामणि, डॉ० रामचंद्र शुक्ल, (भाग 1) पृ० 221, 222
9. हिंदी साहित्य कोश, प्रभाकर माचवे (भाग 1) पृ० 665
10. काव्यशास्त्र, मार्गदर्शन से उद्धृत, डॉ० कृष्णकुमार गोस्वामी, पृ० 114
11. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, डॉ० सत्यदेव चौधरी, डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त,

पृ० 378

12. द रिलेजन्स आफ द पंजाब, सर डी०सी०जे०, पृ० 59
13. दशम् ग्रंथ, चंडी-चरित्र, संपा० जोधसिंह, पृ० 714
14. दशम् ग्रंथ, चंडी-चरित्र, संपा० जोधसिंह, पृ० 37
15. सिद्धांत और अध्ययन, बाबू गुलाबराय, पृ० 115
16. वीररस का शास्त्रकीय विवेचन, बटेकृष्ण पृ० 17, 18
17. दशम् ग्रंथ, चंडी-चरित्र, संपा० जोधसिंह, पृ० 74
18. भाषा युगबोध और कविता, डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० 9
19. गुरु गोविंदसिंह का काव्य और दर्शन, विनोदकुमार, पृ० 202
20. गुरु गोविंदसिंह और उनका काव्य, डॉ० प्रसन्नी सहगल, पृ० 344
21. कबीर (एक विश्लेषण), डॉ० उपाध्याय, पृ० 81
22. दशम् ग्रंथ, चंडी-चरित्र, संपा० जोधसिंह, पृ० 18
23. गुरुमुखी लिपि में हिंदी साहित्य, डॉ० हरभजन सिंह, पृ० 64
24. हिंदी विश्वकोश, खंड-2, ज्ञानमंडल, पृ० 167
25. धर्म और उसकी आवश्यकता, ज्ञानदीप आर्य, पृ० 87
26. चंडी-चरित्र उक्ति विलास, संपा० ओमप्रकाश, छंद 233
27. चंडीचरित्र उक्ति विलास, संपा० ओमप्रकाश, छंद 231
28. गुरु गोविंदसिंह और हिंदी कविता, डॉ० महीपसिंह, पृ० 12
29. भारतीय मनोविज्ञान, डॉ० लक्ष्मी शुक्ला, पृ० 1
30. द ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी, अष्टम भाग, पृ० 552
31. चंडी-चरित्र उक्ति विलास, संपा० ओमप्रकाश, छंद 66
32. नालंदा शब्दकोश, पृ० 112
33. द इंडिया ऑफ नेशनलजिज्म, हैंडसन, पृ० 3
34. दशम् ग्रंथ, चंडी-चरित्र उक्ति विलास, संपा० जोधसिंह, पृ० 45

डब्ल्यू जेड-9, गली नं० 3, हिंद नगर
तिलक नगर, नई दिल्ली 110018
मो० 09811137112, 09968181909
hardeepnavya@gmail.com

भारतीय संदर्भ में लोकशास्त्र की अवधारणा

डॉ० ऊषा सिंह (शोधार्थिनी)

पोस्ट डाक्टरल

एम०एम०एच० कॉलेज, गाजियाबाद (उ०प्र०)

हिंदी सभाओं, चर्चाओं और आलोचनाओं में 'लोक' को अँग्रेजी के शब्द 'फोक' के पर्याय के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस संदर्भ में लोकवाद अपने व्यापक अर्थ को त्यागकर, समाज में केवल उस वर्ग का बोध कराता है, जो नागरिक सभ्यता और शिक्षा से वंचित होता है, जिसको सामान्यतः ग्रामीण या गँवार कहा जाता है, जो अनपढ़ लोगों की वाचिक परंपरा के रूप में स्वीकृत है। वह फोक है। 'जबकि भारतीय लोक-परंपरा पूर्व विस्मृत, पुरानी आदिम परंपरा नहीं है। यह परंपरा जीवंत है, निरंतर चल रही है तथा जीवन का अंग है। हमारी लोक-परंपरा मनुष्य व प्रकृति के बीच में व्यक्त व अव्यक्त के बीच में संबंध स्थापित करती है।' 'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति रुच/लुच से है, जिसका अर्थ प्रकाशित होना है और प्रकाशित करना भी है, जो प्रकाशित कर रहा है।² इस अर्थ में लोक अपने में विशाल अर्थक्षेत्र समेटता है। जो भी दृष्टिगत संसार है अथवा जो भी इंद्रियगोचर संसार है, वह लोक है। इस लोक में केवल मनुष्य ही समाज में नहीं रहता, प्रकृति भी आती है। व्यवहार, भाषा भी लोकशास्त्र में समाहित है। लोकसाहित्य के विशेषज्ञ डॉ० सत्येंद्र जी ने लिखा है, हम अपनी दृष्टि से यह कह सकते हैं कि लोक मनुष्य-समाज का वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, सभ्यता और पांडित्य की चेतना एवं पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं, वे लोकतत्त्व कहलाते हैं;³ डॉ० कुंदनलाल उप्रैती—'आदिम-मानव के मस्तिष्क की सीधी तथा सच्ची अभिव्यक्ति ही लोकवार्ता तथा लोकसाहित्य है,⁴ अतः जो लोक के द्वारा, लोक के लिए और लोक का होकर परिचालित है, उसे लोकशास्त्र कहा जाता है।

लोकशास्त्र को शाब्दिक, शब्दातीत एवं प्रदर्शनात्मक कलाओं के रूप में विभक्त कर सकते हैं। 'शाब्दिक लोकसाहित्य (व्यापक मौखिक परंपरा के विशिष्ट रूपों के अर्थ में—जैसे कहावतें, पहेलियाँ, लोरियाँ, कथाएँ, आख्यान, विवरणात्मक, गद्य, गीत आदि), शब्दातीत पद्धतियाँ—(नृत्य, खेल, अल्पनाएँ, खिलौने से लेकर मिट्टी के घोड़े आदि शिल्प) और सामूहिक प्रदर्शनात्मक कलाएँ—(मदारी का खेल, लोकनाटक—इनमें गद्य, पद्य, गीत, नृत्य, वेशभूषा, विभिन्न स्थानीय उपकरण आदि शामिल होते हैं); इन सभी व्यंजनात्मक लोक रूपों में गाँव, शहर और कस्बे के जीवन, व्यापार का प्रत्येक पहलू गुँथा होता है।⁵ ये लोकतत्त्व परंपरा से चले आ रहे उन भावों, विचारों और अनुभूतियों के प्रतीक होते हैं, जो सामान्य लोकमानस में युगों से अपनी गहरी जड़ें जमाए चले आ रहे हैं। नागरिक समाज की अपेक्षा लोकजीवन में परिवर्तन की गति

बहुत मंद होती है। बिल्कुल आशु कविता की तरह, जो अपने मौखिक रूप में ही मुँह-दर-मुँह फैलाती रहती है और प्रचार प्राप्त करती रहती है, किंतु उसकी भावभूमि अब भी वही है, जो शताब्दियों पूर्व थी। लोकसंस्कृति पर सभ्यता का आवरण नहीं चढ़ा होता। शहरी (नगरीय) संस्कृति अपनी चकाचौंध, आधुनिकता से अधिक आकर्षक हो सकती है, जैसे—क्रीम, लिपस्टिक, भड़कीले वस्त्राभूषण से सुसज्जित आधुनिक नारी पर इससे वास्तविक सौंदर्यान्वेषी और रूपपारखी के उमंग से भरपूर भोली-भाली ग्राम बाला सरीखी लोकसंस्कृति का आकर्षण कम नहीं हो जाता। उसका सहज, सरल और अकृत्रिम रूप माधुर्य अपने सम्मोहनकारी प्रभाव से सहृदयी को रससिक्त बनाए बिना नहीं रहता।

लोककाव्य, कथाएँ सुनाने वाले व्यावसायिक और अव्यावसायिक दो प्रकार के वाचिक होते हैं। व्यावसायिक वाचिक घुम्मकड़ गायक और भाँड होते हैं, जो गाँवों, मौहल्लों, परिवारों व समूह में जाकर अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। ये अधिकतर 'रामायण', 'महाभारत' या 'पौराणिक' कथाएँ सुनाते हैं। गाँवों में भाँडजातीय नायकों, आंचलिक देवताओं और संतों की किस्सा-कहानियाँ सुनाते हैं। उत्तरी भारत में अल्हा-उदल, नील-दमयंती, बारहमासा आदि किस्सा विशेष रूप से रसविभोर हो सुनी और सुनाई जाती हैं। इनकी कहानियाँ चार-पाँच घंटों की किस्तों में कई रात चलती हैं। ये अपने किस्सा, आख्यान को छोटी कथाओं, चुटकलों, गीतों, कविताओं से सजाकर सामयिक राजनीति के प्रसंगों से भी जोड़ते चले जाते हैं, जिससे ये वर्तमान में भी प्रासंगिक हो जाते हैं।

दूसरे, घरेलू व पारिवारिक वक्ता जो बच्चों के मनोरंजन, ज्ञान व जीवन के यथार्थ को समझाने के लिए किस्सा, कहानी व लोरी के रूप में बच्चों को सुनाते हैं। दादा, नाना, ताऊ आदि बच्चों को सुलाने व उनकी जिज्ञासा शांत करने के लिए किस्सागोई करते हैं, तो वहीं दादी, नानी, चाची सभी बच्चों को इकट्ठा कर उनका ध्यान किस्सा, कहानियों में लगा बारी-बारी से दाल-भात व रोटी सब्जियों का कौर बच्चों के मुँह में डालती जातीं और उन्हें कुछ ही देर में भरपेट भोजन करा देतीं, जिससे बच्चे अपने आस-पास के लोगों के व्यवहार, प्रकृति के नियमों व सांस्कृतिक धरोहरों से अवगत हो सुनियोजित जीवन-पथ पर अग्रसर हो सकें। बाल्यावस्था में सुने गीत, कथा, देखे खेल-तमाशे आगे चलकर विचारों को सही दिशा-निर्देश, बल व तर्क देने में सहायक सिद्ध होते हैं। साथ ही लोकशास्त्र में लोकमूल्य किसी भी समाज, लोकसंस्कृति का आधार होते हैं। आल्हा-ऊदल कथानक में आक्रांताओं से अपनी मातृभूमि की रक्षा करना सबसे बड़ा लोकमूल्य रहा है। उसी प्रकार क्षत्रिय का परम कर्तव्य अपने गाँव, राष्ट्र व समाज की रक्षा करना था।

'वर्ष अठारह क्षत्री जीबें, आगे जीबें तो धिक्कार।' इसी प्रकार सत और पत जैसे लोकमूल्य के लिए स्त्री, पुरुष सम्यक् रूप से समर्पित थे। कुल की पत, घर की पत, पति की पत, भाई की पत, ससुराल की पत व मायके की पत निभाना स्त्री के लिए आवश्यक हो गया।

'मोरी पत राखो गिरधारी' या

'शरन गहे की पत राखियों मइया चौखट गही हैं

तेरे दौरे की हो माया।'

'कुल की परंपरा है लाज पत निभाए जइयो बेटी।'

सत और पत का निर्वाह करने वाले 'हरदौल' को जनमानस ने लोकनायक ही नहीं 'लोकदेवता' बना दिया।

भौजी से भोजन बनवा के पक्के विष मिलवाएँ
 शुरू करी ज्यौनार जहर की हँस के कौर उठाए भौजी के लाला
 नीले पर गए अंग-अंग फिर फिर गई नैन पुतरियाँ खा पछाड़
 भौजाई गिरी हा लाला भए पराए भौजी के लाला।⁶

अपने भाई का शक दूर करने के लिए हरदौल ने अपनी माँ समान भाभी द्वारा जहर मिली खीर खाकर देवर-भाभी के रिश्ते को पावन कर दिया।

वस्तुतः लोककथा व लोकगीत मूलतः लोकजीवन के अंगभूत हैं। वे केवल मनोरंजन, गम दूर करने व वैचारिक मंथन के लिए नहीं हैं। उनका मूल प्रयोजन जीवन से जुड़ा व्यापार है। दैनिक श्रम, खेती, व्यवसाय, मनोरंजन मांगलिक उत्सव या ऋतुपूर्व हो, प्रत्येक के साथ उसकी लय मिली हुई है। चक्की के गीत की टेक 'हो राम' वहीं रुकती है, जहाँ एक धानी पूरी होती है। धान रोपने का गीत धान रोपने की प्रक्रिया का अंग है। उसी समय लहर के साथ उतरेगा। उसी प्रकार जब किसान रात को खेतों की रखवाली के लिए एकत्र होते हैं या जब मजदूर सुपारी काटते, बीड़ी बनाते हैं। तब श्रमगीतों की तरह कहानियों से भी समय आसानी से कटता है। वास्तव में किस्सा, कहानियों का कल्पना-संसार लंबे श्रम की एकरसता को सह्य बना देता है। साथ ही मांगलिक उत्सव व तीज-त्योहार जीवन में उत्साह व उमंग का संचार करते हैं। शादी-ब्याह के अवसर पर गाए जाने वाले गीत व बधाइयाँ वातावरण में और भी रंग भर ऊर्जा का निर्माण करते हैं। श्रीराम-विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले गीत लोकसंस्कृति के आधार बन गए हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम भारतीय संस्कृति के लोकनायक रहे हैं, उनकी लगन चढ़ने पर महिलाएँ गाने लगती हैं—

कंकन चूरा मोरे रामजू खों सोहे
 सो हातन बिच गजरा दरसत है
 रामजू के दरसन खों जियरा ललचात है
 आज मोरे रामजू खों लगुन चढ़त है।

तेल चढ़ने पर महिलाएँ बढ़े प्रेम भाव में डूब, ढोलक की ताल पर गाती हैं—
 सो हरदी मिला के कैसो झलकत है
 से आज मोरे रामजू खों तेल चढ़त है
 कुँवारिन ने मिल तेलो चढ़ायो
 से नारिन मंगलगीत मढ़त है।

बरात को भोजन कराने के अवसर पर जनकपुर की महिलाएँ मस्ती में भरकर गारी गाते हुए व्यंग्य करती हैं—

कोऊ कहै मुनिन के चेला लाल सुने तो ग्यानी
 फूल वाटिका में सब भूले, निकरे बगुला ध्यानी
 प्रेम भरे अटपटे बैन सुन राद्यौ मन मुस्क्यावै
 गारी गावे जू। जनकपुर...।'

शादी के उपरांत कंकन छोड़ने की रस्म में फिर महिलाओं का मनोविनोद प्रारंभ हो जाता है—

बे तो जनकपुरी की नारीं, हाँसी करें तुम्हारी

अब तो सीखो सिया खों कर जोखो
कठिन कंकन छोरबो।⁷

अतः इस प्रकार विवाह के मांगलिक अवसर पर तमाम उपचारों के गीत उन्हीं उपचारों के साथ सहज उल्लसित होते हैं।

लोकसंस्कृति के नाम पर हर प्रादेशिक क्षेत्र की अपनी विशेषताएँ हैं। उनके गीत, लोककथाएँ, नृत्यशैली, नाट्यशैली सभी में भिन्नता मिलेगी। लोकमुहावरे पर पकड़ के बिना न हम सामुदायिक संस्कृति को आत्मसात् कर सकते हैं, न घरेलू संस्कृति को समझ सकते हैं। आधुनिक नागरिक आज भी शादी-ब्याह, जचगी के अवसर पर पारंपरिक पद्धतियाँ अपनाता है। फिल्मकार, कथाकार वर्तमान समस्याओं के निवारण के लिए कल्पना में अतीत का छोक लगाता है, तो बड़े-बड़े राजनेता वोट की राजनीति के लिए जनता से जुड़ने के लिए उनकी प्रादेशिक सांस्कृतिक, सामाजिक विरासतों को याद कर उनका चहेता बनते हैं। अतः प्रत्येक रीति-रिवाज और सांस्कृतिक प्रदर्शन मौखिक परंपरा और लोकरूपों का ऋणी है।

यह समझना कि लोकशास्त्र असंस्कृत जीवन की रचना है, सबसे बड़ा प्रमाद होगा, क्योंकि संस्कृति का जो शाश्वत राग हो सकता है, वही लोकजीवन का श्वास बन स्पंदित होता है। संस्कृति का क्षणभंगुर चौंधियाने वाला उपकरण स्वयमेव लुप्त हो जाता है, वह लोकजीवन तक नहीं पहुँच पाता। लोकजीवन का उपकरण लोकजीवन के भीतर से उत्पन्न हो जिस स्वर को गुंजायमान करता है, वही संस्कृति का सबसे सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् राग होता है। यही राग हमें वेदना-संवेदना, चर-अचर, लोक-लोकोत्तर, जीव-जंतु, व अन्य सभी के साथ संतुलन बनाकर चलने की सीख, समझ देता है। अतः भारतीय परिप्रेक्ष्य में लोकशास्त्र वो मंगलविधायिनी दृष्टि है, जो निरंतर सजग हो संधायिनी शक्ति के रूप में टूटती-बिखरती संस्कृति के लिए कार्य करती रहती है, साथ ही महान और पावन संस्कृति के वे अंकुर सींचता रहा है जो कालांतर में वट-वृक्ष बन आँधी-पानी से लोकजीवन की ढाल व ओट बन सके।

संदर्भ

1. लोक और लोक का स्वर, विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, 2009, पृ० 36
2. लोक और लोक का स्वर, विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, 2009, पृ० 11
3. साहित्यिक निबंध, डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी एवं गंगासहाय 'प्रेमी', हरीश प्रकाशन मंदिर, आगरा, पृ० 528
4. साहित्यिक निबंध, डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी एवं गंगा सहाय 'प्रेमी', हरीश प्रकाशन मंदिर, आगरा, पृ० 529
5. भारत की लोककथाएँ, संपादन ए०के० रामानुजन, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, पृ० 16
6. अभिनव ज्योति सत्र 2008-2009, डॉ० उपेंद्रकुमार तिवारी, महक प्रिंटर, उरई (जालौन) उ.प्र., पृ० 31-32
7. अभिनव ज्योति सत्र 2008-2009, डॉ० हरिमोहन पुखार, महक प्रिंटर, पृ० 16,18

मकान नं. 48, सेक्टर-7,
आर०के०पुरम्, दिल्ली 110022
मो० 9210036466

स्त्री सशक्तीकरण में उन्नीसवीं शताब्दी के चिंतकों की भूमिका

डा० ऊषा सिंह (शोधार्थिनी), पोस्ट डाक्टरल,
एम०एम०एच० कॉलेज,
गाजियाबाद (उ०प्र०)

स्त्री-सशक्तीकरण से तात्पर्य है सामाजिक व भौतिक सुविधाओं की उपलब्धता, राजनीतिक और आर्थिक नीति-निर्धारण में भागीदारी, कानूनी सुरक्षा व अधिकारों का सुनिश्चित होना, साथ ही उनके भीतर ऐसे वैचारिक परिवर्तन लाना, जिससे उनका स्वयं के बारे में तथा अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति जागरूकता उत्पन्न हो सके। स्त्री की वैचारिक शक्ति को पोषित और पल्लवित करने में शिक्षा व आर्थिक स्वावलंबन रूपी कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारत में वैदिक काल से ही शिक्षा से तात्पर्य समझा जाता है कि शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जो जीवन के विविध क्षेत्रों में सच्चे मार्ग को निर्देशित करता है। शिक्षा के माध्यम से स्त्री एवं पुरुष जिस ज्ञान एवं दृष्टिकोण को अर्जित करते हैं, उससे शौर्य, बुद्धि, कार्यक्षमता एवं कीर्ति का विकास होता है।

वैदिकयुग में स्त्रियों की उन्नत स्थिति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उस समय की सर्वोच्च शिक्षा (ब्रह्मज्ञान) प्राप्त करने में भी स्त्रियों पर कोई प्रतिबंध नहीं था। वेद और शास्त्रों में पारंगत होने के अतिरिक्त वे ऋचाओं की रचना भी करती थीं। 'लोपामुद्रा, घोषा, सूर्या, अपाला, मैत्रेयी, गार्गी, सावित्री, यमी, विश्वंभरा, श्रद्धा, शती, देवयानी आदि नामों के उल्लेख मिलते हैं, जिन्हें विद्वत्ता के आधार पर ऋषिका अथवा ब्राह्मणी कहा गया है। लड़कों के साथ लड़कियों का उपनयन संस्कार होता था। जो नारी आध्यात्मिक व्यवसाय के रूप में कार्य करतीं, उन्हें उपाध्याय या आचार्या कहा जाता। सद्योद्वाहा छात्रा सोलह वर्षों तक अध्ययन करने के उपरांत वैवाहिक जीवन स्वीकार करतीं। स्त्री अपने पति के साथ यज्ञादि कर्म इस युग में करती थी। बाल-विवाह नहीं होते थे। विधवा के पुनर्विवाह पर प्रतिबंध नहीं था। बल्कि उन्हें 'नियोग' का भी अधिकार था।¹ उस समय के समाज में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' की उक्ति चरितार्थ होती थी। वैदिककाल स्त्रियों की दृष्टि से स्वर्णिम काल था। उस समय सहशिक्षा का प्रचार था। लोक-संचालन की प्रक्रिया का भार नर-नारी दोनों पर था। परंतु धीरे-धीरे परिस्थितियों में परिवर्तन आया। समाज का अधःपतन होने लगा, नारी अपने पूर्व प्रतिष्ठित स्थान से वंचित होने लगी।

उत्तर वैदिककाल या ब्राह्मणकाल में वर्णव्यवस्था के कारण और अनार्यों से संपर्क के कारण स्त्रियों को पुरुषों से अलग हटकर रहना पड़ा। इससे उनका ज्ञान और अनुभव कम होने

लगा। पुरुष राज्यों को जीतने और उन्हें एक सूत्र में बाँधने में लगे थे, तो स्त्रियों का अधिक समय खेती का काम देखने, कपड़े बुनने, तीर-कमान बनाने व घर-गृहस्थी की देखभाल करने में लगने लगा, जिससे बौद्धिक कार्यों में वे पिछड़ गईं। शिक्षा के अभाव में बाल-विवाह होने लगे। मनु द्वारा स्थापित वर्ण-व्यवस्था के कारण स्त्री पर सदैव पिता, पति व पुत्र का अंकुश आवश्यक माना जाने लगा, जिससे नारी के मन और बुद्धि का विकास कुंठित हो गया और वह पति की दासी बनकर रह गई। इस प्रकार उत्तर वैदिककाल से ही भारतीय नारी की स्थिति में गिरावट आने लगी। परिवर्तनशील युग में नारी की स्थिति बद से बदतर होती चली गई।

मध्ययुग में विशेषतः मुसलमानों के आक्रमण के समय देश में स्त्रियों के गौरव का अवमूल्यन होता रहा। बाह्य आक्रमणकारियों के भय से कन्या जन्म को अशुभ माना जाने लगा। उनके विवाह की आयु 4-5 वर्ष तक पहुँच गई। बाल-विधवा, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा आदि कुरीतियाँ इसी काल की देन हैं। स्त्रियों को शिक्षा से पूर्णतः वंचित कर दिया गया। शिक्षा के अभाव व कुरीतियों के कारण स्त्रियों के अधिकार न्यून होते चले गए। अतः मध्यकाल नारी के पराभव और शोषण का युग सिद्ध हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय स्त्रियों की दशा शोचनीय हो गई। अशिक्षा, अज्ञानता, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, बाल-विवाह, बहुविवाह व सतीप्रथा जैसी कुप्रथाओं की जंजीरों ने उन्हें जकड़ लिया था, परंतु उन्नीसवीं शताब्दी की चिंतनशील चेतना के द्वारा उनके उत्थान के लिए विविध सामाजिक और शैक्षिक प्रयास किए गए। आधुनिक भारत में सर्वप्रथम राजा राममोहन राय ने सन् 1828 ई० में ब्रह्मसमाज की स्थापना कलकत्ता में की। इस संस्था में महिला-शिक्षा, समाज सेवा और स्वतंत्रता के लिए राष्ट्र-भावना का जागरण-तीन महत्त्वपूर्ण कार्यों पर बल दिया जाता था। ब्रह्मसमाज पहली संस्था थी, जिसने महिलाओं के पृथक् अस्तित्व को मान्यता दी। उन्हें घरों से बाहर कार्य के लिए अवसर व प्रोत्साहन दिया। 'आज से डेढ़ सौ साल पहले वह पहले व्यक्ति थे, जो अंधश्रद्धा और रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ रहे थे। उनकी विचारधारा में तर्क की प्रधानता थी, जो लॉक, हूम और रूसों के अनुरूप थी। उनके नेतृत्व में ब्रह्मसमाज ने कई प्रकार की कुरीतियों पर प्रहार किया। जाति-प्रथा को उन्होंने अमानवीय कहा, सतीप्रथा के विरोध में उनका प्रयास सर्वथा स्मरणीय रहेगा।² राजा राममोहनराय के पश्चात् केशवचंद्र सेन ने ब्रह्मसमाज का नेतृत्व कर 1842 में बाल-विवाह रोकने व विधवा-विवाह को कानूनसम्मत घोषित करवाने में मुख्य भूमिका निभाई। स्वामी दयानंद सरस्वती ने स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया और हिंदू-समाज की बुराइयों का उन्मूलन कर, स्त्री-पुरुष दोनों के लिए वैदिककाल में उच्च मूल्यों को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। प्रमुख शिक्षाशास्त्री श्री ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने स्वयं 25 बालिका विद्यालयों की स्थापना की तथा इन्हीं के अथक प्रयत्नों से 19 वीं शताब्दी के मध्य में पहला महिला कॉलेज (बेथुने कॉलेज) कलकत्ता में स्थापित हुआ। सामाजिक कुरीतियों को मिटाने तथा स्त्रियों को उनके अधिकार दिलाने में अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया। 'प्रार्थना समाज के प्रमुख श्री महादेव गोविंद रानाडे थे। 'रानाडे ने जिस समाज-सुधार पर बार-बार बल दिया, वह है मनुष्यता की समानता। वे जाति-पाँति की प्रथा के विरुद्ध और अंतर्जातीय विवाह के पक्षधर थे। स्त्री-शिक्षा पर उन्होंने बार-बार बल दिया। वे भारतीय संस्कृति को नवीन वैज्ञानिक विचार-प्रणाली के अनुरूप ढालने का प्रयत्न कर रहे थे।³ उन्होंने अपनी पत्नी को भी स्त्री-उद्धार कार्यों में अग्रणी

बनाया। रामकृष्ण मिशन के संस्थापक विवेकानंद का मुख्य उद्देश्य शिक्षा, स्त्री पुनरुद्धार और आर्थिक प्रगति थी। महात्मा गांधी स्त्री-शिक्षा व समानता पर बल देते थे। डॉ॰ बाबासाहब अंबेडकर ने हिंदू कोड बिल बनाकर स्त्रियों को कानूनी अधिकारिणी बनाया। अतः उपर्युक्त मनीषियों के सत्प्रयासों से स्त्री-विमर्श को नवीन चेतना प्राप्त हुई, जिसका प्रभाव आधुनिक काव्य-चिंतन (साहित्य) पर प्रतिबिंबित हुआ।

हिंदी साहित्य में भारतेन्दु का आविर्भाव एक महान् क्रांतिकारी के रूप में हुआ था। इस युग में नर का नारी पर कठोर शासन था। शिक्षा के अभाव में नारी असहाय, बंदिनी थी। युगपुरुष भारतेन्दुजी ने विधवा-विवाह, बाल-विवाह, स्त्री-स्वतंत्रता आदि विषयों को लेकर पुरुषों का दृष्टिकोण बदलने का प्रयास किया। 'अँग्रेजी सभ्यता के अनुकरण को उन्होंने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया, किंतु अँग्रेजी जीवन प्रणाली में जो ग्राह्य बातें हैं उनको स्वीकार करने में उन्हें हिचक भी नहीं थी। उन्होंने लिखा है, 'मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ, इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुल लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें और बातों में जिस भाँति अँग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती हैं, संतानगण को शिक्षा देती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का कामकाज सँभालती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदाह और कलह में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृहदेवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है।' भारतेन्दुजी के समकालीन कवियों में प्रमुख रूप से प्रेमघन, श्री प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, राय देवीप्रसाद व श्री बालमुकुंद गुप्त ने नारी में नवीन चेतना का शक्तिशाली मंत्र फूँककर द्विवेदीयुग का मार्ग प्रशस्त किया।

राष्ट्रीयता द्विवेदीयुग की प्रधान भावधारा थी, किंतु स्त्रियों को और भी परिष्कृत दृष्टि से देखा गया। द्विवेदीयुग के प्रवर्तक महावीरप्रसाद द्विवेदी नारीमुक्ति के प्रबल समर्थक थे। उनके द्वारा संपादित पत्रिका 'सरस्वती' में नारी-संबंधी लेख छपते थे, जिसमें नारियों का उनके अधिकार के साथ कर्तव्यों का भी बोध कराया जाता था। 'मैथिलीशरण गुप्त जी ने उर्मिला, यशोधरा, विष्णुप्रिया, हिडिंबा, कुब्जा जैसी काव्य की उपेक्षिताओंकी त्याग-भावना, क्षमाशीलता, प्रेम, समाज विकास में उनका योगदान, उनकी सहनशक्ति इत्यादि गुणों को प्रकाशित कर नारी को आदर की दृष्टि से देखा। हरिऔध जी की 'प्रियप्रवास' में राधा को मानवी रूप में देखने की दृष्टि रही है।' अतः नारीत्व के प्रति आदर, सहानुभूति, उदारता एवं उच्च भावना का दृष्टिकोण द्विवेदीयुग की कविता में व्यक्त हुआ है।

'प्रेमचंद के लिए नारी-जागरण की समस्या सामाजिक परिवर्तन और बदलाव के व्यापक कार्यक्रम का अनिवार्य हिस्सा था। उनकी स्पष्ट समझ थी कि आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित नारी को छोड़ कर सामाजिक क्रांति की कल्पना भी नहीं की जा सकती।' प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में नारी-शिक्षा का समर्थन व्यापक रूप से किया है...उनकी दृष्टि में नारी शिक्षा का उद्देश्य रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से मुक्ति तथा कुशल नागरिक निर्माण के लिए होना चाहिए।'

'छायावाद में नारी की सामाजिक उपयोगिता स्वीकार कर 'माया' रूप का परित्याग कर, उसे शक्ति रूप में स्वीकारा गया। पहली बार नारी में आंतरिक तथा बाह्य सौंदर्य में समन्वय स्थापित कर उसके पवित्र व्यक्तित्व पर गर्व अनुभव किया गया।' निराला जी भी स्त्री-शिक्षा के समर्थक थे। उनका विचार था, 'स्त्रियाँ जब शिक्षित होंगी तो स्वावलंबी बन सकेंगी तथा देश के

आर्थिक जीवन में भाग ले सकेंगी। ज्ञान के बिना जीवन निरर्थक है, निर्वाह होना कठिन है, स्वावलंबन नहीं आता। स्वावलंबन कोई पाप नहीं प्रत्युत पुण्य है। हमारे देश के लोग इस समय आधे हाथों से काम करते हैं, उनके आधे हाथ निष्क्रिय हैं। जब स्त्रियों के भी हाथ काम करने लग जाँएँगे कार्य की सफलता तभी प्राप्त होगी।⁹ महादेवी वर्मा छायावादी धारा का एक मूल्यवान अंग रही हैं। भारतीय नारियों के अंतकरण की वेदना, विविध प्रकार के शोषण, सामाजिक विषमताओं का मर्मस्पर्शी चित्रण इनकी रचनाओं में मिलता है। स्वावलंबन और शिक्षा के संदर्भ में इनका विचार है कि 'समाज की दो आधार शिलाएँ हैं—अर्थ का विभाजन और स्त्री पुरुष का संबंध। इनमें से यदि एक की भी स्थिति में विषमता उत्पन्न होने लगती है, तो समाज का संपूर्ण प्रासाद हिले बिना नहीं रह सकता। अर्थ सामाजिक व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि उसके द्वारा जीवन के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त होती है।'¹⁰

अतः उन्नीसवीं शताब्दी की चिंतनशील चेतना के द्वारा नारी उत्थान के लिए विविध सामाजिक और शैक्षिक प्रयास किए गए। आधुनिक कवि इस संघर्ष-प्रधान युग में नारी को केवल सहचरी के साथ सहधर्मिणी बनाकर जीवन-यात्रा पूरी करना चाहता है। सामाजिक संचेतना के प्रत्येक आयाम में नारी के प्रगतिशील कदम सामयिक विकास को नई दिशा दे रहे हैं।

संदर्भ

1. आधुनिक हिंदी काव्य में नारी, डॉ॰ जे॰एम॰ देसाई, विद्या प्रकाशन, कानपुर, पृ॰ 18
2. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेंद्र, पृ॰ 438
3. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेंद्र, पृ॰ 439
4. आधुनिक हिंदीकाव्य में नारी, डॉ॰ जे॰एम॰ देसाई, पृ॰ 56
5. आधुनिक हिंदीकाव्य में नारी, डॉ॰ सौ॰ जे॰एम॰ देसाई, पृ॰ 183
6. प्रेमचंद के कथासाहित्य में नारी समस्याएँ, डॉ॰ मेहरदत्ता पाथरीकर, पृ॰ 174
7. प्रेमचंद के कथासाहित्य में नारी समस्याएँ, डॉ॰ मेहरदत्ता पाथरीकर, पृ॰ 86
8. आधुनिक हिंदी काव्य में नारी, डॉ॰ जे॰एम॰ देसाई, पृ॰ 183
9. प्रबंध प्रतिमा, निराला, पृ॰ 91
10. शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ॰ 134

मकान नं॰ 48, सेक्टर-7
आर॰के॰पुरम्, दिल्ली 110022
मो॰ 9210036466

परंपरा और आधुनिकता-बोध

डॉ० वीरेंद्रकुमार शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर, अध्यक्ष, हिंदी-विभाग

आर०एस०एम०पी०जी० कॉलेज

धामपुर बिजनौर (उ०प्र०)

अविच्छिन्न क्रम या शृंखला, नियमित या चला आता हुआ अटूट सिलसिला, अनुक्रम एवं बहुत दिनों से चली आती प्रथा या प्रणाली इत्यादि अर्थों का वाहक शब्द 'परंपरा' हस्तांतरण की उस प्रक्रिया को कहते हैं, जिससे किसी भी समाज के पूर्वजों द्वारा स्थापित मान्यताएँ, नियम, सिद्धांत, मत आदि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्वाभाविक रूप से या सहजता से अपना अस्तित्व बना लेते हैं। आस्था और विश्वास पर आधारित परंपरा इन्हीं के सहारे सतत अपनी यात्रा करती रहती है। परंपरागत कुछ मूल्यों में इतनी सनातन एवं शाश्वत जीवंतता होती है कि वे प्रत्येक काल में अपनी उपयोगिता सिद्ध करते हुए समाज में स्थिरता एवं दृढ़ता लाने के साथ-साथ संपूर्ण समाज को एकसूत्रबद्ध कर देते हैं और कुछ ऐसे तत्त्व परंपरा से आते रहते हैं, जो कालानुसार उपयोगी न होकर भी कालप्रवाह के साथ केवल जनविश्वास एवं भावना के सहारे अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं, किंतु समाज को गति एवं विकास देने में उनका योगदान नहीं होता। यद्यपि परंपरा दोनों की संवाहिका होकर अपनी इस धरोहर को अग्रिम पीढ़ी को यथावत् अर्थात् हू-ब-हू हस्तांतरित करती है, किन्तु यह पूर्णतः अंधानुकरण के रूप में गृहीत नहीं होती। इस संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार अत्यंत समीचीन हैं। उनके अनुसार—'परंपरा का शब्दार्थ है एक का दूसरे को, दूसरे का तीसरे को दिया जाने वाला क्रम। वह अतीत का समानार्थक नहीं है। परंपरा जीवंत प्रक्रिया है, जो अपने परिवेश के संग्रह-त्याग की आवश्यकताओं के अनुरूप निरंतर क्रियाशील रहती है। कभी-कभी इसे गलत ढंग से अतीत के सभी आचार-विचारों का बोधक मान लिया जाता है।'¹

वस्तुतः परंपरा अतीत को साथ लेकर चलते हुए भी उसे अतीत की पुनरावृत्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को हू-ब-हू वही नहीं देती, जो अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से प्राप्त करती है। कुछ-न-कुछ छँटता रहता है, बदलता रहता है, जुड़ता रहता है। इतने पर भी इस प्रक्रिया में इतना परिवर्तन नहीं हो पाता, जो समाज की रूढ़िग्रस्तता को दूर कर उसे नया रूप प्रदान कर सके। इस प्रकार परंपरा अतीत एवं परिवर्तन के मध्य कड़ी का काम करते हुए काल-शृंखला को बाँधे रहती है और अतीत की धरोहर को थोड़े से परिवर्तन एवं काट-छाँट के साथ अगली पीढ़ी को सौंप देती है। यह क्रम बराबर चलता रहता है और समाज इसी तरह परंपरा का सूत्र पकड़कर अपनी गति से बढ़ता रहता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परंपरा को समाज की

विरासत कहा जा सकता है, जो सामाजिक संगठन के सभी स्तरों पर प्रकट होती है। समाज की संरचना में इसकी सराहनीय भूमिका होती है, बिना इसके समाज की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। यथार्थतः परंपरा समाज को सुव्यवस्थित तो करती है, किन्तु साँचा पुराना ही होता है। अतः परंपराबद्ध समाज में दीर्घकाल के बाद ठहराव आ जाता है, जिसमें गति लाने के लिए आधुनिकता आवश्यक है। 'आधुनिकता' शब्द 'अधुना' से निर्मित विशेषण 'आधुनिक' शब्द का भाववाचक रूप है। अँग्रेजी के 'मॉडर्न' शब्द का हिंदी पर्याय यह 'आधुनिक' शब्द 'नया', 'नए युग का', 'नए जमाने का' नए ढंग का, 'नूतन', आधुनिक परिपाटियों पर चलने वाला, 'नए फैशन का', नवयुगीन तथा आधुनिक काल के व्यक्ति के लिए प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आधुनिकता 'आधुनिक' को मान्यता प्रदान करने वाली धारा है, नयापन, आधुनिक दृष्टिकोण या विचारधारा, प्राचीन धार्मिक परंपराओं का नवीन विचारों से सामंजस्य करना, नवीन शैली, नवीनता एवं नवीन अभिव्यंजना का बोध कराने के लिए आधुनिकता शब्द का व्यवहार किया जाता है। नवीनता, नूतनता अर्वाचीनता के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग प्रचलित है। एक सापेक्ष शब्द के रूप में इस शब्द को 'पुरातनता', 'प्राक्तनता' 'प्राचीनता' का विरोधी कहा जा सकता है तथा पुरातनता के प्रति अस्वीकृति एवं नूतनता के प्रति आग्रह इसके मूल मंत्र हैं, लेकिन यथार्थ रूप में आधुनिकता न तो पूर्णतः प्राक्तन का परित्याग है और न ही सर्वथा नूतनता का ग्रहण, बल्कि दोनों की सामंजस्यपूर्ण स्वीकृति है।

आधुनिकता अतीत के संग्राह्य तथ्यों को भी ग्रहण करती है और समसामयिकता के प्रति सजग करती हुई नवीन को भी अपनाने की प्रेरणा देती रहती है तथा अतीत एवं विगत को नई दृष्टि में ढालकर प्रस्तुत करती रहती है। इस प्रकार समय एवं परिवेश में बँधकर आधुनिकता दिक्काल सापेक्ष होते हुए भी अतीत की कड़ी से जुड़ी रहती है। आधुनिकता का संबंध केवल नूतनता धारण नहीं है। वस्तुतः आधुनिकता का आधार तर्क और विवेक है। वही आधुनिक है, जो तर्क और विवेक की कसौटी पर खरा उतरता हुआ समय एवं देश के अनुरूप हो। आधुनिक के इसी रूप से आधुनिकता का संबंध है, न कि नूतनता के उस रूप से जिसकी संगतता प्रश्नचिह्नित हो।

परंपरा और आधुनिकता में अंतर होते हुए भी दोनों में ऐसा संबंध है जो एक को दूसरे से जोड़े हुए है। एक के आधार में आस्था, विश्वास एवं भावना है तो दूसरे के मूल में तर्क एवं विवेक है। परिवर्तन दोनों का ही मूल है, किंतु परंपरा में परिवर्तन, इतनी धीमी गति से होता है कि दृष्टिगोचर नहीं हो पाता, जबकि आधुनिकता में परिवर्तन अपने क्रांतिकारी रूप में उपस्थित होकर एक नई चमक से दृष्टि को चकाचौंध कर देता है। यद्यपि परंपरा का झुकाव पुरातनता की ओर तथा आधुनिकता का झुकाव नूतनता की ओर होता है, लेकिन पुरातन से आशय अनुपयोगी तथा नूतन से आशय उपयोगी ग्रहण करते हुए, एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्राचीनता की परिधि में आने वाले ऐसे तत्त्वों को ग्रहण करना भी आधुनिकता का गुण है, जो वर्तमान के लिए अपनी उपयोगिता बनाए रखते हैं। ऐसा भी संभव नहीं कि नया अपने पूर्ण रूप में आधुनिकता के लिए ग्राह्य हो। आधुनिकता परंपरा का सर्वथा परित्याग कर आगे नहीं बढ़ती, बल्कि परंपरा से जुड़ने वाली अगली कड़ी के रूप में अपनी पहचान बनाती है। छाया के समान सर्वदा पीछे चलने वाली परंपरा का प्रवाह जब रुक जाता है और रूढ़ि के रूप में जब वह

अपना अस्तित्व खो बैठती है, तो युगानुरूप चेतना उसके प्रवाह को एक नई गति प्रदान करती है। साहित्य में इसी चेतना को आधुनिकता की संज्ञा दी जाती है, अन्यथा आधुनिकता फैशन मात्र बनकर रह जाती है और ऐसी आधुनिकता उसी प्रकार उपेक्षणीय है, जिस प्रकार अनुपयोगी रूढ़िग्रस्त पुरातनता।

परंपरा से पृथक् आधुनिकता का अस्तित्व नहीं है क्योंकि आधुनिकता परंपरा से लाभान्वित होती है। वर्तमान के प्रति सचेत व्यक्ति को अतीत के प्रति भी सजग रहना पड़ता है, अन्यथा वह वर्तमान की दिशा का सही निर्धारण नहीं कर सकता और वह अतीत को वर्तमान में ढालने के दायित्व को पूरा करने में भी असमर्थ रहेगा। इतिहास से संबंध रखने वाली परंपरा का महत्त्व आधुनिकता से कम नहीं है, क्योंकि समाज की जिस आधुनिकता का जन्म होता है, उसके उत्स परंपरा में ही मिलते हैं। इसीलिए डॉ० त्रिभुवनसिंह ने कहा है कि पारंपरित धाराएँ जिस बिंदु पर पहुँचकर अंतःसलिल हो जाएँ, वहीं से आधुनिकता की स्रोतस्विनी को मानना चाहिए।²

वैसे तो आधुनिकता युग-सापेक्ष होकर प्रत्येक युग में परंपरा से पृथक् हर उस नूतन निर्माण से संबंध रखती है, जो वर्णित युग की समसामयिक परिस्थितियों से प्रभावित हुआ है, किंतु इसके जन्म की कहानी यूरोपीय इतिहास के मध्यकाल, जिसे अंधकारयुग कहा जाता है, से संबंध रखती हुई बीसवीं शताब्दी के प्रथम विश्वयुद्ध से विशेष रूप से जुड़ी हुई है। 15वीं 16वीं शताब्दी में चर्च, धर्म एवं राजा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए मनुष्य की मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठा का उद्घोष करने वाले जिस मानववाद को पुनर्जागरण ने जन्म दिया, वे मानववाद-संबंधी विचारधाराएँ प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप एकाएक ध्वस्त हो गईं और फिर जिस चेतना का जन्म हुआ, उसका संबंध भी आधुनिकता से है। इस प्रकार यूरोपीय आधुनिकता का इतिहास पुनर्जागरणकाल से लेकर लगभग चार-पाँच सौ वर्षों की यात्रा तय करता है, लेकिन भारतीय इतिहास में इसे 19वीं सदी के अंतिम चरणों से प्रारंभ मानकर आज तक देखा जा सकता है। डॉ० त्रिभुवन के शब्दों में, 'विश्व के क्षितिज पर जो विज्ञान का आलोक हुआ, उसने 19वीं शताब्दी के हिंदी-साहित्य में नवजागरण का संचार किया, जो उस युग की आधुनिकता थी। यह आधुनिकता उस समय प्रभुसत्ता के रूप में प्रतिष्ठित अँग्रेजी जाति और पश्चिमी विज्ञान के आलोक से मिली थी, जो अपनी उपयोगिता समाप्त कर रूढ़ि हो चली है। विवेच्य आधुनिकता जनतांत्रिक सत्ता के आलोक में प्रतिष्ठित नए मानवमूल्यों के प्रति आस्थावान हो उत्तरोत्तर बौद्धिक होती जा रही है, जो आज का युग-धर्म है।'³

आधुनिकता के इस ऐतिहासिक संदर्भ की प्रस्तुति का आशय यह है कि आधुनिकता परंपरागत मान्यताओं में क्रांतिकारी परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरती हुई नवीन मान्यताओं की स्थापना से संबंध रखती है। अतः जब-जब नए मूल्य स्थापित होते हैं, तब-तब आधुनिकता का जन्म होता है। यह कभी समाप्त नहीं होती, क्योंकि इसका संबंध मनुष्य के चिंतन से है और हर जागरूक चिंतक कभी स्थिर विचारधारा का पोषक न होकर उसमें कुछ ऐसा नया जोड़ता रहता है, जिससे उसकी आधुनिकता का प्रकटीकरण होता है। उसकी यह आधुनिकता समसामयिक तो होती है, साथ ही सम्पूर्ण युग का प्रतिनिधित्व करती हुई युगीन संवेदना को प्रकाशित करती है। साहित्यिक दृष्टिकोण से भी आधुनिकता का यही रूप संगत है। डॉ० बच्चन सिंह ने आधुनिकबोध के कवि का रूप दर्शाते हुए कहा भी है कि आधुनिकबोध का कवि परंपरा को स्वीकार करते

हुए भी उसे अस्वीकार करता है। वह भौतिक जगत् की सीमाओं से अपने को प्रतिबंधित और असहाय नहीं मानता। उसके बंधन के प्रति वह तीखी आलोचनात्मक नजर रखता है। उसकी कड़वी, तीखी अनुभूतियों से गुजरता है, उन्हें भोगता है, झेलता है, संघर्ष करता है...इन संघर्षों और टकराहटों से उसके काव्य में विशिष्ट ऊर्जा बराबर मूल्यगत होती है।⁴

इस प्रकार सच्चा आधुनिकताबोध परंपरा एवं आधुनिकता के संग्राह्य तत्त्वों की सामंजस्यपूर्ण प्रस्तुति से संबद्ध है। यदि परंपरा सतत् निर्माणाधीन पुल है, तो आधुनिकता उसके निर्माण की क्रिया को गति प्रदान करने वाली एक ऐसी चिंतन प्रक्रिया है, जिससे उस पुल में कुछ नया जुड़ता रहता है। यह बात अलग है कि आधुनिकता परंपरा के प्रति प्रतिक्रिया है, किंतु उसका साथ छोड़ देना उसका ध्येय नहीं। एक सुव्यवस्थित, संगठित एवं प्रगतिशील समाज के लिए दोनों की ही आवश्यकता है। परंपरा यदि रुका हुआ पग है, तो आधुनिकता उठा हुआ पग। गति दोनों ही पगों का परिणाम है। असंतुलन भी ठीक नहीं, अन्यथा पतन की संभावना बलवती हो सकती है।

संदर्भ

1. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, परंपरा और आधुनिकता निबंध से उद्धृत
2. डॉ० त्रिभुवन सिंह, साहित्यिक निबंध, पृ० 279
3. वही, पृ० 280
4. डॉ० बच्चन सिंह, समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती, पृ० 50-51

अन्य

वृहत् हिंदी शब्दकोश

संस्कृत-हिंदीकोश (वामन शिवराम आप्टे)

कला और साहित्य में नारी

डॉ० वीरेन्द्रकुमार शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग

आर०एस०एम०पी०जी० कॉलेज

धामपुर बिजनौर (उ०प्र०)

सृष्टि के प्रारंभ से ही नर-नारी दोनों की सत्ता एवं महत्ता रही है। दोनों के मध्य विवेकशून्य वासनात्मक संबंधों से जहाँ समाज में विकृति, अपराध, अत्याचार, अन्याय आदि पनपने से अवनति होती है, वहीं शुद्ध प्रेमजन्य संबंधों से समाज में स्वस्थ वातावरण के निर्माण से विकास का पथ प्रशस्त होता है। सदगुणों से दोनों प्रशंसा एवं आदर के पात्र होते हैं, अवगुणों से निंदा एवं अनादर पाते हैं। स्वभाव एवं आकृति की भिन्नता के कारण दोनों के पृथक्-पृथक् दायित्व एवं कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं, पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि दोनों एक-दूसरे के दायित्वों एवं कर्तव्यों का निर्वाह करने में अक्षम हैं। यही कारण है कि दोनों ने एक-दूसरे का पूरक होकर समाज के निर्माण, विकास एवं प्रगति के सोपानों पर सतत बढ़ते रहने में अपनी-अपनी सराहनीय भूमिका अदा की है। प्राचीन ऋषियों, महापुरुषों, समाज-सुधारकों आदि का सदा यह प्रयास रहा है कि दोनों परस्पर स्वस्थ संबंधों का निर्वाह करते हुए एक-दूसरे की महिमा को समझें।

इसी प्रयास में नारी के प्रति होने वाले अत्याचार, अन्याय, शोषण आदि को दृष्टिगत रखते हुए प्राचीन काल से सम्मानित नारी को कन्या, सहचरी, सहधर्मिणी, अर्द्धांगिनी एवं जननी तथा कुशल गृहिणी आदि सभी के दायित्वों एवं कर्तव्यों के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी आगे लाने की आवश्यकता का अनुभव समाज करने लगा है। आज की नारी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, शैक्षिक आदि सभी क्षेत्रों में अपनी महत्ता प्रदर्शित करने में नर के पीछे नहीं है। ऐसा माना जाता है कि सृष्टि की एक प्रमुख रचना स्त्री सामाजिक संरचना में अहम भूमिका निभाती है। वह सृष्टि का मूल घटक और सौंदर्य का ऐसा स्रोत है, जहाँ से मानव के रागात्मक भाव उत्पन्न होते हैं। वह कभी कलाकार की प्रेरणा बनकर कला के अनेक रूपों को जन्म देती है, कभी हाथ में क्रांति का परचम और तलवार लेकर आगे बढ़ती है और कभी कालजयी कृतियाँ भी इसी से अमरता प्राप्त करती हैं।¹ इस सत्य को अंगीकार करते हुए मैं ऐसा मानता हूँ कि कला एवं साहित्य की प्रेरणा नारी ने इन दोनों क्षेत्रों में भी अपनी सराहनीय भूमिका स्वयं स्थापित की है।

कला नारी का जन्मजात एवं सहज गुण है। जैसे-जैसे वह बड़ी होती जाती है, विभिन्न कलाएँ गाना, बजाना, नाचना, गृह-सज्जा विषयक विविध क्रिया-कलाप, घर के अन्य कार्य आदि अनेक रूपों में वह अपनी विचित्र आभा बिखरेती दृष्टिगोचर होती है। शिक्षित होने पर इनमें

परिष्कार-परिमार्जन हो जाने से निखार एवं अद्भुत चमक आ जाती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्राचीनकाल में नारी की कला-शिक्षा को भी महत्त्व दिया गया है। उसे संगीत, नृत्य, अभिनय एवं ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख है कि स्त्रियाँ अपनी विशिष्ट वेश-भूषा से सुसज्जित होकर नृत्य करती थीं।² इसी प्रकार रामायण में ऐसा वर्णन है कि कैकेयी सैनिकशिक्षा में प्रवीण थी और उसने युद्ध में अपने पति दशरथ के साथ जाकर उनकी प्राणरक्षा की थी।³ महाकवि कालिदास ने रघुवंश में अज-विलाप के अवसर पर अज के मुख से पत्नी इंदुमती को ललितकला सीखने वाली प्रिय शिष्या कहकर उसके ललित कला-ज्ञान का संकेत किया है—‘गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कला-विधौ।’ शूद्रक ने अपने मृच्छकटिकम् नाटक में वाद्य संगीत में निपुण नारियों का उल्लेख किया है। हर्ष की नाटिका ‘रत्नावली’ में ऐसा वर्णित है कि स्त्रियाँ, नृत्य एवं चित्र में कुशल हैं। ध्यातव्य है कि रावण के अंतःपुर की स्त्रियाँ वाद्ययंत्रों में प्रवीण थीं।⁴

हमारे संस्कृत-साहित्य में जिन चौसठ कलाओं⁵ का उल्लेख है, उनमें पहेलियाँ बुझाना, अंत्याक्षरी, कठिन श्लोक कहना, पुस्तक-वाचन, नाटकादि का ज्ञान, कविता द्वारा समस्या-पूर्ति, विभिन्न देशों की भाषा का ज्ञान, याद किए श्लोकों (कविताओं) को दुहराना, शब्दकोशों का ज्ञान, काव्यालंकार का ज्ञान आदि साहित्यिक क्रिया-कलाप भी सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से संस्कृत-साहित्य अनेक विदुषी, विद्या-संपन्न एवं मंत्र-द्रष्टा ऋषिकाओं से परिपूर्ण है। सभी शिक्षित स्त्रियाँ केवल कला-ज्ञान से ही संपन्न दिखाई नहीं देतीं, बल्कि राजशेखर का कहना है कि पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। ज्ञान का संस्कार आत्मा से संबंध रखता है, उसे स्त्री या पुरुष का भेदभाव नहीं है। सुनते और देखते हैं कि अनेक राजकुमारियाँ, मंत्रियों की पुत्रियाँ, वेश्याएँ एवं नाट्यप्रयोक्ताओं की स्त्रियाँ शालों की प्रकांड विदुषियाँ और कवयित्रियाँ हैं।⁶ अतः सभी स्त्रियाँ कला-ज्ञान रखती थीं। आशय यह है कि साहित्य भी कला है और साहित्यिक निपुणता भी स्त्रियों के कला-ज्ञान की सूचक है।

हिंदी-साहित्य के साहित्यकार भी स्त्रियों के कला-ज्ञान के समर्थक रहे हैं। अधिक विस्तार में न जाते हुए यदि आधुनिक कवियों की धारणाओं पर विचार किया जाए, तो महाकवि जयशंकर प्रसाद ‘कामायनी’ में श्रद्धा की कला-शिक्षा का उल्लेख करते हैं⁷ तथा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त उर्मिला के माध्यम से कहते हैं—

मैं ललित कलाएँ भूल न जाऊँ वियोग वेदन में।

सीख पुरवाला शाला खुलवा दे क्यों न उपवन में।

प्राचीनकाल से लेकर आज तक स्त्रियों ने कला का ज्ञान प्राप्त कर सुरुचिपूर्ण, मनोरम, आकर्षक समाज का निर्माण कर कला के विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। संपूर्ण विश्व ही सांस्कृतिक कार्यक्रमों में स्त्रियों की कलात्मक अभिरुचि एवं प्रदर्शन से कृतकृत्य होता है। मांगलिक अवसरों पर भी स्त्रियों का कलात्मक योगदान दिखायी देता है। स्त्रियों की कला-शिक्षा के लिए अनेक विद्यालय, संस्थान आदि भी खुले हुए हैं, लेकिन विभिन्न अवसरों एवं कार्यक्रमों में उनके कलात्मक प्रदर्शन को ही उनके कला-क्षेत्र के अवदान का मूल्यांकन करना उचित नहीं, उनकी अप्रतिम प्रतिभा तो वहाँ दिखायी देती है, जहाँ वे स्वतंत्रतापूर्वक स्वयं निर्देशन, शिक्षण करती दृष्टिगोचर होती हैं या फिर अपनी कला-शिक्षा से

कला के उत्कृष्ट शिखर को चूमती हैं। इस दृष्टि से यहाँ कुछ नाम अवलोकनीय हैं।

लोककला के रूप में लोकगीत-गायिकाओं में कल्पना (असम) तथा मालिनी अवस्थी एवं तीजनबाई (उ०प्र०) आदि हैं। मालिनी अवस्थी को पूर्वांचल एकता मंच की ओर से उ०प्र० के पूर्व मुख्यमंत्री श्री जगदीशका पाल द्वारा भिखारी-ठाकुर सम्मान से अलंकृत किया गया है। तीजनबाई ने अपने गायन-कौशल से राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यधिक ख्याति अर्जित की है। बनारस घराने की शास्त्रीय गायिका गिरिजादेवी ख्याल, ठुमरी, दादरा, चैती, कजरी आदि गायन के लिए प्रसिद्ध हैं। कर्नाटक संगीत की कोकिला डॉ० एम०एस० सुब्बालक्ष्मी, दक्षिण भारत की कोकिला के०एस० चित्रा तथा भारतीय कोकिला लता मंगेशकर ऐसी नारियाँ हैं, जिनकी माधुर्यपूर्ण गायन-शैली ने कीर्तिमान स्थापित किए हैं। लता मंगेशकर का नाम तो सर्वाधिक गीत रिकार्ड करने के कारण गिनीज बुक में दर्ज हो चुका है। इन्हीं की बहिन आशा भोंसले ऐसी प्रसिद्ध गायिका हैं, जिन्होंने अनेक फिल्मों में मधुरिम स्वर में गीत गाए हैं। बेगम अख्तर भी प्रख्यात गायिका कहलाती हैं।

वाद्य-संगीत में वायलन-वादिका के रूप में कला रामनाथ तथा अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त रविशंकर की पुत्री अनुष्काशंकर के नाम उल्लेखनीय हैं। नृत्य-संगीत में शोभनानारायण (कथक), मल्लिका साराभाई, कुचिपुड़ी एवं भरतनाट्यम यामिनी कृष्णामूर्ति (भरतनाट्यम), सोनल मानसिंह (ओडीसी), उमा शर्मा (कथक), शोभा नायडू, सुधाचंद्रन, प्रेरणा देशपांडेय, श्रेयसी डे, मृणालिनी साराभाई, चित्रा विश्वेश्वरन, अनीता रत्नम्, डीना गांगुली, सितारादेवी आदि कुशल नृत्यांगनाएँ हैं। मल्लिका साराभाई को 'पद्मभूषण' से विभूषित किया जा चुका है।

फिल्म-निर्देशन के क्षेत्र में दीपा मेहता, अपर्णा सेन, मीरा नायर तथा दूरदर्शन धारावाहिकों के निर्देशन के लिए एकता कपूर उल्लेख्य महिलाएँ हैं। बालाजी टेलीफिल्म की एकता कपूर को इंडो अमेरिकन सोसाइटी द्वारा 'मोस्ट आउटस्टैंडिंग वूमन एंटरप्रेन्योर अवार्ड' से अलंकृत किया गया है। फिल्म एवं थियेटर में अभिनय से जुड़ी अभिनेत्री श्रीमती जोहरा सहगल वह सम्मानित महिला हैं, जिन्हें अभिनय के क्षेत्र में उल्लेखनीय भूमिका अदा करने के कारण भारत सरकार ने 2010 में 'पद्मविभूषण' की उपाधि प्रदान की है। फिल्म-जगत् में मधुबाला, मीनाकुमारी, वहीदा रहमान, शबाना आजमी, दीपा साही, नंदिता दास, स्मिता पाटिल, नरगिस, प्रतिमा वेदी आदि ने कलात्मक फिल्मों से प्रसिद्धि प्राप्त की तथा अन्य कामर्शियल फिल्मों से प्रसिद्धि पाने वाली अनेक अभिनय कर्त्रियाँ हैं, जिनके नाम से प्रतिदिन परिचित होने वाले दर्शकों को स्वयं ही अभिज्ञान हो जाना चाहिए।

चित्रकला के क्षेत्र में अनुपम प्रतिभाशाली स्त्री शोभा बूटा हैं, जिन्होंने 1943 ई० में दिल्ली में उत्पन्न होकर 1982 से 84 तक संस्कृति-मंत्रालय, दिल्ली से स्कॉलरशिप प्राप्त करने के बाद इसी मंत्रालय से फेलोशिप भी प्राप्त की। इन्होंने 1985 में आकार गैलरी, चंडीगढ़, 1992 ई० में स्कूल गैलरी, एमर्सटर्डम, 1994 ई० में जहाँगीर आर्ट गैलरी, मुंबई, 2006 ई० में मैलेट आर्ट गैलरी, नई दिल्ली, 2007 ई० में ब्लू आर्ट गैलरी, सिंगापुर तथा 2008 ई० में आइकान गैलरी, केलिफोर्निया में एकल प्रदर्शन करते हुए राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा अर्जित की। 1986 ई० में साहित्य कला परिषद्, दिल्ली द्वारा इन्हें सम्मानित किया गया। अमृता शेरगिल और माधवी पारिख भी इस क्षेत्र की अद्वितीय महिला कलाकार हैं।

इसके अतिरिक्त विद्यालयों, महाविद्यालयों, संस्थानों में कार्यरत शिक्षिकाओं, प्राध्यापिकाओं, अध्ययनरत छात्राओं, फिल्म, दूरदर्शन, रेडियो आदि से जुड़ी विभिन्न कला-प्रदर्शिकाओं, अशिक्षित एवं शिक्षित घरेलू महिलाओं आदि के योगदान भी सराहनीय हैं। इनके द्वारा कला के विभिन्न रूप सजाये एवं सँवारे गए हैं और सतत ऐसा होता रहेगा, क्योंकि कला जीवन से पृथक् नहीं है। जीवन का आमोद-प्रमोद कला से ही संभव है। आज स्थापत्य एवं वास्तुकला में नारी-शिक्षा हो रही है। कई महिलाएँ इस क्षेत्र में कार्यरत हैं। कालांतर में उनके योगदान का उचित मूल्यांकन होगा। विभिन्न खेलों, सरकसों आदि में भी नारियों का कलात्मक रूप परिलक्षित होता रहा है। युद्ध में विजय दिलाने वाली सैनिककला, जो प्राचीन काल में कैकेयी के पास थी, की ओर भी महिलाओं की रुचि निरंतर बढ़ रही है। पुलिस, सेना आदि रक्षाबलों में उनकी भागीदारी सराहनीयता को प्राप्त कर चुकी है। अमर उजाला की समीक्षा ठीक ही है कि 'किसी भी क्षेत्र में महिलाएँ पुरुषों के पीछे नहीं हैं। अब तो सेनाओं में शामिल होकर देश की रक्षा करने में भी वे पुरुषों की बराबरी कर रही हैं।' ⁸ इस विचार से प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती 64 कलाओं के अतिरिक्त पर्वतारोहण, ध्रुवस्थलों पर गमन, आकाश या अंतरिक्षगमन आदि नवीन कला-क्षेत्र, जिसमें महिलाएँ योगदान दे चुकी हैं, प्रतिष्ठित होने पर कोई भी कला-क्षेत्र नारी से अछूता नहीं रहेगा।

वस्तुतः साहित्य कला का ही एक रूप है, पर इसे पृथक् विवेचन का विषय मानकर इस क्षेत्र में नारियों के योगदान का मूल्यांकन करने की आवश्यकता है। आज हमारे समक्ष विश्व की अनेक भाषाओं के साथ-साथ भारत की मुख्य एवं प्रतिष्ठित भाषा संस्कृत, संविधान-सम्मत सभी प्रांतीय भाषाओं, बहुप्रचलित संपर्क भाषा हिंदी में स्त्रियों द्वारा लिखित प्रचुर साहित्य उपलब्ध है, पर समस्त भाषाओं के साहित्य की कुछ आवश्यक चर्चा यथावसर करते हुए केवल हिंदी की जननी संस्कृत-साहित्य का मूल्यांकन करने के उपरांत विशेष रूप से हिंदीभाषा के साहित्य को ही विवेचन का विषय बनाया जा रहा है, अन्यथा अनावश्यक विस्तार ही होगा।

भारत का प्रथम साहित्य ऋग्वेद स्त्रियों द्वारा रचित साहित्य की घोषणा करता है। ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख है कि कक्षीवान की पत्नी घोषा ने तपस्या के बल पर आध्यात्मिक दृष्टि से संपन्न होकर दशम मंडल के दो लंबे सूक्तों का दर्शन किया।⁹ अगस्त्य-पत्नी लोपामुद्रा ने अपने पति के साथ 1/179 सूक्त का दर्शन किया। आपाला (10/91) और रोमशा के साथ सूर्य-पुत्री सूर्या भी ऋषिका हैं। (10/85)। उदात्त काव्य-रचना का उदाहरण प्रस्तुत करने वाली इन नारियों के अतिरिक्त विश्वसारा आत्रेयी, श्रद्धा, वैवस्वती, यमी, वाग्देवी, तत्त्वज्ञानियों की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य को हतप्रभ करने वाली ब्रह्मवादिनी गार्गी, याज्ञवल्क्य-पत्नी मैत्रेयी, अदिति, दाक्षायणी, दाक्षिणा प्राजापत्या, वागंभृणी, रात्रि, भरद्वाजी, गोधा, इंद्राणी, शची, पौलीमी प्रभृति ऋषिकाएँ, कौसल्या, कैकेयी, सीता, सावित्री, शिवा, विदुला, गौतमी, आचार्या, अरुंधती, दमयंती, कुंती, गांधारी, सत्यभामा, सुभद्रा, प्रभुदेवी आदि अनेक विदुषी नारियाँ विद्या एवं बुद्धिबल से संपन्न हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उच्च शिक्षित ये नारियाँ काव्य-रचना करने में प्रवीण थीं, जैसाकि राजशेखर के कथन में यह कहा चुका है। इसी क्रम में ब्रह्मावतार मंडन मिश्र की भारती, जिन्हें सरस्वती का अवतार माना जाता है, ने अपने पति को शास्त्रार्थ में पराजित होते देखकर जगद्गुरु शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था। इनमें भी काव्य-रचना की सामर्थ्य थी। बीसवीं शताब्दी में लघु कथाकार पंडिता क्षमाराव तथा बालकथाकार श्रीमाता के नाम महिला रचनाकारों की दृष्टि से

विचारणीय हैं। आशय यह है कि संस्कृत के समृद्ध साहित्य में नारी-रचनाकर्त्रियाँ विद्यमान हैं, जिससे प्रतीत होता है कि रचनाधर्मिता भारतीय नारियों का प्रारंभ से ही गुण रहा है। इसका विशिष्ट उदाहरण शीला भट्टारिका का पांचाली रीति में निपुण होना है।¹⁰

जहाँ तक हिंदी-साहित्य की बात है, तो इसमें स्त्रियों का प्रारंभिक योगदान तो नगण्य है, लेकिन भक्तिकाल से उनकी उपस्थिति होकर आज विपुल परिमाण में उनका लिखा साहित्य उपलब्ध है। अतः हिंदीभाषा में साहित्य-सृजन की दृष्टि से नारियों के अवदान को देखना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि आधुनिककाल में अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार-प्रसार से सामाजिक सुधार, संबंध-औदार्य एवं विचार-स्वातंत्र्य की सीमा ज्यों-ज्यों विस्तृत होती गई, त्यों-त्यों स्त्री-समाज में पुरुषों के साथ उन्हीं के समान कर्मक्षेत्र के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में कार्य करने की क्षमता और परिपाटी बढ़ती गई। आज वह समय आ गया है, जब हमारे साधारण घरों की स्त्रियाँ भी साहित्य, सामाजिक सुधार एवं राजनीतिक आंदोलनादि में सराहनीय सफलता के साथ बड़े उत्साह और हर्ष से कार्य कर रही हैं।¹¹

हिंदी-साहित्येतिहास की पुस्तकों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इतिहासकार एवं आलोचक प्रारंभ में एक-दो रचनाकर्त्रियों का उल्लेख करके ही अपने कार्य को पूर्ण समझ बैठे हैं। ऐसा प्रतीत होता है या तो ज्ञान का अभाव है या फिर स्त्री-रचनाधर्मिता की कमी। आज कई ऐसी पुस्तकें सामने आ चुकी हैं, जिनमें स्त्री-रचना-कर्त्रियों के विषय में ज्ञानोपलब्धि होती है। सर्वप्रथम 1905 ई० में 35 कवयित्रियों की कविताएँ उनके संक्षिप्त परिचय के साथ संकलित कर 'मृदुवाणी' नामक स्त्री-काव्य-संकलन मुंशी देवीप्रसाद के द्वारा निकाला गया। उसके बाद 1933 ई० में स्त्री-लेखिकाओं की प्रतिभा और कला-रसिकता के संबंध में हिंदी-प्रेमियों के ज्ञान को अधिक विस्तृत करने के उद्देश्य से गिरिजादत्त शुक्ल एवं ब्रजभूषण शुक्ल ने 'हिंदी काव्य-कोकिलाएँ' पुस्तक संपादित की, जिसके प्राक्कथन में कृष्णकांत मालवीय ने लिखा है- 'हिंदी साहित्य के स्वरूप-निर्माण में देवियों ने जो भाग लिखा है, उसकी ओर हिंदी के समालोचकों का ध्यान अभी विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुआ है। इस ग्रंथ के लेखकों ने इस अभाव की पूर्ति का उद्योग किया है, यह संतोष की बात है।' इसी वर्ष गिरिजादत्त शुक्ल ने हिंदी की कहानी-लेखिकाएँ और उनकी कहानियाँ नाम से कृति का प्रकाशन किया। इनसे भी पहले 1931 ई० में ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' के संपादकत्व में बृहद काव्य-संकलन 'स्त्रीकाव्य-कौमुदी' प्रकाशित हुई। इन्होंने ही प्रयाग महिला विद्यापीठ के पाठ्यक्रम हेतु 1938 ई० में 'स्त्री-कवि-संग्रह' शीर्षक पुस्तक संपादित की। आज इतने शोध-ग्रंथ, पुस्तकें आदि सामने हैं कि स्त्री-रचनाकारों के विषय में प्रारंभ काल से आधुनिककाल तक पर्याप्त जानकारी उपलब्ध हो जाती है, उनका नामोल्लेख करना यहाँ उचित न होगा, पर उनको दृष्टिगत रखते हुए कुछ प्रासंगिक चर्चा अपेक्षित होने से महिला-रचनाकारों के हिंदी-साहित्य में योगदान का संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है-

आदिकाल में अभाव का अनुभव होता है और भक्तिकाल में सर्वप्रथम संत कवियों के मध्य बावरी पंथ की प्रमुख संत कवयित्री बावरी साहिबा का नाम आता है। इनकी पुस्तक तो अनुपलब्ध है, पर सम्राट् अकबर की समकालीन उच्चकुल की इस महिला की काव्य-प्रतिभा एवं भावप्रवणता का अनुमान इस सवैये से लगाया जा सकता है-

बावरी रावरी का कहिये, मन हवै के पतंग भरै नित भाँवरी।

भावरी जानै संत सुजान, जिन्हें हरिरूप हिये बरसावरी।
 साँवरी सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनंत लखावरी।
 बावरी सोह तेहारी प्रभु, गति रावरी देखि भई मति बावरी।¹²

इसी क्रम में दूसरा उल्लेखनीय नाम कृष्णभक्त कवयित्री मीरा का है, जिन्हें केवल शुद्ध ब्रजभाषा या राजस्थानी मूल की होने के कारण राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा में लिखी ग्यारह रचनाओं 1. गीतगोविंद की टीका, 2. नरसीजी का मायरा अथवा माहेरो, 3. राग सोरठ का पद, 4. मलार राग, 5. रागगाविंद, 6. सत्यभामानुं रूसणं, 7. मीरा की गरबी, 8. रुकमणी मंगल, 9. नरसी मेहता की हुंडी, 10. चरीत (चरित्र), 11. स्फुट पद या फिर केवल स्फुट पद की लेखिका के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए वियोगिनी मीरा या प्रेम दीवानी मीरा कहा जाता है। यद्यपि इन्होंने कहीं-कहीं राम का भी गुणगान किया है, पर ये पूर्णतः कृष्णभक्ति में रंगी उत्कृष्ट काव्य-रचना को प्रस्तुत करती हैं। आधुनिक संदर्भों में इनका मूल्यांकन करते हुए समीक्षक जीवनसिंह की अवधारणा है कि पूरी दुनिया में ही पितृसत्ता ने औरत के साथ बेहद बदसलूकी की है, लेकिन यह समय ही है कि सब-कुछ को उलट-पुलटकर देखा जा रहा है। स्वयं औरत के संज्ञान में आता जा रहा है कि पितृसत्ता ने औरत के मन को इतना कुंद बना दिया है कि अपनी स्थितियों, अभावों, पीड़ाओं, त्रासों और उपेक्षाओं के बारे में स्वयं वह भी इसी सोच-विचार की अभ्यस्त रहती चली आई है, जो उसके संस्कार पर पितृसत्ता ने थोप दिया है। एक जमाने में मीरा ने बड़ी कोशिश की थी और अपने घर-परिवार, कुटुंब-कबीले के रूढ़िबद्ध संस्कारों से मुक्त होकर एक स्वनिर्मित स्वाधीन परिवेश में साँस लेने का प्रयास किया था।¹³ इस दृष्टि से मीरा आधुनिककाल की सशक्त महिला को पीछे छोड़ती हैं। कृष्ण-भक्ति और उसके काव्य से प्रभावित मुस्लिम महिला ताज ने भी भक्तिपूर्ण एवं सरस रचना देकर हिंदी-साहित्य को समृद्ध करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। प्रारंभ में मुसलमानों की घरेलू भाषा, फिर पंजाबी एवं फारसी मिश्रित ब्रजभाषा (सुनो दिलजानी) का सुंदर प्रयोग इनके काव्य में हुआ है। कहीं-कहीं खड़ीबोली भी है। भाषा अलंकृत तथा सानुप्रासिक होने से रचनाओं में प्रभावोत्पादकता आई है। इन्होंने पद तथा दरबारी कवियों की भाँति कवित्त-सवैये-वाली शैली को अपनाकर अत्यंत उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। रीतिकाल में दरबारी कवियों की भाँति सहृदया एवं रसिका कवयित्री शेख, जिनकी काव्य-कला-कुशलता एवं वाक्चातुरी ने प्रेमी एवं रसिक कवि आलम को मोहित कर लिया था, ने प्रसाद गुण-युक्त, सरल, अलंकृत एवं सुव्यवस्थित प्रांजल भाषा में प्रेम की पीर की स्वानुभूतिपरक एवं मार्मिक व्यंजना की है। इनकी रचनाओं में बारीक ख्याली एवं नाजुकमिजाजी भी मिलती है। इनका प्रेमात्मक काव्य घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवियों के काव्य की समानता करता है। इनके कुछ छंदों में भक्ति एवं शांतरस का भी आस्वाद मिलता है।

गणिका प्रवीणराय की काव्य-कुशलता एवं रसिकता अत्यधिक सराहनीय है। इन्होंने कठिन काव्य के प्रेत आचार्य केशवदास के प्रभाव से कवित्त, सवैये दोहा, गारी आदि छंदों में श्रृंगारिक एवं लोककथात्मक रचनाएँ कीं, पर आज कोई काव्य-ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इनके काव्य-कौशल से प्रभावित केशवदास ने रामचंद्रिका में रामकलेवा के प्रसंग में गारी लिखवाकर इनकी साहित्यिक महत्ता को प्रतिष्ठापित किया है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सन्त चरणदास की दो शिष्याओं—दयाबाई एवं सहजाबाई—का नाम भक्तिरस से अनुस्यूत रचनाएँ लिखने

की दृष्टि से विशेष स्मरणीय है। इनकी भाषा अत्यंत साधारण है। इनके विषय में कहा जाता है, 'संतों ने प्रायः आत्मा को ब्रह्म की प्रेमिका के रूप में मानकर संसार में आने पर उसे पृथक् हुआ कहा है और सांसारिक जीवन को वियोग-जीवन मानते हुए प्रेम की पीर से भरी हुई मर्मस्पर्शनी व्यंजना के साथ आत्मानुभूति का अच्छा चित्रण हुआ है। यही बात इन दोनों देवियों की रचनाओं में भी न्यूनाधिक रूप से पायी जाती है।'¹⁴ दिल्ली निवासी हरिप्रसाद वैश्य की पुत्री सहजोबाई की रचना का एक उदाहरण द्रष्टव्य है, जिसमें इन्होंने गुरु के प्रति आभार प्रदर्शित किया है—

चिऊँटी जहाँ न चढ़ सके, सरसों न ठहराय।
सहजो कुँ या देस में, सतगुरु दई बसाय।
सहजो गुरु रँगरेज-सा, सबही कुँ रँग देत।
जैसा तैसा मन्न है जो कोई आवे सेत।¹⁵

साहित्य-रसिक महाराज नागरीदास की पत्नी माने जाने वाली रसिकबिहारी ब्रजभाषा एवं मारवाड़ी में दोहा एवं पद-शैली में भक्तिरस से पूर्ण रचना कर सहृदया एवं भक्ति-प्रवणा स्त्री के रूप में प्रसिद्ध हुई। इनकी रचनाएँ नागरीदास की रचनाओं के साथ संगृहीत हैं। गिरिधरदास एवं दीनदयाल गिरि के समान कुंडलिया छंद की प्रयोगकर्त्री महिलाओं में साई एवं छत्रकुँवरि बाई के नाम उल्लेख्य हैं। गिरिधर की स्त्री साई ने अपने पति की संकल्पित कुंडलियों की संख्या को पूरा करने में उन्हीं जैसी भाषाशैली को अपनाकर असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। छंद के प्रारंभ में प्रयुक्त 'बाई' नाम से ही दोनों की रचना में अंतर दिखाई पड़ता है। छत्रकुँवरि बाई ने उक्त छंद में नूतनता की सृष्टि की है। 'दोहे के चतुर्थ चरण में आवृत्ति करते हुए इन्होंने न तो पंचम चरण में अपना नाम या उपनाम ही रखा और न ही कुंडलिया के प्रारंभिक शब्द की आवृत्ति उसके अंतिम चरण में की है।'¹⁶

इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा में दोहा-चौपाई शैली अपनाकर प्रबंधात्मक कृष्णभक्ति काव्य रचने वाली रानी बाँकावती, 'ब्रजदासी', कुंडलिया कवित्त आदि विविध छंदात्मक शैली के आश्रय से शृंगार एवं शांतिरस से परिपूर्ण उत्कृष्ट एवं प्रभावमयी रचनाकर्त्री सुंदर कुँवरिबाई, अवधी भाषा में गोस्वामी तुलसीदास के समान दोहा-चौपाई एवं अन्य छंदों में रामविषयक 15 काव्य-ग्रंथों को लिखकर अद्वितीय काव्य-प्रतिभा का परिचय देने वाली प्रताप कुँवरिबाई, इन्हीं के आश्रय से नयी शैली से रचना करनेवाली राम कुँवरिबाई, प्रबंधकाव्योचित दोहा-चौपाई शैली में कृष्णकाव्य लिखने वाली विख्यात राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की दादी रत्नकुँवरि बीबी, यथानुरूप, अवधी एवं ब्रजभाषा में दोहा-चौपाई तथा पद-कवित्त आदि विविध छंदों की शैली अपनाकर एक रामकाव्य (अवध-विलास) और दो कृष्णकाव्यों—1. कृष्ण-विलास, एवं 2. राधा-रासविलास' (गद्य-पद्य मिश्रित काव्य) का प्रणयन करने वाली रीवानरेश रघुराजसिंह की सुपुत्री बाघेली विष्णुप्रसाद कुँवरि के नाम भी हिंदी-साहित्य में सराहनीय योगदान के लिए उल्लेख्य हैं।

रीतिकाल की शृंगारिक भाव-भूमि में शृंगाररस के साथ भक्ति की गंगा प्रवाहित करने वाली इन कवयित्रियों के साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन करने के बाद जब आधुनिक धरती पर हमारे पग पड़ते हैं, तो स्वतंत्रतापूर्व-युग में कुछ कम तथा स्वातंत्र्योत्तर युग से आज तक की कालावधि में बहुसंख्यक रचनाकर्त्रियाँ गद्य-पद्य दोनों ही साहित्य-रूपों में रचना करती दिखायी देती हैं। सबका उनकी कृतियों के साथ मूल्यांकन करना यहाँ संभव नहीं है। अतः कुछ की चर्चा

करने के उपरांत केवल नामाल्लेख करने से ही उनके साहित्यिक योगदान का बोध सजग एवं जागरूक लोगों को हो जाना चाहिए।

साहित्य का एक रूप तथा 64 कलाओं में से एक कलारूप समस्यापूर्ति के क्षेत्र में प्रभावी मुक्तक काव्य-रचना करने में सर्वप्रथम नाम चंद्रकलाबाई का आता है। 'काव्य-सुधाधर' में प्रकाशित इनकी इन रचनाओं के लिए पुरुषकवि भी लालायित रहते थे। 'रामचरित्र' तथा 'करुण शतक' इनकी अन्य उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। इनके काव्य में मतिराम-काव्य की सी छटा दिखायी देती है। वियोगीहरि की गुरु एवं छतरपुर महाराज की महारानी श्री युगलप्रिया कृष्णभक्ति काव्य तथा श्री रामप्रिया देवी कृष्णकाव्य के साथ समस्यापूर्ति के लिए प्रशंसनीय हैं। विभिन्न महापुरुषों तथा बंगला एवं अँग्रेजी के प्रभाव से नवोन्मेष का पथ तय करते हुए श्री नवीनचंद्र राय की पुत्री श्री हेमंतकुमार चौधरानी पंजाब में उर्दू के स्थान पर हिंदी का प्रचार-प्रसार तथा स्त्रीशिक्षा में जागृति एवं उन्नति करने में अग्रणी होकर हिंदी में रचना भी करती थीं। स्त्री-उपयोगी विषयों पर कवित्त, सवैया, बरबै, पद तथा सोहर आदि छंदों में मिश्रित ब्रजभाषा (अवधी एवं खड़ीबोली) अपनाकर 'भामिनी-विलास', 'वनिता बुद्धिविलास' एवं 'सूपशास्त्र' जैसे ग्रंथों को लिखकर रानी रघुवंशकुमारी ने गृहलक्ष्मी एवं सहधर्मिणी के दायित्व-निर्वाह के लिए स्त्रियों को सचेत किया है। अपने पति लाला भगवान दीन से काव्यशास्त्र एवं छंदशास्त्र में शिक्षित श्रीमती बुंदेलवाला ओजस्वी वीरकाव्य, नीतिकाव्य, प्रेमकाव्य तथा तुकबंद कवियों पर उपदेशात्मक व्यंग्य के लिए अभिज्ञात हैं। नवीन छंदों के आश्रय से खड़ीबोली में लिखने वाली श्री तोरनदेवी शुक्ल 'लली' समसामयिक विषय अपनाकर देशानुराग, प्रेम एवं वीरभाव से अनुस्यूत रचनाओं के लिए जानी जाती हैं।

राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए स्वदेश-प्रेम तथा पारिवारिक जीवन से संबद्ध रचनाओं को नवीन छंदों में साहित्यिक खड़ीबोली अपनाकर जिन्होंने प्रस्तुत किया, वे प्रयाग की श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान 'झाँसी की रानी' रचना से प्रख्यात होकर 'त्रिवारा' और 'मुकल' में संकलित बहुसंख्यक काव्य कृतियाँ दे गयी हैं। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा की इस कवयित्री के बाद वेदना की कवयित्री महादेवी वर्मा अपने विविध भाषिक ज्ञान तथा चित्रकार एवं दार्शनिक की दृष्टि से संपन्न होकर नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, यामा, दीपशिखा, संधिनी जैसी उत्कृष्ट काव्य-कृतियों एवं गद्य की निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण आदि विधाओं में गद्य के उत्तम रूप-प्रस्तुति के साथ-साथ संस्मरणात्मक रेखाचित्रों को दिशा देने में अग्रणी हैं। पद्मभूषण से सम्मानित इन्हें 'यामा' पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया। प्रारंभ में ब्रजभाषा में रचना करने के बाद खड़ीबोली के परिष्कृत, परिमार्जित रूप को रचना में प्रतिष्ठित कर अन्य साहित्यकारों के लिए भी ये प्रेरणामयी हैं। इनके गीतों में व्यथा, पीड़ा, आशा, अज्ञात प्रिय के प्रति प्रणय-निवेदन एवं साधना की विभिन्न अनुभूतियों के स्वर श्रुतिगोचर होते हैं। हृदय और बुद्धि के विरोध को दूर कर इनके अखंड स्थिति का समर्थन करते हुए इन्होंने अनुभूति को विचार से समन्वित करने का सफल प्रयत्न किया है। अभिव्यक्ति में सांकेतिकता एवं सूक्ष्मता तथा प्रतीक-विधान, आलंकारिता, चित्रात्मकता, मधुरता आदि गुणों से समन्वित इनकी सभी रचनाएँ सराहनीय हैं। इनका क्षेत्र छायावाद से आगे तक जाता है। ऐसी अनुपम रचनाकर्त्री हिंदी साहित्य में दुर्लभ है।

इनके बाद सरस्वतीदेवी, जाहनवीदेवी, शांतिदेवी, केशवदेवी, मुन्नीदेवी, चुन्नीदेवी, पार्वतीदेवी, लीलावती, सत्यवालादेवी, चकोरीदेवी आदि तथा इसी क्रम में नयी कविता से जुड़ी

चंद्रकिरण सोनरिक्शा, तारसप्तक में प्रतिष्ठित शकुंतला माथुर, सुमित्राकुमारी सिन्हा (विहाग एवं पथिनी काव्य-कृतियाँ) आदि अनेक महिला काव्य-रचनाकारों की काव्य-प्रतिभा दिखाई देती है। काव्य के क्षेत्र में सावित्री डागा, सुधा गुप्ता, इला डालमिया, इंदु जैन, स्नेहलता स्नेह, विद्यावती कोकिल, कंचनलता सब्बरवाल, सरोजिनी प्रीतम, सावित्री शर्मा, इंदिरा नूपुर, कुसुम अंसल, तेजी ग्रोवर, स्नेहमयी चौधरी, विद्याबिंदु सिंह, मिथिलेश दीक्षित, उर्मिला कौल, राजकुमारी शर्मा, शशि तिवारी, मीना अग्रवाल, पल्लवी प्रशांति, इंदिरा अग्रवाल, शैल रस्तोगी आदि के अतिरिक्त भारत की साहित्यिक संस्था 'अखिल भारतीय कवयित्री सम्मेलन' (AIPC) से जुड़ी सभी प्रांतों की देश-विदेश में नाम कमाने वाली अनेक महिला कवयित्रियाँ हैं। इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने के कारण निर्मल प्रभा, अमृता प्रीतम, पद्मा सचदेव, नवनीता देवसेन, प्रभुकांत कौर, वी० सुगंध कुमारी, मंजीत तिवाना, बालामणि अम्मा जलपत आदि महिलाओं ने 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार से सम्मानित होकर अपनी पृथक पहचान बनाई है।

काव्येतर विधाओं में भी महिला रचनाकारों ने अपनी महिमा प्रतिष्ठित की है। कथात्मक विधा (उपन्यास एवं कहानी) के क्षेत्र में मुंशी प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी से लेकर, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोवती, शिवानी, उषा प्रियंवदा, रजनी पन्निकर, मेहरुन्निसा परवेज, विजय चौहान, ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, निरुपमा सेवती, अनीता औलक, वर्तिका अग्रवाल, दीप्ति खंडेलवाल, आशापूर्णा देवी, महाश्वेता देवी, अमृता प्रीतम, दिनेशनदिनी डालमिया, मृणाल पांडेय, शशिप्रभा शास्त्री, मालती जोशी, चंद्रकिरण सोनरेक्शा, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, मंजुल भगत, सावित्री परमार, सूर्यबाला, निर्मला जैन, इंदु जैन, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, नमिता सिंह, उषा यादव, मैत्रेयी पुष्पा, राजी सेठ, सुनीति उदयवार, उमा राव, तुलसी वेणुगोपाल, एम०के० विनोदनी देवी, कमला दास, अनिता देसाई, शशि देशपांडे, कुसुम अंसल, सिम्मी हर्षिता, तेजी ग्रोवर, पोपटी हीरानंदानी, तसलीमा नसरीन आदि महिला रचनाकार प्रतिष्ठित हैं। एकांकी-रचना की दृष्टि से श्रीमती विमला लूथरा, शचीरानी गुर्तू, हीरादेवी चतुर्वेदी, रत्नकुमारी, दमयंती बाई आदि का नाम उल्लेखनीय है। संस्मरण एवं रेखाचित्र-सर्जन में कृष्णा सोवती, सरोजिनी महिषी आदि अग्रगण्य हैं। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बंगाल की झुम्पालाहिरी वह भारतीय अमेरिकन लेखिका हैं, जिन्होंने अपने उपन्यास इंटरमिटेसन ऑव लॉस पर 'पुलित्जर' पुरस्कार प्राप्त किया।

साहित्य का संबंध लेखन से है और लेखन का क्षेत्र इतना व्यापक है कि पत्रकारिता आदि सभी इसके साँचे में आ जाते हैं। अतः इसी क्रम में लेखन से जुड़ी कुछ रचनाकारियों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। यासमिन सैकिया, रवीन्द्र कौर, ऋतु मेनन आदि ने भारत-पाक बँटवारे, सानिया जब्बार, मनप्रीत सेठी, शिवा छाछी आदि ने कश्मीर-समस्या तथा सैलीना सेन ने 1984 के दंगों पर लेखनी चलाकर देश में जागृति लाने का प्रयास किया है। खालिस्तान एवं सिक्ख समस्या पर लेखनी चलाने वाली मनप्रीत सेठी का तो लिखा उपन्यास 'दी लॉग वाक होम' (The Long walk Home) बहुचर्चित हो चुका है। पत्रकारिता को क्षेत्र में भी महिलाओं ने सराहनीय कार्य किए हैं। खोजी पत्रकारिता से जुड़ी महाश्वेता देवी ने अनेक बड़े पुरस्कार प्राप्त कर आदिवासियों की समस्या को समाज के समक्ष रखकर प्रसिद्धि प्राप्त की है। इसी क्रम में नलिनी सिंह (दूरदर्शन पत्रकारिता) तथा मृणाल पांडेय (प्रिंट मीडिया) के नाम उल्लेख्य हैं। पत्रकारिता को महत्त्व देने वाली अरुंधती राय का नाम 'गॉड ऑव स्मॉल थिंग्स' पर बुकर पुरस्कार प्राप्त करने

से प्रसिद्ध हुआ। इसी पुरस्कार को 'इन हेरिटेज ऑव लॉस' (In heritage of loss) पर जीतने वाली महिला किरन देसाई भी हैं।

कला और साहित्य के क्षेत्र में अद्भुत प्रदर्शन करने वाली नारियाँ आज किसी भी क्षेत्र में पुरुष से पीछे नहीं हैं। जल की अतुल गहराइयाँ, धरती की विशाल सीमाएँ, आसमान की ऊँचाइयाँ आदि सभी उनके अधिकार में हैं। मध्यप्रदेश की महिला ने ट्रक चलाकर तथा तमिलनाडु की महिला 37 वर्षीया सी०वी० तिलकवती ने रेल चलाकर पुरुषों के प्रत्येक कार्य में अपनी अस्मिता एवं महत्ता को स्थापित कर संपूर्ण विश्व में आज जिस लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाया है, उसे सतत् बढ़ाए रखने की आवश्यकता है। कोई भी बहिन, पत्नी, जननी अपने दायित्वों एवं कर्तव्यों का संवहन करते हुए पीछे न रह जाए, इस दिशा में भी सभी नारियों को मिलजुलकर प्रयास करते रहना है और ध्यान रखना है कि अत्याचार, अन्याय, शोषण का कोई भी शिकार न हो, चाहे वह नर हो नारी। ऐसा सुना जाता है कि नारी ही नारी के दुःख का कारण है। इसे असत्य सिद्ध कर उन्हें नर के प्रति भी सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाना है। कानून या अधिकारों के दुरुपयोग एवं पारस्परिक वैमनस्य से समाज के विकास में बाधा पड़ती है। अतः संपूर्ण मानव-जाति की प्रगति के लिए 'लोका समस्ताः सुखिनो भवन्तु' के उद्घोष में अपनी स्वरलहरी की गूँज सुनाते हुए स्वाभिमान एवं सम्मान का भाजन बनने का दृढ़ संकल्प लेना आवश्यक है।

संदर्भ

1. स्त्री-विमर्श, डॉ० विनयकुमार पाठक, पृ० 117
2. ऋग्वेद, 1/92/4 एवं 6/29/3
3. रामायण, वाल्मीकि, 2/9/15-16
4. वही, 5/10/37-39
5. कबीर साखी सुधा, आलोचक एवं संपादक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० 63
6. काव्य-मीमांसा, राजशेखर,
7. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, श्रद्धा सर्ग
8. अमर उजाला 21, दिसंबर, 2008
9. ऋग्वेद-10/39-40
10. शब्दार्थयौः समो गुम्फः पांचालीरीतिरिष्यते।
शिलाभट्टारिकावाचि वाणोक्तिषु च सा यदि॥

—सरस्वती कंठाभरण, भोजराज

11. हिंदी में स्त्रियों का काव्य साहित्य: ऐतिहासिक विकास, रमाशंकर शुक्ल रसाल, स्त्री-अस्मिता : साहित्य और विचारधारा, सं० जगदीश्वर चतुर्वेदी एवं सुधासिंह, पृ० 154
12. साभार उद्धृत, हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादक डॉ० नगेंद्र, पृ० 155
13. वर्तमान साहित्य, जून 2007
14. साभार उद्धृत, स्त्री अस्मिता, पृ० 151
15. साभार उद्धृत, हिंदी साहित्य का इतिहास, सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 387
16. स्त्री-अस्मिता, पृ० 160

महाराष्ट्र में हिंदीकवियों की प्रदीर्घ परंपरा

शेख शिराज हसन

हिंदी विभाग

पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

प्रस्तुत आलेख में महाराष्ट्र में हिंदीकाव्य-परंपरा का विवेचनात्मक परामर्श प्रस्तुत किया जा रहा है। महाराष्ट्र में हिंदी काव्य-यात्रा का प्रवर्तन सामान्यतः प्राचीनकाल से माना जाता है। महाराष्ट्र में हिंदी काव्ययात्रा का यह प्रथम पड़ाव कहा जाएगा। हिंदी काव्य-यात्रा के दूसरे पड़ाव में मध्ययुगीन कवियों का समावेश किया जा सकता है। काव्य-यात्रा का तीसरा पड़ाव अर्थात् आधुनिक युग में महाराष्ट्र में हिंदी-कवियों का अद्वितीय योगदान पाया जाता है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना प्रायः अनुचित न होगा कि महाराष्ट्र की हिंदीकाव्य परंपरा में यद्यपि प्राचीन एवं मध्ययुगीन कवियों का पर्याप्त प्रदेय रहा है, फिर भी आधुनिकयुग में महाराष्ट्र के हिंदी-कवियों ने जिस गहनता और बड़े पैमाने पर हिंदी काव्य-यात्रा को संपन्नता प्रदान की है वह अपूर्व है। आधुनिक महाराष्ट्र के हिंदी-कवियों के काव्य में विषयवस्तु का वैविध्य, आधुनिकताबोध, उदारताकरण, वैश्वीकरण, महिला सबलीकरण, दलित-विमर्श, आदिवासी-विमर्श, विज्ञान-तंत्रज्ञान विषयक युगबोध, बाजारवाद, उपभोक्तावाद तथा भाषा-शिल्पगत नए प्रयोग आदि का समावेश पाया जाता है। अतः प्रस्तुत आलेख में महाराष्ट्र के प्राचीन एवं मध्ययुगीन कवियों की हिंदी काव्य-यात्रा पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए प्रमुख रूप से आधुनिक हिंदीकाव्य-परंपरा में महाराष्ट्र के हिंदी के योगदान पर विस्तार से दृष्टिक्षेप डाला जा रहा है।

अ. प्राचीन काव्य-परंपरा :

हिंदी की आदिकालीन काव्य यात्रा में महाराष्ट्र के एकानेक कवियों का प्रचुर मात्रा में योगदान परिलक्षित होता है। दक्षिण के (महाराष्ट्र) राजा सोमेश्वर का विक्रम संवत् 1184 का एक ज्ञानकोश 'अभिलषितार्थ-चिंतामणि' प्रकाश में आया है, जिसमें रागरागिनियों के उदाहरण हैं। इन उदाहरणों में एक हिंदी का उदाहरण है- 'नंद गोकुल जायो कान्हजो गोवी जणे पडिहेली रे।' चक्रधर स्वामी ने महाराष्ट्र में महानुभाव संप्रदाय चलाया और अपने विचार हिंदी कविता के माध्यम से प्रकट किए। चक्रधर स्वामी की शिष्या महदाइसा केवल मराठी की ही नहीं अपितु हिंदी की भी आद्य कवयित्री हैं। उनका जो एकमात्र हिंदी पद है, वह इस प्रकार है-

नगरद्वार भिच्छा करो हो बापुरे मेरी तपस्या लो
जिहा जावो तिहा आप सारिखा कोई न मोरी चिंता-ला
हाट-चौहाट पद रहुं हो, मांग पंच घर भिच्छा
बापुट लोक मोरी अवस्था कोई न करो मोरी चिंता लो।²

दामोदर पंडित इसी काल के मराठी-भाषी हिंदी कवि हैं। दामोदर पंडित ने हिंदी में चौपदियों की रचना की है। इस काल के महत्त्वपूर्ण कवि संत ज्ञानेश्वर को आ.रामचंद्र शुक्ल ने नाथ संप्रदाय की शिष्य-परंपरा में इस प्रकार उद्घाटित किया है—‘महाराष्ट्र संत ज्ञानदेव ने जो अल्लाउद्दीन के समय (संवत् 1358) में थे, अपने को गोरखनाथ की शिष्य परंपरा में कहा है उन्होंने यह परंपरा इस प्रकार बताई है—आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर।³ संत ज्ञानेश्वर ने हिंदी में पद-रचना की है। ज्ञानदेव के हिंदी पद आध्यात्मिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण रहे हैं। ज्ञानेश्वर के साथ भाई निवृत्तिनाथ, बहन मुक्ताबाई आदि के भी हिंदी में लिखे पद प्राप्त होते हैं। मुक्ताबाई का एक हिंदी पद इस प्रकार है।-

‘वाह वाह साहबजी सद्गुरुलाल गुसाईजी
लालबीच मों उडाला काला ओंठ पीठ सो काला
पीत उन्मनी भ्रमरगुंफा रस झूलन बाला
सद्गुरु चले दोनों बराबर एक दस्तियों भाई
एक से एक दर्शन पाए महाराज मुक्ताबाई।⁴

उपर्युक्त पद में उडाला, काला आदि शब्द मराठी भाषा का आभास दिलाते हैं, पर दृष्टव्य बात यह है कि आदिकालीन मराठी संत कवियों ने अपने विचार मराठी के साथ हिंदी में प्रतिपादित किए हैं। यह परंपरा सिर्फ आदिकाल में ही नहीं अपितु आज तक बरकरार दिखाई देती है।

ब. मध्ययुगीन काव्य

मध्ययुगीन काव्य को प्रमुखतः पूर्व मध्ययुग (भक्तिकाल) और उत्तर मध्ययुग (रीतिकाल) आदि में विभाजित किया जाता है। संत नामदेव इसी भक्त-परंपरा के अग्रज दिखाई देते हैं। वे संत इसलिए कहलाते हैं कि वे प्रथमतः निर्गुण ईश्वर की पूजा करते थे। बाद में वे सगुणवादी हो गए और विटठल के परम भक्त भी। उनके पद ‘गुरुग्रंथसाहिब’ में संकलित हैं। नामदेव के हिंदी पद निर्गुण भक्ति से संबंधित दिखाई देते हैं। संत नामदेव के साथ-साथ एकनाथ, दासोपंथ, तुकाराम, समर्थ रामदास, स्वामी अच्युताश्रम, बहिनाबाई, केशवस्वामी, मध्वमुनिश्वर, शिवदिनकेसरी, देवनाथ महाराज, स्वामी रामानंद आदि इसी युग के प्रमुख हिंदी कवि हैं।

उत्तर मध्ययुग में महाराष्ट्र में मराठा शासनकाल में हिंदी को सम्मान मिलता रहा है। छत्रपति शिवाजी महाराज स्वयं हिंदी जानते थे। उनका एकमात्र हिंदी पद उपलब्ध है। वह इस प्रकार है-

‘जय हो महाराज गरीब निवाज
बंदा कमीना कहलाता हूँ साहिब तेरी लाज
मैं सेवक बहूँ सेवा मांगु इतना है सब काज
छत्रपति तुम सेंकदार शिव इतना हमारा फर्ज।⁵

शाहजी महाराज के दरबार में जयराम पिंडे, रघुनाथ व्यास, सुबुद्धिराव आदि हिंदी विद्वानों को सम्मान प्राप्त था। ब्रजभाषा में महादजी सींधिया और दौलतराव के भक्तिगीत विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त मोरोपंत, अनंत फंदी, राम जोशी, सगनभाऊ, परशुराम, होनाजी आदि इसी शासन काल के उल्लेखनीय शायर थे। इसी काल में मराठवाड़ा के अनेक हिंदी

कवियों की सूची उपलब्ध होती है। जिनमें वली औरंगाबादी विशेष ख्यातिप्राप्त हैं।

आधुनिककालीन महाराष्ट्र के हिंदी कवि :

सन् 1900 के उपरांत महाराष्ट्र में हिंदी कविता कुछ लुप्त सी दिखाई देती है। भारतेंदु के समय में महाराष्ट्र में हिंदी काव्य के क्षेत्र में दामोदर सप्रे, अमृत केशव नायक जैसे कुछ इने-गिने नाम उभरकर सामने आते हैं। इन्होंने हिंदी नाटकों में कुछ कविताएँ लिखीं।

द्विवेदीयुग में केशवराव फनसे, सिद्धनाथ आगरकर और आत्माराम देवकर आदि ने नीति-निर्देशन, स्वदेश-प्रेम से ओतप्रोत हिंदी कविताएँ लिखीं।

छायावादी युग में प्रभाकर माचवे मराठीभाषी हिंदी कवियों की पंक्ति में शीर्षस्थ स्थान के अधिकारी हैं। माचवेजी की कविता में सुख-दुख की अभिव्यक्ति कूट-कूटकर भरी हुई दिखाई देती है। यह अभिव्यक्ति सार्थक इसलिए बन पड़ी है कि उनके मन की अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने सहज और व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया हुआ है। उनका एक पद यहाँ दिया जाता है, जो अपनी अनुभूति में सजग रहा है—

‘कौन यहाँ जंगली है? हम जो सहस्रों के लिए जिलाते

या कि आप जो अणु-बम की निर्माण दौड़ में हो मदमाते।’⁶

महाराष्ट्र के संतों की हिंदी-परंपरा सिर्फ प्राचीन या मध्ययुगीन काव्य-परंपरा में ही बँधी न रही, अपितु आधुनिककाल में भी अबाधित रही है। संत तुकडोजी महाराज के हिंदी-पद इस बात के प्रमाण हैं। इनकी कविता राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत रही है।

छायावादोत्तर काव्य परंपरा के क्षेत्र में भी महाराष्ट्र के कवि काव्य-सृजन की इस परंपरा में शामिल रहे हैं। इस काल के प्रसिद्ध कवि हैं—गजानन माधव ‘मुक्तिबोध’। प्रगतिशील एवं प्रयोगवाद से संबंध रखने वाले मराठी भाषी हिंदी कवि गजानन माधव ‘मुक्तिबोध’ की कविता सामान्यजन के अधिक निकट दिखाई देती है। उनकी कविता का एक अंश इस प्रकार है—

‘हर एक छाती में आत्मा अधीरा है,
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है,
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य-पीड़ा है।’⁷

छायावादोत्तर काव्य-परंपरा में स्व० हरिनारायण व्यासजी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वे मूलतः हिंदीभाषी कवि हैं, पर महाराष्ट्र में बसकर उन्होंने हिंदीकाव्य-परंपरा को प्रोत्साहन अवश्य प्रदान किया है। इनकी कविता में मनुष्य जीवन के सुख-दुखों की दास्तान है। वसंतदेव मराठी भाषी हिंदी प्रचारक और श्रेष्ठ अनुवादक हैं। वे एक कवि भी थे। सामान्यजन से जुड़े इस कवि का ‘घोषणा पत्र’ नामक काव्य-संकलन काफी प्रसिद्ध है।

इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त काकासाहब कालेलकर, मामा वरेरकर, विनोबा भावे, मालती परूलकर, अनंतगोपाल शेवडे, डॉ० ना०वि० जोशी, शंकर पुणतांबेकर, देवीसिंह चौहान आदि कुछ इस काल के उल्लेखनीय नाम गिनाए जा सकते हैं, जिन्होंने काव्य की अन्य विधाओं के साथ हिंदी में काव्यरचना की है।

निकटतम वर्तमानयुगीन संदर्भ को लेकर हिंदी कविता में सृजनरत महाराष्ट्र के अनेक कवियों की लंबी सूची दिखाई देती है। आलेख विस्तार से बचने के लिए इनका नामोल्लेख यहाँ

किया गया है। इनमें मनोज सोनकर, श्री दिनकर सोनवलकर, डॉ० दामोदर खडसे, प्रभा माथूर, डॉ० काङ्गी 'जर्ग', डॉ० मालती शर्मा, दिलीप शर्मा, बलभीमराज गोरे, प्रा० वेदालंकार, डॉ० नामदेव उतकर, डॉ० हनुमंत रणखांब, डॉ० हनुमंत पाटील, डॉ० पद्मजा घोरपडे, डॉ० रू० गो० चौधरी, प्रा० रमेशकुमार लाहोटी, श्री देवकीनंदन सारस्वत, डॉ० दंगल झाल्टे, श्री अजीज अंसारी, प्रा० अरुण पाटील, डॉ० कांति लोधी, डॉ० पद्मा पाटील, प्रा० दामोदर मोरे, रजनी पाथरे 'राजदान' आदि ख्यातिप्राप्त कवि रहे हैं। इनके अतिरिक्त डॉ० ऋचा शर्मा, डॉ० सुनीलकुमार लवटे, माया गोविंद, गीतेश, विनोदकुमार, हनुमंत नायडू, ज्ञानराज गायकवाड, ज्योति गजभिए, अस्लम अख्तार, किशोर गिरडकर, हस्तीमल हस्ती, जीवितराम सेतपाल, विद्या चिटको, वर्षा लोखंडे, शिवप्रसाद बागडी, शिवाजी नाळे, राजेश, डॉ० सुनील देवधर, गोवर्धन शर्मा 'घायल', सुदर्शन शर्मा 'रथांग', मंजुषा राज, छगन पंजे, कमला सेतपाल, धृति बेडेकर, सुरेश कुसुंबीवाल, प्रदीप वाघ, शिल्पा सोनटक्के, कैलाश ओझा, शैलजा करोडे, वा०गा० गाणार, गरिमा पाटील, अरुण पवार, शीतल नागपुरी, राम दलाल, कुँवरदेवी राठौर, निर्मला चौहान, प्रा० ओमप्रकाश राठौर, डॉ० उषा कुमार, राजकुमारी गडकर, मिर्जा अटकली, प्रा० चाउस आदि के एक-दो काव्य-संकलन दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त मीनाक्षी जोशी, डॉ० केशव प्रथमवीर, डॉ० वी०एन० भालेराव, डॉ० सुभाष तलेकर, निर्मला राजपूत, संजीवनी बोकिल, डॉ० वासंती साळवेकर, डॉ० इंदु पांडे, मेजर सरजूप्रसाद (खंडकाव्य लेखक), आसावरी काकडे, प्रा० नीला महाडिक (हाइकु लेखिका), मणि खेडेकर (हास्य-व्यंग्य कवि), शरदेंदु शरद शुक्ल (हास्य-व्यंग्य कवि) आदि उभरते हुए कवि दिखाई देते हैं। इनके एकाध कविता-संग्रह प्रकाशित हैं तो कुछ की पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित होती रहती हैं। इनकी कविताएँ आज के समय-संदर्भ की सशक्त अभिव्यक्ति करने में सक्षम दिखाई देती हैं। स्त्री-विमर्श, समकालीन परिवेश, आधुनिकता-बोध, पर्यावरण-बोध आदि की सशक्त अभिव्यक्ति इनकी कविता में पाई जाती है। इन कवियों के अतिरिक्त कुछ कवि ऐसे भी कवि हैं, जो गजल विधा में अपनी लेखनी चलाते हुए नजर आते हैं। इनमें उद्धव महाजन 'बिस्मल', ईंदिरा शबनम पूनावाला, नजीर फतेहपुरी, नंदिनी ओसवाल, यशोदा राज, राजेंद्र श्रीवास्तव, रफीक काङ्गी, सलीम अंसारी, संजय भारद्वाज, यासीन बरारी, अनिल अब्रोल, सैयद अखिल आदि विशिष्ट नाम देखे जा सकते हैं। उपर्युक्त कवियों की सूची में कुछ हिंदीभाषी कवियों को स्थान दिया गया है। वह इसलिए कि वे चाहे हिंदीभाषी हो, पर महाराष्ट्र निवासी हैं और महाराष्ट्र में बसकर यहाँ की हिंदी काव्ययात्रा की परंपरा को समृद्धि प्रदान करते हैं। इनके अतिरिक्त हिंदी कविता में सृजनरत और भी कवियों के नामोल्लेख किए जा सकते हैं। जिन कवियों के नाम रह गए हों, उनसे मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

निष्कर्ष :

इस प्रकार हिंदी कविता के क्षेत्र में महाराष्ट्र के कवियों की अखंड परंपरा अनवरत रूप से जारी है। हिंदी की प्रथम महिला कवयित्री मराठीभाषी उमांबा है। भक्तिकालीन हिंदी-साहित्य में मराठी भाषी संतों ने हिंदी में रचना कर हिंदी को यथेष्ट स्थान दिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। रीतिकाल में मराठा शासकों के दरबार में भी हिंदी को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता रहा है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता के क्षेत्र में संत तुकडोजी, प्रभाकर माचवे जी, स्व० हरिनारायण व्यास जी, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', प्रभा माथुर, डॉ० मालती शर्मा, डॉ० दामोदर खडसे विशेष

ख्यातिप्राप्त नाम हैं। आज अनेक हिंदीसेवी हिंदी कविता की सृजन-यात्रा में कार्यरत दिखाई देते हैं। महाराष्ट्र में यह अखंड हिंदीकाव्य-परंपरा आदिकाल से लेकर वर्तमान युग तक अनवरत रूप से प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है।

संदर्भ

1. हिंदी के विकास में महाराष्ट्र का योगदान, सं० प्रभात, पृ० 136,137
2. आधुनिक हिंदी साहित्य को अहिंदी लेखकों का योगदान, डॉ० विलास गुप्ते, पृ० 34,35
3. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ०7
4. हिंदी को मराठी संतों की देन, आचार्य विनयमोहन शर्मा, पृ० 95,96
5. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी के विकास में महाराष्ट्र का योगदान, डॉ० विजया वधवा, पृ० 37
6. तेल की पकौड़ियाँ, डॉ० प्रभाकर माचवे, पृ० 15
7. चाँद का मुँह टेढ़ा है, गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ० 63

शिराज शेख, शोध-छात्र
हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय
पुणे (महाराष्ट्र)
मो० 09011444059

शैलेश मटियानी कृत कबूतरखाना उपन्यास में महानगरीय जीवन

प्रा. (श्रीमती) करुणा दत्तात्रय अहिरे
व्दि.यु. पाटील कला एवं विज्ञान
महाविद्यालय, साक्री
तह० साक्री (धुले)

साहित्यकार समाज का एक अंग होता है। जो समाज में रहकर अनुकूल-प्रतिकूल अनुभव प्राप्त कर साहित्य रचता जाता है। साहित्य और समाज का परस्पर संबंध है, परस्पर दायित्व है। दोनों का एक-दूसरे पर निर्भर रहना उतना है जितना कि सुई और धागे का। परस्पर अवलंबता के कारण एक के बिना दूसरा और दूसरे के बिना पहला पंगु रहेगा। अर्थात् साहित्य और समाज का इतना घनिष्ठ संबंध है कि उनका विच्छेद असंभव है।

हिंदी उपन्यास साहित्य की दीर्घ परंपरा रही है। उपन्यास विधा को समृद्ध संपन्न करनेवाले समकालीन दौर के उपन्यासकारों में शैलेश मटियानी अपना विशेष स्थान रखते हैं।

भारतीय कथासाहित्य में जनवादी जातीय परंपरा से शैलेश मटियानी के कथासाहित्य का अटूट रिश्ता है। वे दबे-कुचले भूखे-नंगों, दलितों, अपेक्षितों के व्यापक संसार की बड़ी आत्मीयता से अपनी कहानियों में पनाह देते हैं। उपेक्षित बेसहारा लोग ही मटियानी के साहित्य की ताकत हैं। शैलेश मटियानी को हमारे बीच से गए बहुत साल हो गए, लगता है जैसे कल की बात है। तमाम संघर्षों तथा दुश्चिन्ताओं के बावजूद आखिरी समय तक जैसा कि वे लेखन के बारे में कहा करते थे, 'कागज पर खेती' करते रहे। उनके साहित्य पर टिप्पणी करते हुए राजेंद्रजी यादव जी ने स्वीकार किया है कि 'हम सबके मुकाबले उनके पास अधिक उत्कृष्ट साहित्य है।'¹

'कबूतरखाना' मटियानीजी का दूसरा उपन्यास है, जो सन 1960 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का सृजन भी मटियानी जी ने अपने पहले उपन्यास 'बोरीवली से बोरी बंदर तक' की तरह 'श्रीकृष्ण भेलपूरी हाउस' में रहकर ही किया। यह उपन्यास भी मुंबई महानगर की आत्मिक पृष्ठभूमि से अनुप्राणित है। मुंबई के प्रसिद्ध इलाके 'भूलेश्वर' को केंद्र में रखकर इसे लिखा गया है। लेखक के शब्दों में 'यह भूलेश्वर बंबई के कई और भी मोहल्लों का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए उसे प्रतीक रूप में देखा-परखा जाए।' एक नौकर की हैसियत से वहाँ के दूसरे नौकरों के संसर्ग-संपर्क में आया। इसके आलावा सेठों के घरों में काम करनेवाले घाटी लोगों का साथ भी बहुत मिला। सेठों के घरों में काम करनेवाले घाटी लोगों को ग्रामाड कहकर संबोधित किया

जाता है। ऐसे ही एक ग्रामाड से उसकी आत्मकथा शुरू होती है।² इसे लेखक ने ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया है।

इस उपन्यास के माध्यम से शैलेश मटियानी ने उच्च घरानों की नौकरों सहित तस्वीर जो अभी तक नेपथ्य में थी, हमारे सामने आवरणरहित करके रख दी है। इस उपन्यास की यह महत्त्वपूर्ण देन है। इसकी दूसरी विशेषता है—देह व्यापार करने वाली नारी की नारकीय जीवन से निकलने की तीव्र अभिलाषा, जो किसी आभिजात्य द्वारा नहीं, बल्कि अनपढ़, गँवार और निम्न कहलाए जानेवाले व्यक्ति द्वारा ही पूर्ण की जाती है। लेखक ने इसमें बड़ी ईमानदारी के साथ मुंबई के रौरव-नरक को नग्न रूप से पाठकों के सम्मुख रख दिया है। 'इस बंबई को कोई क्या कहे, जहाँ भाई बहन को साथ लेकर उसकी पवित्रता का सौदा करने जाता है। जहाँ पिता अपनी कन्या की पावनता को रक्त-सा पी जाता है जहाँ सैकड़ों मुसटंडे केवल नारी की कमाई पर पलते हैं, पलते नहीं अय्याशी करते हैं। दादागिरी की बदौलत मर्द होकर औरत की कमाई खाते हैं। बंबई उस कोढ़ी की तरह है, जिसके मुँह पर कोढ़ के लक्षण न फूटे हों और शरीर का जो सारा कोढ़ कीमती दुशाले से ढँके रहता हो।'³

उपन्यास की भाषा गणपत रामा की भाषा है—मराठी, गुजराती, पारसीयुक्त बंबईया हिंदी। बात को प्रभावकारी बनाने के लिए लेखक ने सटीक मुहावरों लोकोक्तियों और उपमाओं का विपुल प्रयोग किया है।

महाराष्ट्र के सातारा जिले का निवासी गणपत रामा गरीबी, जहालत, भुखमरी और विकट-विषम परिस्थितियों का मारा है और मुंबई में आकर एक सेठ के घर में बर्तन माँजने, कपड़े धोने का काम करने लगता है। उसकी बहन गंगा, मुंबई के 'कमाठीपुरा' की तेहरवीं गली में कृष्णाबाई के यहाँ रहकर वेश्यावृत्ति करती थी। उसकी मृत्यु के बाद ही गणपत को एक पारसी के यहाँ होटल में काम मिल गया। रात को वह पारसी सेठ के घर कोलभाट स्ट्रीट चला जाता। वहाँ उसे खाने का तर माल मिलता, लेकिन एक दिन सेठानी ने उससे संभोग करने की इच्छा जाहिर की। गणपत सेठानी के इस बर्ताव से घबराकर भाग खड़ा हुआ। बाद में उसने तेलमालिश का काम शुरू किया और साथ ही साथ वह वेश्याओं के लिए ग्राहक भी पटाने लगा। दारू की बोतलें सप्लाई करने का भी काम उसने कुछ दिनों तक किया। गणपत नशे की खुमारी में भूलेश्वर की सेठानियों के स्वच्छंद प्रेमप्रसंगों की कथा सुनानी शुरू करता है। सेठानी वसुंधराबाई के यहाँ गणपत रामा का काम करने लगा। उसी समय सेठ करसन भाई के रामा पटवर्धन से गणपत की दोस्ती हो गयी और पटवर्धन ने उसे जो कथा सुनाई, उसे गणपत रामा कहता है। सेठ करसन भाई का संबंध शकुंतलाबाई से है और दातून बेचनेवालियों से अपनी काम-वासना पूरी करता है। उसकी पत्नी यशोदाबेन रामाओं से अपनी दैहिक भूख मिटाने का काम करती है। गणपत बताता है, 'आनंदीबाई अपने रामा सखाराम से नाजायज संबंध के चलते एक बच्चे को जनम देती है। लोगों को इस बात का पता चल जाता है। तब सेठ सखाराम का खात्मा करवा देती है। इस कथा से संबद्ध एक तीसरी कथा और है। पटेल सेठ की पत्नी शारदा सेठानी अपने दत्तू भाऊ से मिलकर सेठ की हत्या करवा देती है।'⁴ आगे चलकर दत्तू भाऊ दत्तात्रय सेठ के नाम से शारदा सेठानी और पटेल की संपत्ति का स्वामी बन गया। सेठ लालजी अपने पत्नी के साथ कोई संबंध नहीं रखते हैं, प्रत्युत नीलांबरी अपनी काम-पिपासा को रामा लोगों के माध्यम से पूरा करती है,

जिसकी परिणति यह होती है कि यह यौन-रोग से ग्रस्त हो जाती है।

इस प्रकार लेखक ने उच्चवर्ग के उन सफेदपोश लोगों के अनैतिक संबंध का पर्दाफाश किया है, जो समाज के सिरमौर बनने का ढोंग रचते हैं। वास्तव में यह कथा किसी एक गणपत रामा की नहीं है तथापि मुंबई महानगर के उन तमाम रामाओं की पुरदर्द कहानी है, जिन्हें अपना पेट भरने के लिए आभिजात्य वर्ग के लोगों के घरों में ऐसे-ऐसे काम करने पड़ते हैं। कासम कहता है घर की नौकरी होती है ऐसी। गरीबों के लड़कों के लिए हर जगह गड्डे हैं दोस्त, जूटे बर्तन भी घिसो दिनभर, फिर रात को बीवियों को भी सँभालो, बीमार पड़के मर जाओ, तो कुत्ता भी सूँघने को नहीं भेजेगा कोई।⁵

‘खाली-पीली भी फुकट... लोग बाप का घर में लेके जाइंगा। काहे कुँ लेके जाइंगा? रे दारू का वास्ते? साला, क्या हम दारू पिया है, रे? पिया है, तो क्या साला किसी का आई का...के पैसा लाया क्या? दिनभर सेठ लोग का घर में भांडी घासता है...अक्खा दिवस सेठानी लोग कुँ मस्का लगाता है, अक्खा दिवस कुतरा का माफिक पूछ कुँमें लगता है...पीछू जाके साला पंधरा मिलता है!...साला, आपन घाटी-मराठी रामा लोग का भी कोई नौकरी है? कोई जिंदगी।’⁶

‘असे साला, हमारी आंखी भी एकच लगाता है, अपनी ही टाँगी तक हा हमरे को खबर नहीं रहता। ऐसेच एक दिन कुलसुम भी हमरे पास से उठके, दूसरे के साथ सो गयी होती... .. मेरे कुँ गुस्सा आ गया। हम उसको अपनी चारपाई पर खींच लाया, तेरे बाप के पास क्या हमरे से जास्ती चर्बी है।’

‘पण सईद का माफिक बाई लोग तो होनाच माँगता है। उसका हम बखशीश का चावली भी नहीं देता होता।’⁸

‘काहें कुँ सेठ की जिंदगी को ला बावटा दिखाया था। आक्खा मुंबई में बोला तो पाव तले दारू रखे तो पन्नास का जूता डोंका ऊपर पड़ता है। तीन महिने के वास्ते शाम सुबू सवा रुपये का कोंदा भजिया, असल पाव खिला दूँगा। घर जमाई का माफिक।’⁹

‘नहीं तो आप लोगच बोलाए आजादी मिले कुँ दस साल भी नहीं हुआ, पण जिस लीडर के घर में उंदीर का काने को दाना नहीं, भीख माँगने कुँ भी थौला नहीं, वोच आज मुंबई सीरखा शहर में। चौर चार पाँच-पाँच बिल्डर का शनी है। उसकेच आगे पीछू पन्नास-पन्नास हजार का कार घूमते। मोठे मोठे बँकों में उसीकेच लाखों रुपये।’¹⁰

‘और बोले तो येच मुंबई में हट्टा-कट्टा गरीब लोग भीख माँगने को भीख ऊपर भी गुजर नहीं होनी को। पीछू कच्ची कच्ची उमर का छोकरी लोग पिल हाउस, कमाठीपूरा, पारसरोड, आबाद करती। कच्ची-कच्ची उमर का छोकरा लोग या तो दारू सप्लाई करने का या वाचमैन पठान लोग से लखनऊ सें आयेले भिंडीबाजार आबाद करेले लोगों से।’¹¹

संक्षेप में कबूतरखाना एक पंख नोचे हुए कबूतर की अंदरूनी तड़प और बाहरी गुटरगूँ की एक बोलती हुई तस्वीर है। बंबई के सेठ सेठानियों के कबूतरनुमा नौकर गणपत रामा की मुँहबोली दास्तान है और अंतस को आकुल, मस्तिष्क को झकझोर देनेवाली आपबीती अनुभूतियों का एक ढाँचा है, जिसकी पसली-पसली आतशी शीशे का एक घटका हुआ टुकड़ा है और जिसका रेशा-रेशा रिसता हुआ नासूर। सेठों के घर में नौकरी की स्थिति उन कबूतरों के समान

है, जो दाने के लालच में जाल में फँस जाते हैं। कैद होने पर पिंजरे से बाहर निकलने के लिए पंख फड़फड़ाते रहते हैं।

इस उपन्यास की सफलता के बारे में प्रकाशकीय वक्तव्य द्रष्टव्य है—कबूतरखाना में ईमानदारी के साथ बंबई के रौरव-नरक का आवरण उठाकर पाठक के समुख रख दिया गया है। बंबई की रगों में पनप रहे अत्याचारों और शोषण के विषैले कीटाणुओं को देखने के लिए यह खुर्दबीन का काम देगा।¹²

संदर्भ

1. डॉ॰ अमरपाल रामप्रतापसिंह, कहानीकार शैलेश मटियानी : एक अध्ययन, (सार्थ पब्लिकेशन आणंद), प्रथम आवृत्ति 2012-2013
2. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, भूमिका से, आत्माराम एण्ड संन्स, दिल्ली 6 सन 1960
3. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, पृ० 66
4. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, पृ० 131
5. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, पृ० 3
6. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, पृ० 42
7. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, पृ० 42
8. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, पृ० 60
9. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, पृ० 61
10. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, पृ० 93
11. कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, पृ० 4/5
12. डॉ॰ चेतना राजपूत, शैलेश मटियानी के उपन्यासों में अंकित दलित जीवन : विश्लेषणात्मक अध्ययन, अनुभव प्रकाशन, प्रथम संस्मरण 2005 गाजियाबाद (उ॰प्र॰) पृ० 96

भीष्म साहनी के साहित्य में प्रगतिशील तत्त्व

डॉ० सुरेश बाबर

बहुमुखी प्रतिभा के धनी भीष्म साहनी सामाजिक चेतना-संपन्न रचनाकार थे। वे एक कला-साधक की अपेक्षा जीवन के व्याख्याता ही अधिक थे। उनकी कोई भी रचना ऐसी नहीं है, जो वर्तमान समाज के किसी-ना-किसी अंग को स्पर्श न करती हो। उन पर मार्क्सवाद का यथेष्ट प्रभाव था। परिणामस्वरूप वर्गीयचेतना और मध्यवर्ग की अन्यान्य विशेषताओं का भी उनके साहित्य में प्रचुर मात्रा में चित्रण हुआ है। उन्होंने ऐतिहासिक तथा पौराणिक संदर्भों को वर्तमान जीवन की विशेषताओं को व्यक्त करने के लिए माध्यम के रूप में प्रयोग किया है। इसी कारण वर्तमान जीवन को संचालित, प्रभावित तथा नियंत्रित करनेवाले विभिन्न तत्त्वों में से एक तत्त्व है प्रगतिशील।

प्रगति के लिए अँग्रेजी में 'प्रोग्रेस' शब्द प्रयोग होता है। 'प्रोग्रेस' शब्द आगे बढ़ना, विकास करना, सुधारना और अग्रसर होना आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'प्रगति' का साधारण अर्थ जो सहज ही बुद्धिगम्य है, वह है आगे की ओर बढ़ना। इसीलिए साहित्य में जीवन की सर्वांगीण प्रगति में योगदान दे, वह प्रगतिशील कहलाने का अधिकारी है। प्रगतिशीलता की परिभाषा देते हुए श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है—'जो भी विचारधारा जन-जीवन को नए मोड़ों की ओर उन्मुख करती है और जनमानस में मानवता की अपरिसीम प्रगति की संभावनाओं का द्वार खोलती है, प्रगतिशीलता है।'¹

आधुनिक मानव की बहुविध पीड़ाओं और विडंबनाओं का मूल कारण भाग्य न होकर शोषणमूलक अत्याचारी व्यवस्था है, जिसमें अर्थव्यवस्था के असंतुलन के कारण मनुष्य धीरे-धीरे समाज से कटता हुआ एकदम आत्मकेंद्रित होता जा रहा है। प्रगतिशील साहित्यकार इस आत्मकेंद्रित और समाज से कटे हुए मनुष्य को आर्थिक विषमता से मुक्त करने का आह्वान करता है ताकि वह अपने अजनबीपन से छूट सके। डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम ने कहा है—'प्रगतिशील लेखक वह है, जो अच्छे से अच्छे विचार-दर्शन अथवा सिद्धांत पर आँख भींचकर विश्वास नहीं करता वरन् विवेक के छाज में उसे अच्छी तरह झाड़-पछाड़कर संवेदन की धरती पर प्रस्तुत करना है।'² सारांशतः प्रगतिशीलता उस मानसिकता का नाम है, जो समष्टि के विकास और हित के लिए प्रतिबद्ध होती है और जीवन के ठोस यथार्थ से टकराने और बेहतर विकल्प को खोजने में विश्वास रखती है।

भीष्म साहनी ने अपने साहित्य में सामाजिक जीवन के यथार्थ का केवल चित्रण नहीं किया, बल्कि सामाजिक जीवन के अंतर्विरोधों और प्रतिरोधी शक्तियों का परिचय भी कराया है,

जो मानवीय विकास में बाधक है। उन समस्त प्रतिरोधी शक्तियों का विरोध 'बसंती', 'कुंतो', 'मैयादास की माड़ी', 'कड़ियाँ' (उपन्यास), 'कबिरा खड़ा बजार में', 'माधवी' आदि नाटकों में तथा उनकी अनेक कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है।

'बसंती' उपन्यास की बसंती लँगड़े-बूढ़े दर्जी से विवाह नहीं करना चाहती। उसका बेटा बेचने वाला बाप जब लँगड़े दर्जी से 1200 रुपये लेकर बसंती को विवाह के नाम पर बेचना चाहता है, तब बसंती अल्प परिचित दीनू के साथ भाग जाती है। उसका अपना चयन उसके हृदय में इस बात का पुलक भरा गर्व भर देता है कि—'उसके सामने लँगड़ा दर्जी नहीं, जिसके साथ उसका बाप उसे बाँधना चाहता था, बल्कि एक ऐसा जवान है, जिसके साथ वह भाग आई है, कि जो उसकी बहिन नहीं कर पाई थीं, वह उसने कर दिखाया है।'¹³ बसंती का विवाह जिसके साथ हुआ था, वह दीनू पहले से ही शादी-शुदा था। पता चलने पर बसंती का मोह भंग हुआ, परंतु वह टूटती नहीं। वह समझौते के लिए तैयार होती है। वह दीनू से कहती है—'तू उसे यहाँ ले आ। हमसब मिलकर रहेंगे। तेरी जात में दूसरा ब्याह कर सकते हैं ना?'¹⁴ इस तरह बसंती विपरीत परिस्थितियों की शिकार बनती हुई भी किसी निर्णय से डगमगाती नहीं, बल्कि उनका साहसपूर्वक मुकाबला करती है।

'बसंती' उपन्यास में बसंती जिस ढंग से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने को खड़ा किए रहती है, उसी प्रकार 'कुंतो' उपन्यास की सुषमा गिरीश के निर्मम व्यवहार से तंग आकर उसका घर छोड़कर शांतिनिकेतन चली जाती है। जो गिरीश पहले उसे देवता-समान लगता था, अब वह उसका मुँह भी देखना नहीं चाहती। अपनी माँ से निश्चित रहने की सलाह देती हुई कहती है—'मेरे पास कुछ पैसे हैं, तुम चिंता न करना। मैं वहाँ पहुँचकर स्वयं पत्र लिखूँगी, जिससे तुम्हें विश्वास हो जाएगा कि मैंने शांतिनिकेतन का ही रुख किया है। न तो कहीं डूब मरने, का न किसी के साथ भाग जाने का, न ही साध्वी बनने का। संगीत सीखने की लालसा लेकर जा रही हूँ।'¹⁵ सुषमा पति द्वारा धिक्कारने पर आत्महत्या जैसे नीच कर्म को करना नहीं चाहती, वह अपने स्वभावानुकूल सही दिशा में अग्रसर होती है और सुखी स्वतंत्र जिंदगी जीना चाहती है।

'कड़ियाँ' की प्रमिला विपरीत परिस्थितियों में पति से अलग रहने का साहसपूर्ण निर्णय लेती है। प्रमिला के मन में अपने चरित्रहीन पति के प्रति घृणा है। वह अपनी जिंदगी का एक अलग रास्ता चुनती है। पिता के आवास को दूकान में बदलकर वह दवाइयों की दूकान खोलने का निर्णय लेती है और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने का संकल्प करती है। इस स्तर पर आकर प्रमिला में नए व्यक्तित्व का जन्म होता है। वह अपनी सहेली सत्तो से कहती है—'सत्तो, मुझमें हिम्मत आ गई है, अब मैं डरती नहीं, थर-थर काँपती नहीं रहती। अब तो मैं पिताजी को भी परेशान नहीं होने देती।'¹⁶ इन नारी-पात्रों के माध्यम से भीष्म साहनी ने नारी के उस रूप को स्पष्ट करना चाहा है, जो पारंपरिक रूढ़ियों से मुक्त होकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का आग्रह करती है। ये नारियाँ विपरीत परिस्थितियों को नतशिर होकर स्वीकारने और ग्लानि के गर्त में पश्चाताप जनित घुटन के स्थान पर साहसपूर्वक अनेक विपरीतताओं में जीवन के रचनात्मक मार्ग का संधान करती हैं और अटूट साहस और संकल्प के साथ उसी के साथ उसी दिशा में बढ़ने के लिए कृतसंकल्प होती हैं। परंपरा से अलग हटकर नए जीवनमूल्यों का वरण करने वाली ये नारियाँ साहनी जी के प्रगतिशील विचारों की पुष्टि करती हैं। इसी प्रकार 'तमस' की जसबीर कौर, 'मैयादास की माड़ी'

की रुक्मणी, 'कड़ियाँ' की प्रमिला और सत्तो, 'कुंतो' की कोकिला, 'मुआवजे' की शांति, 'एक रोमांटिक कहानी' की रुक्मणी भी ऐसी ही नारियाँ हैं, जो पारंपरिक रूढ़ियों से अलग हटकर अपने प्रगतिशील विचारों के आधार पर स्वतंत्र व्यक्तित्व का आग्रह करती हैं।

राजनीतिक दृष्टि से भीष्म साहनी अत्यंत जागरूक लेखक थे। राजनीतिक परिस्थितियों का न केवल उन्हें सूक्ष्म बोध था, अपितु अपने समय की समस्त राजनीतिक गतिविधियों से वे सक्रिय रूप से जुड़े हुए थे। मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण और आर्यसमाजी संस्कारों में पोषित होने के कारण उनकी राजनीतिक दृष्टि संकीर्ण न होकर व्यापक और प्रगतिशील थी। उनकी रचनाओं में उनकी राजनीतिक दृष्टि का स्पष्ट संकेत अनेक स्थानों पर मिलता है। वे एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के समर्थक थे जिसमें दमन, वर्गभेद, स्वार्थ और शोषण जैसी संकुचित वृत्तियों को हटाकर व्यापक स्तर पर मानवीय विकास की स्थितियाँ संभव हो सकें। उनका विश्वास था कि जनभावना-विरोधी राजनीतिक व्यवस्था अंततः ध्वस्त होती है। 'मैयादास की माडी' उपन्यास में दमन के विपरीत जनाक्रोश की दुर्दमनीय शक्ति को स्पष्ट करते हुए तिलकराज अँग्रेजों के चाटुकार बैरिस्टर हुकूमतराय को चुनौती देते हुए कहता है—'मैं तुमसे कहने आया हूँ कि कल फिर जुलूस निकलेगा। आगे-आगे तीरथराम की अर्थी होगी। पीछे वे जख्मी लोग होंगे, जिनपर आज लाठियाँ चली थीं और उनके पीछे सारा कस्बा होगा।'⁷

भीष्म साहनी इसी तथ्य में विश्वास रखते हैं कि जनता ही सबसे बड़ी शक्ति है। जब वह किसी अवांछित व्यवस्था से टकराती है तो अपना सर्वस्व अर्पित करके भी अपने प्राप्य को प्राप्त करती है। इसी तथ्य का उद्घोष करते हुए 'कुंतो' उपन्यास का हीरालाल जी, जो सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि है, अपनी मुनादी में घोषित करता है—

'शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले।

वतन पर मरने वालों का यही बाकी निशाँ होगा।'⁸

इस प्रकार के संकेत उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर उपलब्ध हैं।

अनेक संदर्भों में भीष्म साहनी राजनीतिक क्षेत्र में प्रचलित विडंबनाओं और विसंगतियों को रेखांकित करने की अप्रासंगिक स्थिति का रेखांकन करते हैं और उन्हीं के माध्यम से वे वांछित विकल्पों का संकेत करते हैं। उनकी रचनाओं में इस तथ्य को बार-बार रेखांकित किया गया है कि वह जब धर्म, पंथ, संप्रदाय, जाति अथवा संकुचित स्वार्थ से जुड़ती है, तब उसका प्रस्थान जनहित के विरोध में होता है। शासकवर्ग का पोषण करने वाली राजनीति जन-कल्याण की विरोधी होती है। इसी प्रकार संकीर्ण मनोवृत्ति अथवा संकुचित दायरे की आधार बनाकर चलने वाली राजनीति अंततः जनभावना का शोषण करती है, और सामुदायिक अवनति का कारण बनती है। 'तमस' उपन्यास में भीष्म साहनी ने छल, छद्मभरी राजनीति और उससे जुड़ी संकुचित मनोवृत्तियों का अनेक स्तरों पर पर्दाफाश किया है। 'कुंतो', 'मैयादास की माडी', 'बसंती' (उपन्यास), 'हानूश', 'कबिरा खड़ा बजार में' (नाटक) और अनेक कहानियों में राजनीतिक परिस्थितियों को यथार्थ रूप में प्रतिबिंबित किया गया है। उनके उपन्यासों में अँग्रेजी राजनीति के विरुद्ध जिस प्रकार जनाक्रोश को चित्रित किया गया है, उसी प्रकार 'हानूश' और 'कबिरा खड़ा बजार में' नाटकों में भी दमनपूर्ण राजनीति के विरुद्ध आक्रोश का स्वर ध्वनित हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भीष्म साहनी की रचनाओं में उनकी राजनीतिक प्रगतिशीलता स्पष्टतः

प्रतिबिंबित हुई है।

धर्म मनुष्य के आचरण को हितकर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। धर्म का अर्थ है-वे सभी नियम जो मानवीय आचरण संहिता को रूपायित करते हैं। उनके विचारों पर आर्यसमाजी विचारधारा का विशेष प्रभाव है। भारत में अनेक धर्मों के लोग रहते हैं। उनका अपने धर्म के प्रति देखने का एक खास दृष्टिकोण है। इसलिए दो धर्मों के दृष्टिकोण में किसी-न-किसी रूप में भिन्नता का नजर आना स्वाभाविक है। परंतु ये लोग अपने अपने धर्म का जब संकुचित अर्थ लेने लगते हैं तब धार्मिक समस्याएँ पैदा होती हैं। देश के बँटवारे के समय हुए सांप्रदायिक दंगे भीष्म साहनी ने अपनी आँखों से देखे थे। 1947 में रावलपिंडी तथा आसपास के गाँवों में हुए हिंदू-मुस्लिम दंगों के वे स्वयं साक्षी रहे हैं। भीष्म साहनी का 'तमस' उपन्यास और उनकी 'अमृतसर आ गया है' कहानी पूरी तरह स्वातंत्र्यपूर्व दंगों पर ही आधारित है। राजनीतिज्ञ लोग जिस समय व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए धर्म का उपयोग करने लगते हैं, तो जनमानस अपना विवेक खोकर सांप्रदायिक उन्माद का शिकार हो जाता है। परिणामतः हिंसा और प्रतिहिंसा का तांडव सामुदायिक गतिविधि का प्रमुख अंग बन जाता है। इस मानसिकता का प्रामाणिक और प्रभावपूर्ण चित्रण 'तमस' उपन्यास और कतिपय कहानियों में भीष्म साहनी ने किया है।

धर्म का उपयोग जब कुछ विशिष्ट व्यक्तियों अथवा वर्गों के हित के लिए किया जाता है तो उसका रूप अनिवार्यतः विकृत हो जाता है। धर्म के इस विकृत रूप के संकेत हम 'मैयादास की माडी', 'झरोखे', 'बसंती' में बड़ी स्पष्टता से देख सकते हैं। धर्म का संकुचित अर्थ तथा धर्म का वैयक्तिक स्वार्थ के लिए प्रयोग समस्त मानव-हित के विरोध में होता है। धर्म के नाम पर चलने वाले अनुचित व्यवहार, धार्मिक अंधविश्वास, धार्मिक कट्टरता, दूसरे धर्म को हेय दृष्टि से देखने की वृत्ति, धर्म का वैयक्तिक स्वार्थ के लिए प्रयोग, धर्म के प्रति अतिवादी दृष्टि, धार्मिक पाखंड और धार्मिक विडंबनाओं को और विसंगतियों को 'मेरे भाई बलराज' (जीवनी), 'मैयादास की माडी', 'झरोखे', 'बसंती' (उपन्यास), 'कबिरा खड़ा बजार में', 'मुआवजे' (नाटक) तथा 'पाली', 'शोभायात्रा', 'अमृतसर आ गया है', 'पहला पाठ', 'काँटे की चुभन', 'एष धर्मः सनातन', 'पाप-पुण्य', 'जोत', 'जहूरबख्श' जैसी कहानियों में देखा जा सकता है।

भीष्म साहनी धर्म से मनुष्य को महान मानते हैं। धर्म साधन है। वे धर्मनिरपेक्ष मनुष्यता के पक्षधर हैं। 'पाली' कहानी में धर्म की सीमाओं का उल्लंघन करने वाले जैनब का चित्रण है। जब मनोहरलाल अपनी पत्नी जानकी का वास्ता देकर जैनब से पाली को माँगता है, तब वह कहती है-'ले जाओ अपने बच्चे को। हम नहीं चाहते किसी बदनसीब की बद्दुआ हमें लगे... हमें क्या मालूम तुम्हारे दोनों बच्चे खो चुके हैं।' यहाँ स्पष्ट है कि एक ओर पाली, मनोहर, कौशल्या, शकूर, जैनब हैं, जिसके लिए ममता और मनुष्यता मुख्य चीज है। वे मजहब और धर्म की संकुचित और कृत्रिम सीमाओं से ऊपर उठे हुए सच्चे इंसान हैं। इसलिए वे इस बात से आर्शकित नहीं होते कि वे एक काफिर की संतान का पालन कर रहे हैं। दूसरी ओर मौलवी साहब और पंडित हैं, जिनके लिए धार्मिक अनुष्ठान अथवा धार्मिक रूढ़ि ही सर्वोपरि है।

भीष्म साहनी ने यहाँ यह संकेत करना चाहा है कि पंडितों और मौलवियों जैसे धर्म व्यावसायिकों का मत दुराग्रहों से जुड़ा रहता है, जबकि धर्म का सच्चा स्वरूप मानवीय करुणा, मानवीय प्रेम और संवेदनात्मक अनुभूति के रूप में प्रकट होता है। मनुष्य के यही गुण उसे अन्य

धर्मों के प्रति उदार और सहनशील बनाते हैं। भारतीय धर्म-साधना में धार्मिक सहिष्णुता सनातन गुण के रूप में विद्यमान रही है। भारतीय धर्म-साधना की इन्हीं विशेषताओं को रेखांकित करते हुए भीष्म साहनी का एक पात्र कहता है—‘खास बात यह है कि किसी धर्म ने दूसरे धर्म के मंदिर तोड़कर अपने मंदिर खड़े नहीं किए। यह खास बात है, जब हिंदुओं ने मंदिर बनाए तो बौद्धों के मंदिर ज्यों-के-त्यों खड़े रहने दिए, उन्हें तोड़ा नहीं, बिगाड़ा नहीं, हमारे यहाँ सहनशीलता रही है, हमारे देश की यह खास बात है।’¹⁰

भीष्म साहनी का धार्मिक दृष्टिकोण ‘तमस’, ‘मैयादास की माडी’, ‘कुंतो’ (उपन्यास), ‘कबिरा खड़ा बजार में’, ‘माधवी’ (नाटक) तथा ‘जख्म’, ‘पोखर’, ‘झुटपुटा’, ‘सरदारनी’, ‘निमित्त’, ‘नौसिखुआ’ कहानियों में सरलता से देखा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि साहनी जी को धर्म का वही स्वरूप स्वीकार्य है, जिसके आचरण से मनुष्य उदात्त जीवनमूल्यों को अपनाकर मानवीय प्रेम और समाज के ममतामूलक सिद्धांतों के आधार पर ‘वसुधैवकुटुम्बकम्’ के आदर्श को अपनाता है। वे धर्म की भेदवादी अथवा धर्म के विधि निषेध की दृष्टि को धर्म का मूल रूप नहीं मानते।

भीष्म साहनी धर्म की पारंपरिक मान्यताओं तक संतुष्ट नहीं होते चूँकि वे धर्म को आदर्श जीवन-प्रणाली का प्रतिरूप मानते हैं, इसलिए उसे जीवन स्थितियों की सापेक्षता में परिवर्तित होते रहने की अपेक्षा भी करते हैं। समाज की आर्थिक, राजनीतिक, सामुदायिक और सांस्कृतिक स्थितियों के परिवर्तन के साथ ही धार्मिक मान्यताओं में अपेक्षित परिवार और परिशोधन आवश्यक है। आज के भौतिक युग में आवश्यक है कि धर्म हमें आर्थिक प्रगति और वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त करने में सहयोग दे। इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए ‘जख्म’ कहानी का एक पात्र कहता है—‘अभी तक जितने भी धर्म हुए हैं, उनमें नैतिक नियमों का तो दखल था, लेकिन साइंस और अर्थशास्त्र का दखल नहीं था। अब हमें एक ऐसे धर्म की जरूरत है, जो विज्ञान, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र पर आधारित हो।’¹¹

भीष्म साहनी ने अपनी रचनाओं में धर्म का जो स्वरूप संप्रेषित किया है, वह नितांत वैज्ञानिक आचरणमूलक और मानवीय संभावनाओं की समग्रता का साधक है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति और सामाजिक आदर्शों के प्रति आस्थावान होते हुए भी भीष्म साहनी प्रगतिशील रचनाकार हैं। उनकी सभी रचनाओं में सर्वत्र मानवीय विकास और मानवीय कल्याण के लिए प्रगतिशील विचारधारा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। बसंती, सुषमा, प्रमिला, तिलकराज, हीरालाल जैसे पात्र विपरीत परिस्थितियों में भी रचनात्मक मार्ग का संधान करते हैं। परंपरा से अलग हटकर नए जीवनमूल्यों का वरण करनेवाले ये पात्र भीष्म साहनी के प्रगतिशील विचारों की पुष्टि करते हैं। गहरे सामाजिक सरोकार और प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण उनका समग्र साहित्य समकालीन युग की संवेदना का सफल अभिव्यंजन है।

संदर्भ

1. मधुमती, वर्ष-3, अंक-2-3, अप्रैल-जुलाई, 1962, पृ० 2
2. आधुनिक हिंदी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना, डॉ. लक्ष्मणदत्त गौतम, पृ० 33
3. बसंती, भीष्म साहनी, पृ० 59

4. वही, पृ० 87
5. कुंतो, भीष्म साहनी, पृ० 277
6. कड़ियाँ, भीष्म साहनी, पृ० 198
7. मैयादास की माडी, भीष्म साहनी, पृ० 333
8. कुंतो, भीष्म साहनी, पृ० 223
9. पाली (कहानी संग्रह), भीष्म साहनी, पृ० 28
10. निशाचर (कहानी संग्रह), भीष्म साहनी, पृ० 146
11. पटरियाँ (कहानी संग्रह), भीष्म साहनी, पृ० 85

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग एवं अनुसंधान केंद्र
न्यू आर्ट्स, कॉमर्स एंड साइंस कॉलेज
अहमदनगर 414001 (महाराष्ट्र)
मो० 9850855699

हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना

डॉ० धूपनाथ प्रसाद

प्रस्तावना

संसार की किसी भी निर्मिति की एक व्याकरणिक संरचना होती है। चाहे वह शरीर की संरचना हो या भवन की संरचना हो या परिवेश की संरचना हो या पाठ्य की संरचना या भाषा की संरचना; रचना के बाद संरचना का व्याकरण प्रतिभूत होता ही है। भाषिक संरचना के पूर्व बोली जब भाषा बनने की प्रक्रिया में परिवर्द्धित होती है, तब संरचना का व्याकरण ही उसे व्यवस्थित करता है। यह व्यवस्था ही व्याकरण का अनुशासन है। व्याकरण का शाब्दिक अर्थबोध भी वि+आ+करण (व्याकरण) है, जिसका भावार्थ विभाव की ओर संकेत करता है अर्थात् विशेष आकार का करण (Cause) जानना। उत्प्रेरित अर्थ यह हुआ कि शब्दरूप की भाषिक में परिवर्तित वाक्य-संरचना या वाक्य-विन्यास का कारणिक करण क्या है, जिससे भाषिक प्रवाह प्रवाहित है। व्याकरण इसी व्यवस्था का अनुशासन है। संसार का प्राचीनतम उपलब्ध वाङ्मय वेद है और भारत में व्याकरण का उद्भव वैदिक ऋचाओं की संरचना के थोड़े ही दिन बाद हो गया था। यहाँ यह बात साफ हो जाती है कि ऋचाओं की प्रभाविता के कारणिक करण की जिज्ञासा ने व्याकरण की व्यवस्था को जन्म दिया। ज्ञातव्य है कि व्याकरण की सुदीर्घ परंपरा आचार्य पाणिनी के हाथों पूर्णता को प्राप्त हुई। 'हिंदीभाषा के लिए वह दिन सचमुच बड़े गौरव का होगा, जब इसका व्याकरण 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' के मिश्रित रूप में लिखा जाएगा, पर वह दिन अभी बहुत दूर है।' पं० कामताप्रसाद गुरु के वक्तव्य के मूल में है अँग्रेजी व्याकरण के ढंग पर लिखा गया व्याकरण। इसमें संस्कृत वैयाकरणों को छोड़ दें तो हिंदी-व्याकरण लिखने वालों का कोई सायास दोष नहीं है, यह प्रचलन की पद्धति के परिवेशगत प्रणाली का व्यावहारिक प्रतिफल है। इसके दो कारण प्रमुख हैं—एक तो संस्कृत के वैयाकरण हिंदी को एक स्वतंत्र और उन्नत भाषा समझकर इसके व्याकरण को स्वतंत्र छोड़ दें और दूसरा कि अँग्रेजी व्याकरण के अनुगमन में हिंदी अपने स्वभाव का केंचुल न छोड़ती चले। क्योंकि प्रत्येक भाषा की अपनी परिवेशगत स्थिति के प्रतिफल में उसकी व्याकरणिक संरचना उस भाषा के स्वभाव से संभरित होती है। द्रविड़ियन भाषा का स्वभाव अलग है तो बंगला और मराठी का स्वभाव भी अलग है। हिंदी के सहजोर में चलने वाली भोजपुरी भाषा का भी स्वभाव अलग है। उर्दू, पंजाबी, कश्मीरी आदि भारतीय भाषाएँ या भारोपीय भाषाएँ इन सबका स्वभाव अलग-अलग है। फिर भी कहीं-न-कहीं स्वभाव में विभाव का सहचर संयोग देखा जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि एक-दूसरे का पूर्णरूपेण अनुगमन हो जाए। पर आज का एक गंभीर संकट यह भी है कि वैश्विक परिदृश्य में जो परस्परता बढ़ी है, उसमें हम एक-दूसरे के स्वभाव में अपने विभाव का आरोपण कर सहज मन से उसे स्वीकार कर व्यवहारपरक बना रहे हैं, ऐसी स्थिति में हिंदी के साहचर्य में आनेवाली व्यवहारपरक भाषाएँ

समन्वयकारी भाव उत्पन्न कर रही हैं। अस्तित्वगत भाषायी संघर्ष के इस क्षण में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा 'हिंदी-व्याकरण की रूप-संरचना' का प्रतिपादन कर समकालीन समय की व्याकरणिक विसंगतियों से ऊपर उठकर एक व्याकरणिक प्रतिमान स्थापित करेगा, यह मेरे प्रस्ताव का प्रतिफलन है।

हिंदी

हिंदी साहचर्य, सहयोग और प्यार की भाषा है और प्यार की भाषा के लिए व्याकरण की आवश्यकता नहीं होती। ध्यातव्य हो कि मातृभाषा सीखने के लिए वह अबोधशिशु माँ की ममता से सीखता है, पिता के प्यार से सीखता है, वहाँ किसी व्याकरण से नियमबद्ध नहीं हुआ जाता। यह तो बाद की व्यवस्था है, अनुशासन है, जो संरचना से सुदृढ़ होती है। अधिगम तो आसव है। ऐसे में यदि भाषा में विद्यमान नियमों की खोज करके उन्हें समुचित क्रम में संकलित कर लिया जाय तो ऐसे संकलन को प्रायः व्याकरण कहा जा सकता है। हिंदीभाषा की व्याकरणिक रचना भी इन्हीं नियमों के संकलन से सुदृढ़ हुई। हिंदी अपने सहोदर स्वभाव के कारण विश्व की कई भाषाओं को अपने में समाहित कर संपन्न हुई है। कहा भी गया है कि भाषा वह अर्जित संपत्ति है, जिसे हम अपने पूर्वजों और सहोदरों के संलाप से प्राप्त करते हैं, फिर उसकी शुद्धता के नियमों का निरूपण करते हैं, यह निरूपण ही व्याकरण है। यह निरूपण ही किसी भी बोली को भाषा के स्तर पर स्वीकृति दिलाती है। फिर वह एक अनुशासन में बँधकर प्रतिष्ठित हो जाती है। और जैसे तो रद्दी-सद्दी भोजन से भी काम चल जाता है, पर अच्छे भोजन की बात ही कुछ और है। भाषा के साथ भी यही बात लागू होती है। अपनी अभिव्यक्ति का रंग-रूप निखारने और अपना सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर उठाने के लिए सुसंस्कृत हिंदी की आवश्यकता लाजिमी है। क्योंकि किसी भी विषय की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए भाषा की मजबूती आवश्यक है और यह मजबूती भाषा की संरचना से ही आती है। संरचना ही किसी भाषा की व्याकरणिक रचना है। हिंदी अपनी रूप-संरचना के परिशोधित पथ से पीछे नहीं है।

व्याकरण

व्याकरण भाषा की वह औषधि है, जो भाषा के शुद्ध रूप और प्रयोग के नियमों को अपने प्रभाव से भाषा में प्रयुक्त होकर ठीक करती है, जिसके द्वारा भाषा का सम्यक ज्ञान होता है। जैसे भी व्याकरण का शाब्दिक अर्थ है विश्लेषण। अर्थात् भाषा के संदर्भ में उसका अर्थ है—भाषा का विश्लेषण।

भाषा वाक्यात्मक होती है, वाक्य चाहे छोटा हो या बड़ा। भाषा को जगत् के व्यवहार का मूल माना जाता है। भाषा-प्रलोभन ने ही मनुष्य को भाषा में विद्यमान नियमों की खोज कर संकलित करने की प्रवृत्ति पैदा की। इस प्रवृत्ति ने ही व्याकरणों की रचना करवाई। शब्द के शुद्धरूप निरूपण ने शब्द-संरचना का शास्त्रीय नियम सृजित किया। इसके लिए एक शब्दानुशासन बना, यह शब्दानुशासन ही व्याकरण की रचना है। अर्थात् व्याकरण में शब्दों के प्रचलित प्रयोगों को नियमबद्ध करना। व्याकरण वाक्य-विन्यास के नियमों द्वारा भाषिक संरचना को स्वस्थ बनाता है। व्याकरण भाषा को व्यापक और चिरस्थायी बनाता है, जिससे भाषाएँ उन्नति करती हैं। भाषा के उन्नयन में व्याकरण सहभागी तो है, परंतु व्याकरण का क्रूर नियंत्रण भाषा-प्रवाह की जीवंतता में बाधक भी है। अतः व्याकरण के नियम जितने स्पष्ट और सरल होंगे, भाषा के अनुसार

प्रयोगशील होंगे, वैसे भी किसी भाषा के व्याकरण का निर्माण उसके साहित्य की पूर्ति का कारण होता है और उसकी प्रगति में सहायता देता है। भाषा की सत्ता स्वतंत्र होने पर भी व्याकरण उसका अनुयायी बनकर उसे समुन्नत होने में सहायक होता है। भाषा की चंचलता को नियंत्रण में रखने के लिए व्याकरण की व्यवस्था सर्वव्यापी है।

(क) शब्दपरकता

यह सच है कि शब्दों की बनावट और उसके संबंध की खोज में भाषा-प्रयोग की शुद्धता आ जाती है। व्याकरण में भाषा के रूप-रचनात्मक ढाँचे की तलाश ही व्याकरण की शब्दपरकता है। शब्दों का शब्दायित होना ही शब्दिता है। व्याकरण शब्द को शब्दपरकता से वेष्टित कर ध्वनि की सार्थकता से आप्लावित करता है। अस्तु, शब्दित होना ही व्याकरण की शब्दपरकता है। भाषा में जिन शब्दों का उपयोग किया जाता है, वे किसी-न-किसी कारण से कल्पित होते हैं, कल्पित-कल्पना के बोध से ही शब्द अपने वाच्य पदार्थादि की भावना को अपने में बाँधे रहते हैं, जिससे शब्दों के उच्चारण करते ही उस पदार्थ का बोध हो जाता है। यथा-

जो कुछ कहना है
ध्वनियों को शब्दों में बाँधें
वस्तुनिष्ठता.....
स्वतः संप्रेषित हो जाएगी
फलप्राप्ति
उसका आधारतत्त्व है!

आचार्य सायल की पंक्तियों में यह आधारतत्त्व ही व्याकरण की शब्दपरकता है।

(ख) क्षेत्र

व्याकरण का क्षेत्र पद और उसकी रूप रचना है, अर्थ नहीं, अर्थ कोश का क्षेत्र है। फिर भी व्याकरण से पद-अर्थ खोल लिए जाते हैं, यह व्याकरण का विस्तार फलक है, क्षेत्र नहीं। रूपरचना का प्रसंग एक होने पर भी लाक्षणिकता या अर्थांतरण व्याकरण का क्षेत्र नहीं है, वह काव्यशास्त्र का क्षेत्र है। यह भाषाज्ञान की पूर्णता के लिए आवश्यक है, तो भी ये अपने आपमें स्वतंत्र विषय है और व्याकरण से इनका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। काव्यशास्त्र काव्यात्मक रसास्वादन का आलेपन है, व्याकरण व्यवहार की विविधता है। क्योंकि काव्य तो भाषा को रोचक बनाता है, व्याकरण भाषा को अनुशासित करता है।

(ग) लाभ

व्याकरण एक शुष्क विषय होते हुए भी भाषा की रचना, शब्दों की व्युत्पत्ति और स्पष्टतापूर्वक विचार प्रकट करने के लिए उनका शुद्ध प्रयोग बताता है। बहुधा कठिन और संदिग्ध भाषायी-अर्थ व्याकरण की अर्थ-विच्छेदन प्रक्रिया से सहज हो जाता है। यह शास्त्रीय ज्ञान व्याकरण से ही आता है। व्याकरण को शास्त्र इसलिए कहते हैं कि वह भाषा के सिद्धांतों की खोज कर शुद्ध प्रयोग अवलंबित कराता है और कला इस अर्थ में है कि शुद्ध भाषा बोलने के उन नियमों के पालन के लिए प्रतिबद्ध कराता है, जिससे हमारी वाग्मिता परिवर्द्धित है।

हिंदी-व्याकरण

हिंदी-व्याकरण की सर्जना में गैर हिंदी विद्वानों का अपरिमित योगदान रहा है। 'किसी भी

भाषा का सर्वांगपूर्ण व्याकरण वही है, जिससे भाषा के सभी शिष्ट रूपों और प्रयोगों का पूर्ण विवेचन किया जाय।' पं० कामताप्रसाद गुरु का यह कथन अपने आपमें पूर्ण है। यह नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के अपने स्थापनाकाल सन् 1893 की हिंदीभाषा की संरचना की चिंता का प्रतिफल है। पं० कामताप्रसाद गुरु प्रणीत 'हिंदी-व्याकरण' जिससे हिंदी-व्याकरण के क्षेत्र में आधारस्तंभ का कार्य आज भी संपादित होता है, जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास', साहित्येतिहास के क्षेत्र में। पंडित कामताप्रसाद गुरु के पूर्व राजा शिवप्रसाद कृत 'हिंदी-व्याकरण', प्लाट्स कृत 'हिंदुस्तानी ग्रामर' तथा काले कृत 'उच्च संस्कृत व्याकरण' और दामले कृत 'शास्त्रीय व्याकरण' ही हिंदी-व्याकरण की गर्भ-रचना कहे जा सकते हैं। पाणिनी कृत 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' ही इसके मूल में हैं। फिर भी हिंदी में अँग्रेजी के समागम की रूढ़ि इतनी प्रबल है कि उसे विलग कर पाना आज अव्यावहारिक प्रतीत होता है। कहा भी गया है कि हिंदी के आदिवैयाकरण का पता लगाना स्वतंत्र खोज का विषय है, इसलिए पं० कामताप्रसाद गुरु को ही हिंदी का आदिवैयाकरण मानना उचित है। वैसे हिंदी-व्याकरण के आदिवैयाकरण तो वे अँग्रेज थे, जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदीभाषा के विधिवत् अध्ययन की आवश्यकता पड़ी, जिसमें जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का नाम आदर से लिया जा सकता है, जिन्होंने 'बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण' का प्रणयन किया। बंगाल का हिंदीभाषा और व्याकरण के योगदान में अप्रतिम स्थान है। उस समय फोर्ट विलियम कॉलेज के डॉ० गिलक्राइस्ट ने अँग्रेजी में हिंदी का व्याकरण लिखा था। उन्हीं दिनों फोर्ट विलियम कॉलेज के हिंदी प्राध्यापक और 'प्रेमसागर' के रचयिता लल्लूलाल जी ने 'कवायद' नाम से हिंदी-व्याकरण का प्रणयन किया। कलकत्ते के पादरी आदम साहब ने 'हिंदी-व्याकरण' की एक छोटी-सी पुस्तिका लिखकर उस समय स्कूलों में प्रचलित कराई थी।

सन् 1875 में प्रकाशित राजा शिवप्रसाद का 'हिंदी-व्याकरण' अँग्रेजी ढंग की होने के साथ ही संस्कृत व्याकरण के सूत्रों का अनुकरण भी है। पं० कामताप्रसाद गुरु का 'हिंदी-व्याकरण' भी उपर्युक्त दोनों प्रणालियों के संयोग-व्यवहार से हिंदी के लिए ज्यादा उपयोगी सिद्ध हुआ।

हिंदी-व्याकरण के लगभग सौ वर्षों के इतिहास में अनेक व्याकरण प्रकाश में आए, जिनको अपने समय एवं काल में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उनमें पादरी एथरिंगटन का व्याकरण 'भाषा भास्कर' दीर्घकाल तक अपनी उपस्थिति बनाए रहा। पं० केशवराय भट्ट कृत 'हिंदी व्याकरण', ठाकुर रामचरणसिंह कृत 'भाषा प्रभाकर', पं० रामदहिन मिश्र कृत 'प्रवेशिका हिंदी-व्याकरण' आदि ने प्रायः देशी-विदेशी मिश्रित प्रणाली से हिंदी-व्याकरण का उत्थान किया। पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने 'विभक्तिविचार' लिखकर हिंदी-विभक्तियों की व्युत्पत्ति में समालोचनात्मक दृष्टि देकर हिंदी-व्याकरण के इतिहास में नवीनता का समावेश कराया। यह समय व्याकरण-रचना के उत्थान-पतन का भी रहा।

संपूर्ण व्याकरण की दृष्टि से पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी कृत 'हिंदी-कौमुदी' की प्रामाणिकता प्रमाणित है। रूसी वैयाकरण डॉ० जाल्मान दीमाशित्स कृत 'हिंदी-व्याकरण' और आचार्य किशोरीदास वाजपेयी कृत 'हिंदी शब्दानुशासन' की कीर्ति-पताका भी परचम की तरह हिंदी-व्याकरण संसार में लहराती रही। परंतु पं० कामताप्रसाद गुरु का हिंदी-व्याकरण नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी का अपना प्रतिमान आज भी प्रतिष्ठित है।

अँग्रेजों के लाभार्थ अँग्रेजी लेखकों में कैलाग, ग्रीब्ज, पिकाट आदि ने भी विदेशी व्यापार

और संबंध के लिए अँग्रेजी में 'हिंदी-व्याकरण' की पुस्तकें लिखकर व्याकरण रचना को समुन्नत किया।

भारोपीय ग्रामर में वाक्य-विश्लेषण प्रमुख था, जबकि व्याकरण पद और वाक्य की रचना तथा रूपरचना का व्यावहारिक प्रयोग पर आधृत था। चूँकि ग्रामर के माध्यम से व्याकरण का प्रणयन हुआ, जिसमें संस्कृत व्याकरण का संपुट भी था। इसलिए ग्रामर और व्याकरण में अंतर करना भ्रामक प्रतीत होता है। लेकिन अमेरिकी विद्वान ब्लूमफील्ड के अनुसार ग्रामर और व्याकरण का क्षेत्र समरूप नहीं है बल्कि भिन्न है। ग्रामर अर्थमूलक है, व्याकरण पदमूलक। ब्लूमफील्ड ने भाषा-अध्ययन की वही पद्धति अपनायी, जो संस्कृत वैयाकरणों ने अपनायी थी। अब सवाल यह उठता है कि हिंदी-व्याकरण की अपनी पद्धति ग्रामर की हो या संस्कृत वैयाकरणों की हो। मेरे विचार से हिंदी-व्याकरण की प्रणाली न तो ग्रामरों से चल पाएगी और न संस्कृत वैयाकरणों से, बल्कि दोनों पद्धतियों के व्यावहारिक पद्धति से, जो सहजता और हिंदी के स्वभाव से समदृष्ट हो। क्योंकि हिंदी सार्वकालिक और सर्वदेशीय भाषाओं को सर्वग्राह्य बना लेती है। इस परिप्रेक्ष्य में रूपरचना को व्यक्त करने वाले व्याकरण की रचना करना हमारा उद्देश्य है। हिंदी-व्याकरण तुलनात्मक परिदृश्य से अलग होकर अपने व्यावहारिक अनुपालन में समृद्ध हो, यही प्रस्ताव की परिकल्पना भी है।

की : 'की' व्याकरणिक-पद्धति से संबंधकारक की विभक्ति है, जो पद-संबंध को अनुरूप बनाती है।

रूप : रूप का सामान्य अर्थ बाह्य आकृति का परिदृश्य है, जो हमें उस परिदृश्य का बोध कराता है। व्याकरण रूपरचना का संबंधकारक है। ऐसे में व्याकरण के अर्थ में रूप का साधारणीकरण व्याकरण के अनुभागों से है। यथा-ध्वनि-वर्ण-शब्द-पद-वाक्य। यह व्याकरण के बाह्य रूप को समादृत करते हैं।

रूपसंरचना

रूपसंरचना व्याकरण के संरचनात्मक सौंदर्य का गठन है। किसी के चेहरे के सौंदर्य को देखकर रूपवान कह सकते हैं। परंतु वह सौंदर्य रूपवान कैसे है, वह उसकी संरचना पर निर्भर है। यथा-सुंदर काली आँखें, उन्नत ललाट, गुलाबी होंठ, उन्नत नासिका, भरे हुए कपोल ये सब रूपवान होने के घटक हैं, जो संरचना से निःसृत हैं। ठीक इसी प्रकार भाषा के रूपवान होने में व्याकरणिक संरचना कारगर होती है। इस संदर्भ में रूपसंरचना के तीन व्याकरणिक प्रकरण हैं। यथा-वर्ण-प्रत्यय (वर्ण विचार) शब्द-साधन (शब्द विचार) और वाक्यविन्यास (वाक्य विचार)। ये प्रकरण संरचना के मूल हैं।

हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना

रूपसंरचना के परिदृश्य में हिंदी-व्याकरण समृद्ध है। हिंदी-व्याकरण की रूपरचना कहने की अपेक्षा मुझे हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना कहना ज्यादा समीचीन लगा, क्योंकि रचना स्वस्फूर्त है, जबकि संरचना संघटन है और व्याकरण का तात्त्विक-अर्थ संरचना में ही है।

हिंदी-व्याकरण अपनी संरचना में त्रिआयामी है-रूपरचनात्मक भाषिकी (Structural Linguistics), वर्ण-रूप-विश्लेषण (Morphophonemic Analysis) तथा अन्वाख्यानतात्मक भाषिकी (Descriptive Linguistics)। ये त्रिआयामी संरचना शब्द, वर्ण और वाक्य-विन्यास की परिस्थितिकी

की ओर संकेत देते हैं। व्याकरण विश्लेषण की पद्धति अपनाकर रूपबंध को खोलता है और पदबंध की निर्मिति करता है।

चूँकि व्याकरण का वर्गीकरण रूपरचना को ध्यान में रखकर किया गया है, अतः व्याकरण में उन्हीं वर्गों को स्थान मिले, जो रूपरचना से संबद्ध हों। उन्हीं से संबद्ध नियमों का संग्रह व्याकरण की रूपसंरचना है।

हिंदी-व्याकरण को न संस्कृत का सहारा अपेक्षित है, न प्राकृत का और न अँग्रेजी का अनुगामी होना है बल्कि जो हिंदी का स्वरूप है, उसे समझना अपेक्षित है। व्याकरण के तीन प्रकरण **वर्ण - शब्द - वाक्य** के अंतर्गत **वर्ण-विचार, शब्दानुशासन तथा वाक्य-विन्यास** की पूरी पड़ताल इस प्रस्ताव का मूल स्वरूप है। इसमें व्याकरण का सर्वांग विवेचन और विश्लेषण आवश्यक होगा। साथ ही **मात्राओं की व्यावहारिकता, लिंग-निर्धारण की स्पष्ट मानकता, बिंदु और चंद्रबिंदु की प्रयोगधार्मिता** के प्रकरण भी स्पष्ट किए जाएँगे।

कारक की विभक्तियों का संख्यावाचक मानक और व्यावहारिक निरूपण तथा **विराम चिह्न की व्याख्या** भी आवश्यक होगी। अं-अः, लृ-ऋ, स, श, ष और नयी/नई, जाय, जाये/जाए आदि अनेकानेक व्याकरणिक दुर्बोधता को दूर कर स्वाभाविक स्वरूप की उपस्थिति इस व्याकरण की निर्मिति होगी। **वर्ण और मात्रा के प्रयोगों पर परिशोधित नियमावली** विन्यस्त होगी, जिससे व्याकरण की व्यावहारिकता परिपुष्ट होकर लोकप्रिय बने। इस तरह **‘हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना’** को विस्तार देते हुए इसे **तीन भागों** में प्रतिपादित करना लक्ष्य है। ये **तीन भाग ही हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना** में संपूर्ण रूप से सहायत्री हैं।

प्रथम भाग : वर्ण-विचार को विन्यस्त करेगा।

हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना

(**वर्ण विचार : भाग - एक**)

द्वितीय भाग : शब्दानुशासन की शासन व्यवस्था से संपूर्ण रूप में संबद्ध होगा।

हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना

(**शब्दानुशासन : भाग - दो**)

तृतीय भाग : वाक्यविन्यास के विन्यसन को व्याख्यायित कर वाक्य-संरचना का स्वरूप स्पष्ट करेगा।

हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना

(**वाक्य - विन्यास : भाग- तीन**)

इस तरह हिंदी-व्याकरण के तीनों प्रकरणों पर प्रचुर प्रयोगों की सैद्धांतिकी।

उपसंहार : हिंदी-व्याकरण का आगमन तो बहुत हुआ, परंतु **हिंदी-व्याकरण की रूपसंरचना** अगर तीन खंडों में प्रकाशित होती है तो हिंदी-व्याकरण के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित होगा। विद्वत्जनों से यह आह्वान है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा 442001 (महाराष्ट्र)
मो. 09420063304

अज्ञेय : साहित्य-चिंतन का नया परिप्रेक्ष्य और भारतीय काव्यशास्त्र

डॉ० नामदेव जासूद

भारतीय काव्यशास्त्र में जहाँ काव्य-विवेचन के केन्द्र में सहृदय आस्वादक है और उसे दृष्टि में रखकर काव्य की मूलभूत समस्याओं का विवेचन किया गया है, वहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य-विवेचन के केंद्र में सर्जक-रचयिता है और उसे दृष्टि में रखकर काव्य की मूलभूत समस्याओं का विवेचन किया जाता है। वस्तुतः सर्जक-रचयिता ही वह भूमि सृजित करता है, जिस पर सहृदय आस्वादक या कि भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि उभरती है, जो सर्जक की दृष्टि से उसकी संप्रेषण-प्रक्रिया में ही घटित होती है। अतः सर्जक की दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र संप्रेषण-प्रक्रिया का शास्त्र है। संप्रेषण-प्रक्रिया सर्जन-प्रक्रिया का बाह्य पक्ष है, आस्वादन से संबद्ध रखता है। उसका आंतरिक पक्ष रचयिता का है, सृष्टि से संबद्ध रखता है। आधुनिकयुग में मनोविज्ञान की खोज ने उस पक्ष का विवेचन भी सुलभ बनाया। इस प्रकार आधुनिकयुग में सर्जक-दृष्टि में काव्य-सर्जन के दोनों पक्षों के विवेचन पर एक साथ बल दिया जाता है।

काव्य-विवेचन की इस प्रणाली का आरंभ पश्चिम में आधुनिकयुग में हुआ। उसके अनुसार वहाँ काव्य का विवेचन-विश्लेषण हुआ है। हिंदी में इस दृष्टि से प्रारंभ में काव्य-विवेचन की प्रवृत्ति छायावाद के प्रमुख कवियों में लक्षित हुई। छायावादी कवियों की काव्य-चिंतन की प्रवृत्ति को नए युग में ज्ञान की विभिन्न दिशाओं से संपन्न परिवर्तित चेतना के फलस्वरूप और भी बल मिला। इस चेतना के मूल में वैज्ञानिक विकास तथा फ्रायड, मार्क्स और डार्विन थे। इस चेतना के कारण जीवन के मूल्यों में आमूलाग्र परिवर्तन की लहर से संक्रांति की स्थिति उत्पन्न हुई। संक्रांतिकाल की इस जटिल चेतना ने कवि-कर्म को जटिल बना दिया। कवि-कर्म की इस जटिलता के अनुभव ने कवियों को कवि-कर्म के विवेचन की ओर उन्मुख किया। संक्रांति की इसी देहरी पर कवि अज्ञेय की चिंतन-शलाका प्रदीप्त हुई है। बल्कि यही वह प्रस्थान-बिंदु है, जहाँ से अज्ञेय की सर्जना और चिंतना का उज्ज्वल रूप निखरता है।

अज्ञेय की काव्य-चिंतन की दृष्टि सर्जक की दृष्टि है, आधुनिक दृष्टि है। इस प्रकार की चिंतन-दृष्टि मूलतः पश्चिम की है। लेकिन जिस समन्वित रूप में वह अज्ञेय में उभरती है, वह शायद टी०एस० इलियट में भी नहीं है, जिनका कि उन्होंने ग्रहण किया है। सर्जक-दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में आस्वादक की दृष्टि को सर्जक की दृष्टि में पुनः परिभाषित करके दोनों पाश्चात्य और भारतीय दृष्टियों को एक समान सर्जक या आधुनिक दृष्टि की भूमि पर स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि दोनों दृष्टियाँ मूलतः और अंततः सृजन की ही दृष्टियाँ हैं। फिर इस समान भूमि

पर दोनों की तुलना करके परस्पर के साम्य और वैषम्य को स्पष्ट किया जा सकता है, साथ ही उसके आधार पर कालानुक्रम से परस्पर को मौलिक चिंतन का श्रेय भी दिया जा सकता है या परस्पर प्रभाव को भी स्पष्ट किया जा सकता है। या फिर यह भी देखा जा सकता है कि एक ही बात दोनों जगह पर एक ही समय में कही जा रही थी या कि अलग-अलग समय में संपर्क और संपर्क पूर्व स्थिति के संदर्भ में। उसी प्रकार दोनों दृष्टियों के योग से काव्य-विवेचन के विकास का चित्र स्पष्ट करके काव्य-विवेचन के सामान्य सिद्धांतों को स्थापित किया जा सकता है। इस पृष्ठभूमि पर फिर हिंदीकाव्य-चिंतकों के स्रोतों या प्रभावों को स्पष्ट करके उनकी मौलिकता तथा प्रदेय या कि काव्य-विवेचन के विकास को भी स्पष्ट किया जा सकता है।

इस व्यापक अध्ययन के लिए सर्जक या आधुनिक दृष्टि से आस्वादक की दृष्टि को पुनः परिभाषित करके दोनों दृष्टियों को एक समान सर्जक-दृष्टि की भूमि पर स्थापित करने के लिए कविकर्म की बुनियादी समस्या को विवेचन का केंद्र बनाएँगे। नए परिप्रेक्ष्य में कवि-कर्म की बुनियादी समस्या को अज्ञेय ने उठाया है। इसलिए सर्जक या आधुनिक दृष्टि के रूप में अज्ञेय के काव्य-चिंतन को ही विवेचन का आधार बनाकर उसके परिप्रेक्ष्य में उपर्युक्त व्यापक अध्ययन के लिए एक झलक मात्र प्रस्तुत करेंगे।

तो अज्ञेय या कि सर्जक की दृष्टि से कवि-कर्म की बुनियादी समस्या है, 'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी संपूर्णता में पहुँचाया जाय। अर्थात् साधारणीकरण और संप्रेषण की समस्या है।' सर्जक की दृष्टि से यह समस्या वस्तुतः सर्जन-प्रक्रिया की समस्या है। क्योंकि कवि के सर्जन-प्रक्रिया में से गुजरने से ही यह समस्या हल होती है। अर्थात् कवि को अपनी अनुभूति को पहचानकर उस पहचान को प्रेषित करके दूसरों तक पहुँचना होता है। अतः अनुभूति की पहचान और उस पहचान का प्रेषण ही कवि-कर्म की मूल समस्या है। इस प्रकार सर्जन-प्रक्रिया का दो पहलुओं में विभाजन हो जाता है। एक आभ्यंतर, रचयिता का, सृष्टि से संबद्ध रखता है, दूसरा संप्रेषण का, आस्वादन से संबद्ध रखता है।

रचनाकार अपनी आंतरिक शक्ति और बाह्य परिस्थिति के बीच होने वाले टकराव से निरंतर भावानुभवों का ग्रहण करता रहता है, जीवन की सच्चाई को पकड़ता रहता है। इस प्रकार 'वास्तव में कलाकार का मन एक भंडार होता है, जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्द, विचार, चित्र इकट्ठे होते रहते हैं।' लेकिन अनुभूति की पहचान तब तक नहीं होती, जब तक इन विभिन्न अनुभवों में कवि-प्रतिभा के ताप से चयन, संपुजन और सघनीकरण होकर रासायनिक क्रिया की तीव्रता में आत्यंतिक एकता का चामत्कारिक योग बनकर एक नया रसायन उत्पन्न नहीं होता। यह नया रसायन या चामत्कारिक योग न्यूटन की तश्तरी को घुमाने पर होनेवाले चमत्कार-सा होता है, जिसमें तश्तरी के सप्तरंग गति में, एक ही रंग में रंग जाते हैं, समा जाते हैं। उसी प्रकार रचनाकार का यह चामत्कारिक योग उसके सहज बोध, संवेदना और कल्पना के सहारे किसी माध्यम के निमित्त से सहसा घटित हो जाता है और उसकी आत्मा के सामने ज्वलंत प्रकाश में आ जाता है। यही उन्मेष का क्षण होता है। इसी क्षण में कवि आत्यंतिक एकता के चामत्कारिक योग में अपनी अनुभूति को जिस माध्यम के निमित्त से यह योग घटित होता है। उसमें समाहित या प्रतिबिंबित पाता है। अर्थात् वह अपनी अनुभूति को पहचानकर उससे अलगाव का अनुभव करता है। इस अलगाव में अनुभूति-प्रत्यक्षता की प्रेषण-शक्ति को भी देख पाता है कि वह देय है, साधारण है, इस प्रकार वह

द्रष्टा बन जाता है। इस प्रकार रासायनिक क्रिया की तीव्रता में आत्यंतिक एकता का चामत्कारिक योग का क्षण उन्मेष है, स्वयं रचना-प्रक्रिया है। क्योंकि वह उसी क्षण में रचनाकार में पूर्णतः घटित हो जाती है, और उससे रचनाकार का आभ्यंतर आलोकित हो जाता है।

अज्ञेय के अनुसार इस चामत्कारिक योग के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कवि नए विषयों से नए भावों की ही खोज करे। विषय नया-पुराना या कुछ भी हो सकता है। 'कोई नया विषय लेकर भी वही पुरानी वस्तु भी दे सकता है और कोई पुराना विषय लेकर नयी वस्तु भी दे सकता है। इसलिए बुनियादी बात होती है काव्यवस्तु की, क्योंकि मौलिकता वस्तु से ही संबंध रखती है।'¹³ यह काव्यवस्तु विषय से उत्पन्न अनुभवों-संवेदनाओं या जीवनानुभवों से उस रासायनिक क्रिया की तीव्रता में किसी माध्यम के निमित्त से चामत्कारिक योग में घटित होती है, जो विषय के साथ कवि के रागात्मक संबंध का प्रतिबिंब बनकर आती है या विषय के साथ कवि के रागात्मक संबंध का परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध का योग बनकर आती है। कवि अपनी अनुभूति का प्रतिबिंब पाकर उससे अलगाव का अनुभव करता है। इस प्रकार 'कलावस्तु बनती है उन अनुभूतियों से, उन अनुभूतियों और भावों के संगम से, जिनसे कवि स्वयं अलग है, तटस्थ है। यह भोक्ता और स्रष्टा का अलगाव जितना होगा, उतना बड़ा वह चामत्कारिक योग होगा, उतना बड़ा कलाकार होगा।'¹⁴

इस प्रकार रासायनिक क्रिया की तीव्रता में आत्यंतिक एकता के चामत्कारिक योग की उपलब्धि काव्यवस्तु या नया रसायन स्वयं सिद्ध होती है, वह कवि अनुभूति प्रत्यक्षता का आलोक पुंज है, जो कवि अनुभूति की पहचान और प्रेषण का दोहरा सामर्थ्य रखता है। काव्यवस्तु की इस स्वयंसिद्धता में रचना की श्रेष्ठता-भव्यता-गौरव-रस है।¹⁵

इस स्वयंसिद्ध काव्यवस्तु को कवि प्रतिभा द्वारा संप्रेषण-प्रक्रिया में पुनः घटित करके अपने आभ्यंतर आलोक को, पाठक के लिए रचना रूपी स्फटिक समाधि में एक पारदर्श मंजूषा में चिरकाल के लिए सुरक्षित कर देता है, जिसके आस्वादन से पाठक भी आलोकित होता रहता है। इस प्रकार रचना-मात्र का लक्ष्य संप्रेषण का आनंद है। यह रचना-प्रक्रिया का पुनः घटन का बाह्य पक्ष, संप्रेषण का पक्ष है, आस्वादन से संबद्ध रखता है।

संप्रेषण की यह प्रक्रिया कवि-प्रतिभा द्वारा घटित होती है। अज्ञेय के अनुसार 'प्रतिभा विषय का संप्रेषण नहीं करती, उसका अर्थ संप्रेषित करती है, और वह अर्थ साधारण होना चाहिए। (यूनिवर्सल) प्रतिभा वस्तु को संप्रेष्य नहीं बनाती, अनुभव को संप्रेषित करती है, और वह अनुभव अद्वितीय होना चाहिए। (यूनीक) अनुभव की अद्वितीयता और अर्थ की साधारणता प्रतिभा के दो इष्ट है, या कहा जाय इन दो ध्येयों का योग ही उसका इष्ट है। जिस प्रक्रिया से यह योग सिद्ध होता है, वही रचना-प्रक्रिया है।'¹⁶

अब सर्जक-दृष्टि के इस पृष्ठभूमि पर भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को पुनः परिभाषित करने के लिए यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि काव्य में अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस और औचित्य होता है तो वह कैसे होता है। अर्थात् काव्य में उनके होने की प्रक्रिया क्या है।

काव्य में अलंकार रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस और औचित्य होता है तो कवि के भावों के साथ ही होता है। अगर नहीं तो उनके होने का न प्रमाण है और न कारण भी। इसलिए कवि के भावों के साथ ही काव्य में उनकी उपस्थिति होती है। अतः काव्य के अलंकार में अलंकार्य रीति

में विशेष गुण, ध्वनि में व्यंग्यार्थ, वक्रोक्ति में वक्रता, रस में भाव और औचित्य में काव्य- तत्त्वों के उचित प्रयोग में भाव निहित होते हैं। इसलिए वे कवि के भावों के धारक और प्रेषक होते हैं। अर्थात् उनमें परस्पर प्रतिबिंबता का संबंध होता है या कि वे परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध के योग होते हैं। और हमने देखा कि सर्जक-दृष्टि से इस योग को 'काव्यवस्तु' कहा गया है, जो कवि अनुभूति-प्रसूत किसी माध्यम के निमित्त से कवि-प्रतिभा के ताप से रासायनिक क्रिया की तीव्रता में आत्यंतिक एकता के चामत्कारिक योग में नया रसायन बनकर आती है, जो कवि अनुभूति-प्रत्यक्षता का आलोकपुंज होने से कवि-अनुभूति की पहचान और प्रेषण का दोहरा सामर्थ्य रखता है। अतः काव्य में अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस और औचित्य आधुनिक सर्जक- दृष्टि से काव्यवस्तु है, जो एक पारिभाषिक संज्ञा के रूप में सामने आती है। इस पारिभाषिक संज्ञा के ये सभी अलग-अलग नाम तत्कालीन युग-प्रवृत्ति के सूचक हैं। इनका विभाजन एवं वर्गीकरण इस प्रकार होगा-

काव्यवस्तु	विषय (साधन)	कवि अनुभव
अलंकार	अलंकरण	अलंकार्य
रीति	पदरचना	विशेष गुण
ध्वनि	वाच्यार्थ	व्यंग्यार्थ
वक्रोक्ति	उक्ति या कथन	वक्रता
रस	विषय तथा आश्रय	भाव
औचित्य	उचित काव्यतत्त्व	भाव

अब इस आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के मूल रूप की सुरक्षा करते हुए उसका पुनः परिभाषित रूप इस प्रकार होगा-

-अलंकार अलंकरण (विषय-साधन) के साथ अलंकार्य (कवि के भाव) के संबंध का प्रतिबिंब है तथा अलंकरण और अलंकार्य के परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध का योग अलंकार है।

-रीति पदरचना (विषय) के साथ विशेष गुण (कवि के भाव) के संबंध का प्रतिबिंब है तथा पदरचना और विशेष गुण के परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध का योग रीति है।

-ध्वनि वाच्यार्थ (विषय) के साथ व्यंग्यार्थ (कवि के भाव) के संबंध का प्रतिबिंब है तथा वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध का योग ध्वनि है।

-वक्रोक्ति उक्ति या कथन (विषय) के साथ वक्रता (कवि के भाव) के संबंध का प्रतिबिंब है तथा उक्ति या कथन और वक्रता के परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध का योग वक्रोक्ति है।

-रस (विषय) तथा आश्रय (विषय) के साथ भावों (कवि के भाव) के संबंध का प्रतिबिंब है तथा विषय या आश्रय के साथ भावों के परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध का योग रस है।

औचित्य उचित काव्यतत्त्वों के प्रयोग (विषय) के साथ भावों के संबंध का प्रतिबिंब है तथा उचित काव्यतत्त्वों के प्रयोग और भावों के परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध का योग औचित्य है।

इसी प्रकार रससिद्धांत के प्रणेता भरत मुनि के सूत्र की परवर्ती व्याख्याकारों ने जो आस्वादक की दृष्टि से व्याख्या की है, उसमें भी परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध के योग की बात लक्षित होती है। क्योंकि इस दृष्टि से भी अंततः सृजन ही तो होता है। इस प्रकार परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध के योग से सर्जना की बात केवल काव्य-सर्जना तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सर्जना के किसी भी सिद्धांत में लक्षित होती है। जैसे आईनस्टाइन के ऊर्जा सूत्र में और न्यूटन के

गुरुत्वाकर्षण के सूत्र में भी लक्षित होती है।

भरत सूत्र के व्याख्याताओं ने आस्वादक को लक्ष्य करके विभावादि और स्थायी के परस्पर संबंध का प्रतिपादन करके आस्वाद प्रक्रिया की व्याख्या की है। उन व्याख्याओं को सूत्र रूप में इस प्रकार देख सकते हैं। आचार्य भट्टलोल्लट का आरोपवाद या उत्पत्तिवाद विभावादि और स्थायी में जनक-जन्य संबंध, आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद विभावादि और स्थायी में अनुमापक-अनुमाप्य संबंध, आचार्य भट्टनायक का भुक्तिवाद विभावादि और स्थायी में भोजक-भोज्य संबंध, आचार्य अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद विभावादि और स्थायी में व्यंजक-व्यंग्य संबंध को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार आस्वाद-प्रक्रिया में भी परस्पर प्रेषक-प्रेष्य संबंध के योग की बात लक्षित होती है, वही रचना-प्रक्रिया में भी होती है। पहले उन्मेष के क्षण में, जब रचना कवि में घटित होती है और फिर संप्रेषण-प्रक्रिया में जब रचना रचना-रूप में घटित होकर संप्रेष्य बन जाती है। और अब सर्जक की दृष्टि से रचना-प्रक्रिया का संप्रेषण पक्ष आस्वादन से ही संबंध रखता है तो वह पाठक की आस्वाद-प्रक्रिया में भी घटित हो सकती है। क्योंकि सर्जक के लिए तो उसकी सर्जन-प्रक्रिया ही उसकी आस्वाद-प्रक्रिया है। यह सर्जक का आस्वाद है। बौद्धिक-मानसिक आस्वाद है, उच्चस्तरीय है। उसी को वह संप्रेषण-प्रक्रिया में पुनः घटित करके पाठक के लिए चिरकाल के लिए सुरक्षित कर देता है। अतः पाठक भी जब रचना पढ़ता है तो वह विषय ग्रहण नहीं करता, उसका साधारण अर्थ ग्रहण करता है, साथ ही वह वस्तु को ग्रहण नहीं करता, उसके द्वारा प्रेषित अनुभव ग्रहण करता है। इस प्रकार 'वस्तु' के माध्यम से अनुभव अद्वितीय प्रतीत होता है। इस अद्वितीय अनुभव और अर्थ की साधारणता के योग से वह रचना का आस्वाद करता है।

यहाँ यह लक्षित होता है कि अज्ञेय ने भारतीय काव्यशास्त्र की आस्वाद-प्रक्रिया को सर्जन-प्रक्रिया के संप्रेषण पक्ष में घटित करके उसकी सर्जक की दृष्टि से पुनः स्थापना की है। इतना ही नहीं, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के भेदों या अंगों-उपांगों के भीतर प्रवाहित संप्रेषण की विशिष्टता और उसकी स्थितियों की सूचकता को संप्रेषण-प्रक्रिया में घटित करके भारतीय काव्यशास्त्र को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में सूत्रबद्ध किया है। इस प्रकार सर्जक की दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र संप्रेषण-प्रक्रिया का शास्त्र प्रमाणित हो जाता है।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के पुनः परिभाषित रूप में लक्षित होता है कि भारतीय काव्यशास्त्र का प्रत्येक सिद्धांत स्वतः पूर्ण है, जो कविकर्म की बुनियादी समस्या साधारणीकरण और सम्प्रेषण का प्रतिपादन करता है। लेकिन अगर सभी सिद्धांत एक ही बात का प्रतिपादन करते हैं तो अलग-अलग नाम सूचक सिद्धांतों का प्रतिपादन क्यों किया गया है? अज्ञेय का ही कहना है कि 'हाँ, क्योंकि नाम ही तो अलग-अलग होते हैं, हो सकते हैं, लेकिन सबमें एक ही तो है! वही नित्य है जो निरंतर बदलता जाता है और फिर भी सदैव रहता है, और रहेगा।' अर्थात् ये नाम सिक्के हैं, जो युगस्थिति और युगमानस के प्रतिबिंब हैं। निःसंदेह, इन नामों के सहारे उस युगस्थिति और युगमानस को साहित्यिक-सांस्कृतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है और जाना जा सकता है कि जिसे 'काव्यवस्तु' कहा जाता है, उसे क्यों अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस और औचित्य नामों से परिभाषित किया गया है। पर इस 'काव्यवस्तु' में अनुभूति की पहचान और प्रेषण का दोहरा सामर्थ्य होता है, इस दोहरी शक्ति को पहचानकर प्राचीन आचार्यों

ने उसे काव्यात्मा का गौरवपूर्ण स्थान दिया था तो उचित ही था। रचना की यह बुनियादी शक्ति 'काव्यात्मा' आज 'काव्यवस्तु' में समाहित है। निःसंदेह, यह युगस्थिति और युगमानस के अंतर का ही परिणाम है। 'काव्यात्मा' या 'काव्यवस्तु' में निहित तत्त्व को अज्ञेय ने वैज्ञानिक युग के संदर्भ में परिभाषित करके प्रारंभ में 'प्रयोग' में (दोहरा साधन) घटित किया था और फिर 'मुखौटे' पर सौंप दिया है। इस प्रकार ये सभी अलग-अलग नाम एक ही शक्ति के हैं, जो युग-प्रवृत्ति के सूचक हैं और अपनी विशिष्टता के साथ पारिभाषिक संज्ञा के रूप में सामने आते हैं।

अब अगर एक ही शक्ति को किसी ने अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस और औचित्य नामों से परिभाषित किया है और वे आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं तो निःसंदेह अगर अज्ञेय इसी शक्ति को प्रयोग और मुखौटे के सिद्धांत में घटित करके नये युग के परिप्रेक्ष्य में उसकी व्याख्या करते हैं तो अज्ञेय को आधुनिक वैज्ञानिक युग के काव्य आचार्य कहना उचित ही होगा। क्योंकि उन्होंने अपने विस्तृत चिंतन में केवल भारतीय काव्यशास्त्र को नए युग के परिप्रेक्ष्य में पुनः परिभाषित ही नहीं किया, बल्कि भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के भीतर प्रवाहित एकसूत्रता को पकड़कर वे आगे बढ़े हैं।

काव्य-सिद्धांतों के इस एकसूत्रता के संदर्भ में पाश्चात्य सिद्धांतों का उल्लेख करना अनुचित न होगा, क्योंकि उनके आधार पर ही मूलतः सर्जक दृष्टि उभरती हुई दिखाई देती है। इलियट का वस्तुनिष्ठ समीकरण और निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत काव्यवस्तु के योग का ही सिद्धांत हैं, उसी प्रकार रिचर्ड्स का मूल्य और संप्रेषण-सिद्धांत भी। साथ ही अनुकरण, विरेचन, उदात्त, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, बिंबवाद सभी सिद्धांत और वाद इसी काव्यवस्तु के ही सिद्धांत हैं। क्योंकि सारा शास्त्र इसी में से निकलता है और इसी में विलय होता है। और यह प्रक्रिया निरंतर बनी रहेगी, क्योंकि निर्माण और विलय एक शाश्वत प्रक्रिया है, और शाश्वत रहेगी।

संदर्भ

1. तारसप्तक, पृ० 222
2. त्रिशंकु, पृ० 41
3. दूसरा सप्तक, पृ० 8
4. त्रिशंकु, पृ० 40
5. वही, पृ० 41
6. आधुनिक हिंदी साहित्य, पृ० 151
7. तारसप्तक, पृ० 245,246

उपप्राचार्य एवं अध्यक्ष,
स्नातक एवं स्नातकोत्तर हिंदी विभाग,
संगमनेर नगरपालिका कला, दा.ज.
मालपाणी वाणिज्य तथा ब.ना. सारडा विज्ञान महाविद्यालय,
संगमनेर जिला अहमदनगर (महाराष्ट्र)
ई-मेल : npjasud09@gmail.com
मो० 09689423751

अज्ञेय का साहित्य चिंतन साहित्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य डॉ० नामदेव जासूद

साहित्यशास्त्र मूलतः स्रष्टा, सहृदय और सृष्टि के परस्परान्वित तत्वों के विवेचन-विश्लेषण का शास्त्र है। भारतीय साहित्यशास्त्र में इस त्रिवृत्त का विवेचन साहित्य के सर्जित रूप के आधार पर है। अतः उसका रूप सिद्धात्मक या अमूर्त है, साथ ही इस त्रिवृत्त की परस्परता और उससे उत्पन्न सिद्धांतों का रूप भी सिद्धात्मक या अमूर्त ही है। लेकिन जहाँ तक सहृदय के आस्वादन के विवेचन-विश्लेषण का संबंध है, यह सिद्धात्मकता उसके आस्वादन में क्रियाशील होती है। इसीलिए भारतीय साहित्यशास्त्र की क्रियाशीलता सहृदय के आस्वादन के माध्यम से ही उजागर होती है। अतः भारतीय साहित्यशास्त्र के विवेचन में सहृदय आस्वादक की विशेष भूमिका लक्षित होती है। यही कारण है कि भारतीय साहित्यशास्त्र के विवेचन की दृष्टि आस्वादक की दृष्टि के रूप में सामने आती है, लेकिन यह आस्वादक का आस्वादन वस्तुतः पूर्वघटित का पुनर्घटन है। अतः स्वभावतः आधुनिकयुग में उस घटना और घटनाकर्ता के प्रति साहित्यचिंतकों में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। इस जिज्ञासा को सुलझाने में मनोविज्ञान और भौतिक विज्ञानों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अतः आधुनिकयुग में साहित्य के विवेचन-विश्लेषण में रचनाकार और उसका कर्म, रचनाकार का व्यक्तित्व और उसके परिवेश का विवेचन आरंभ हुआ। यही वह पृष्ठभूमि है, जहाँ से अज्ञेय के साहित्य-चिंतन का अन्वेषण आरंभ होता है।

‘अज्ञेय’ के साहित्य-विषयक चिंतन के अन्वेषण में उनकी दृष्टि आधुनिकयुग की चेतना से उत्पन्न संक्रमणशील परिवेश में रचनाकर्म के दौरान उभरती हुई, समस्याओं का विवेचन करती हुई, अँग्रेजी कवि-समीक्षक टी०एस० इलियट के साक्ष्य पर आरंभ होकर, अपने साहित्य की वाचिक परंपरा और उसकी आधुनिक परिणतियों के अन्वेषण के माध्यम से आकार लेकर आधुनिक साहित्य-चिंतन के रूप में विकसित होती है। इस विकास-क्रम में उनकी दृष्टि एक सर्जक-साहित्यकार की है, जो स्वयं ही अपनी सर्जना के समानांतर विकसित होती है। अतः उनकी दृष्टि में न शास्त्र की जड़ता है और न आलोचक की एकोन्मुखता, बल्कि एक सर्जक साहित्यकार की उन्मुखता और बहुआयामिता है। इसलिए उनका साहित्य-विषयक अलग-अलग पक्षों का विवेचन उसके अन्यान्य पक्षों के साथ अपना सहज संबंध स्थापित करता हुआ समग्र साहित्य-रचना की एक गतिशील प्रक्रिया प्रस्तुत करता है। अतः स्वभावतः उनका साहित्य-चिंतन एक गतिशील रूप ग्रहण करता है।

अज्ञेय के साहित्य-चिंतन का यह रूप और उसकी त्रिवृत्तीय परस्परता को उनकी

साहित्य-सर्जना की प्रक्रिया के माध्यम से उपस्थित किया जा सकता है और जाना जा सकता है कि उनके चिंतन की स्थिति और गति क्या है? क्योंकि अंततोगत्वा सर्जना ही चिंतन और क्रमशः शास्त्र का आधार है। अतः यहाँ 'अज्ञेय' की सर्जन-प्रक्रिया का विवेचन करना संगत होगा।

सर्जन-प्रक्रिया नियोजित प्रक्रिया नहीं है। वह एक पूर्वोन्मुख और सहज प्रक्रिया है और उसकी सहजता में ही उसकी गति है। क्योंकि अनवधान की स्थिति में जब रचनाकार का ध्यान कहीं केंद्रित नहीं होता, तब अचानक स्मृति का कोई खंडबिंब या कभी-कभी शब्द कौंधकर रचना की शुरुआत करता है। इस सर्जनात्मक अनवधान की स्थिति में क्या होता है, कैसे होता है, संप्रेषण के स्तर पर दूसरे तक पहुँचने की क्या प्रक्रिया होती है, इन बातों का सर्जन-प्रक्रिया में विचार आवश्यक हो जाता है।

रचनाकार का अनवधान और संप्रेषण के आधार पर सर्जन-प्रक्रिया के दो पक्ष हो जाते हैं, लेकिन दोनों समग्र रचना-कर्म के दो पहलू हैं। एक आभ्यंतर, अनवधान की स्थिति का जो सृष्टि से संबंध रखता है। दूसरा संप्रेषण का बाह्य अथवा सामाजिक यानी ग्रहण अथवा आस्वादन से संबंध रखता है।

आभ्यंतर पक्ष में भावानुभव का संग्रह, उसका भोग और उससे उन्मोचन की एक सतत प्रक्रिया चलती रहती है, क्योंकि संवेदनशील रचनाकार अपनी आंतरिक शक्ति और बाह्य परिस्थिति के बीच होनेवाले टकराव से निरंतर भावानुभव का ग्रहण करता रहता है, जीवन की सच्चाई को पकड़ता रहता है। इस प्रकार 'वास्तव में उसका मन एक भंडार होता है, जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्द, विचार, चित्र इकट्ठे होते रहते हैं।" लेकिन अनुभूति की पहचान तब तक नहीं होती, जब तक इन विभिन्न भावों में उसकी प्रतिभा के ताप से चयन, संपुंजन और सघनीकरण होकर रासायनिक क्रिया की तीव्रता में आत्यंतिक एकता का चामत्कारिक योग बनकर एक नया रसायन उत्पन्न नहीं होता। यह नया रसायन या चामत्कारिक योग वस्तुतः न्यूटन की तश्तरी को घुमाने पर होनेवाले चमत्कार-सा होता है, जिसमें तश्तरी के सप्तरंग गति में एक ही रंग में रंग जाते हैं। उसी प्रकार रचनाकार का यह चामत्कारिक योग उसके सहजबोध, संवेदना और कल्पना के सहारे किसी माध्यम के द्वारा सहसा घटित हो जाता है और उसकी आत्मा के सामने प्रकाश आ जाता है। वस्तुतः यही 'उन्मेष' का क्षण है, सर्जनात्मक अनवधान है। इसी क्षण में रचनाकार आत्यंतिक एकता के चामत्कारिक योग में अपनी अनुभूति को जिस माध्यम के द्वारा यह योग घटित होता है, उसमें समाहित पाता है। अर्थात् वह अपनी अनुभूति-संप्रेषक को पाकर अपनी अनुभूति को पहचानकर उससे अलगाव का अनुभव करता है। इस अलगाव में, तटस्थता में अनुभूति-संप्रेषक की प्रेषण-शक्ति को भी देख पाता है कि वह देय है, सार्वजनीन है। इसप्रकार वह द्रष्टा बन जाता है। यह योग का क्षण 'उन्मेष' वस्तुतः स्वयं रचना है। क्योंकि वह उसी क्षण में रचनाकार में घटित हो जाती है और उससे उसका आभ्यंतर आलोकित हो जाता है।

इस चामत्कारिक योग के लिए आवश्यक नहीं है कि रचनाकार नये विषयों से नये भावों की खोज करें, विषय नया-पुराना या कुछ भी हो सकता है। 'कोई नया विषय लेकर भी वही पुरानी वस्तु भी दे सकता है और कोई पुराना विषय लेकर नयी वस्तु भी दे सकता है।'² इसलिए महत्त्व की बात काव्यवस्तु की है। क्योंकि मौलिकता वस्तु से ही संबंध रखती है। यह काव्यवस्तु विषय से उत्पन्न अनुभवों-संवेदनाओं या जीवनानुभव से उस रासायनिक क्रिया की तीव्रता में

किसी माध्यम के द्वारा चामत्कारिक योग में घटित होती है। इसी योग के सर्जित रूप को भारतीय साहित्यशास्त्र में 'काव्यात्मा' नाम से अभिहित किया गया था। क्योंकि भारतीय साहित्यशास्त्र के सिद्धांत रचनाकार को उस वैशिष्ट्य या रासायनिक क्रिया की तीव्रता में आत्यंतिक एकता के चामत्कारिक योग की संयोजना कराना ही सिखाते हैं। अब वे उक्त क्रिया की तीव्रता में घटित होकर 'काव्यवस्तु' के रूप में सर्जित होकर रचनाकार को अपनी अनुभूति की पहचान और संप्रेषण की सामर्थ्य प्रदान करते हैं। यह दोहरा सामर्थ्य उसे एक स्वायत्त इकाई का रूप देता है। इसी स्वायत्त इकाई में उसकी श्रेष्ठता, भव्यता, गौरव, रस, सौंदर्य होता है।

लेकिन रचनाकार का यह आभ्यंतर पक्ष उसकी आत्माभिव्यक्ति तक ही सीमित रह जाता है, यद्यपि उसमें स्वतः पूर्णता है। पर 'रचना केवल अभिव्यक्ति नहीं है, वह संप्रेषण है।'¹³ अर्थात् वह आत्माभिव्यक्ति किस स्थिति में किसके लिए हुई है। इसलिए संप्रेषण के स्तर पर आत्माभिव्यक्ति का विचार आवश्यक हो जाता है। क्योंकि संप्रेषण की स्थितियों के संदर्भ में ही रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति रूपायित होती है। और इस संप्रेषण के दूसरे छोर पर गृहीता-सामाजिक या पाठक होता है। अतः रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति केवल उसकी अपनी ही न होकर गृहीता-सामाजिक के संदर्भ में भी घटित होकर रूपायित होती है। अर्थात् संवेदना से भाषा ही नहीं, बल्कि भाषा से संवेदना भी प्रभावित होती है। यह परस्पर प्रभाविता द्वयोन्मुखी है। क्योंकि दोनों का अर्थात्, रचनाकार और गृहीता-सामाजिक का वृत्त एक ही 'समाज' है। पर रचनाकार है कि उसके पास वह सामर्थ्य है, जिससे वह सामाजिक की अनुभूतियों को ग्रहण करके अपने माध्यम से लौटकर उन पर फिर संप्रेषित करता है। इस प्रकार रचना-प्रक्रिया को इस दृष्टि से सूत्रबद्ध करते हुए कहा जा सकता है कि रचना प्रक्रिया वस्तुतः स्रष्टा और गृहीता के बीच एक क्रियाशील वृत्ताकार प्रक्रिया है, बल्कि एक सतत आवर्तन और प्रत्यावर्तन की वृत्ताकार प्रक्रिया है। इसी वृत्ताकार प्रक्रिया में अर्थात् संप्रेषण के स्तर पर साहित्यशास्त्र की त्रिवृत्तीय परस्परता घटित होती है। अतः रचना-प्रक्रिया में संप्रेषण-पक्ष का विचार महत्वपूर्ण है। क्योंकि 'उन्मेष' के क्षण में रचनाकार जिस आलोक से आलोकित हुआ था, उस आलोक को संप्रेषण-प्रक्रिया में पुनःघटित करके गृहीता-सामाजिक के लिए रचना सृष्टि के रूप में चिरकाल के लिए सुरक्षित कर देता है।

साहित्य में संप्रेषण का माध्यम भाषा है, और भाषा समाज के साथ जुड़ी हुई है। अतः रचनाकार भाषा के माध्यम से संप्रेषण को संप्रेषण-प्रक्रिया में घटित करके समाज तक पहुँचाता है। लेकिन यह पहुँचना केवल पहुँचना-भर नहीं होता, बड़ी साधना माँगता है, जिसके लिए कालिदास ने कहा था—

वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।
अपनी एक कविता में 'अज्ञेय' कहते हैं कि—
यह नहीं कि मैंने सत्य नहीं पाया था
यह नहीं कि मुझको शब्द अचानक कभी मिलता है:
दोनों जब-तब सम्मुख आते ही रहते हैं।
प्रश्न यही रहता है:

दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाए रहते हैं
 मैं कब, कैसे उनके अनदेखे
 उसमें सैंध लगा दूँ
 या भरकर विस्फोटक
 उसे उड़ा दूँ।
 कवि जो होंगे हों, जो कुछ करते हैं करें प्रयोजन मेरा बस इतना है—
 ये दोनों जो
 सदा एक-दूसरे से तनकर रहते हैं,
 कब, कैसे, किस आलोक स्फुरण में
 इन्हें मिला दूँ—
 दोनों जो हैं बंधु, सखा चिर सहचर मेरे।
 (अरी ओ करुणा प्रभाभय, पृ० 19)

संप्रेषण के स्तर पर शब्द अर्थ दोनों के एक हो जाने की यह प्रक्रिया 'अज्ञेय' के अनुसार प्रतिभा द्वारा घटित होती है—'प्रतिभा विषय का संप्रेषण नहीं करती, उसका अर्थ संप्रेषित करती है, और वह अर्थ साधारण (यूनिवर्सल) होना चाहिए। प्रतिभा वस्तु को संप्रेषण नहीं बनाती, अनुभव को संप्रेषित करती है। और वह अनुभव अद्वितीय (यूनीक) होना चाहिए। अनुभव की अद्वितीयता और अर्थ की साधारणता प्रतिभा के दो इष्ट हैं या कहा जाय इन दो ध्येयों का योग ही उसका इष्ट है। जिस प्रक्रिया से यह योग सिद्ध होता है, वही रचना-प्रक्रिया है।'⁴

यहाँ अनुभव की अद्वितीयता का संबंध जहाँ रचनाकार और उसकी स्वायत्त कृत क्रिया-विशेष के साथ जुड़ा हुआ है, वहाँ अर्थ की साधारणता का संबंध विषय के साधारण अर्थ के साथ है। इसलिए गृहीता-सामाजिक के साथ भी जुड़ा है। साथ ही संप्रेषण-प्रक्रिया स्वयं संप्रेषणीयता की भी सृष्टि करती है और गृहीता सामाजिक के लिए ग्रहण या आस्वादन का सेतु बन जाती है। इस सेतु के कारण रचना बार-बार घटित होती रहती है—हर किसी के साथ।

इस सेतु का विवेचन अर्थात् आस्वादन की समस्या भारतीय साहित्यशास्त्र के केंद्र में है। इसी 'सेतु' को रचनाकार अपनी संप्रेषण-प्रक्रिया में सर्जित करता है। 'अज्ञेय' की संप्रेषण-प्रक्रिया के संदर्भ में भारतीय साहित्यशास्त्र को देखने पर लक्षित होता है कि रचना में संप्रेषण की स्थितियों के संदर्भ में प्रयुक्त अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा विभावादि रचनाकार की अनुभूति के साथ ही प्रयुक्त होते हैं। अगर नहीं तो उनके प्रयुक्त होने का न कारण है, और न प्रमाण भी। इसलिए रचनाकार की दृष्टि से वे वस्तुतः उसकी अनुभूति और उसके प्रेषण के माध्यम के योग और उस योग की विधियाँ हैं। इसलिए सर्जक-दृष्टि से भारतीय साहित्यशास्त्र संप्रेषण-प्रक्रिया का शास्त्र है, और क्योंकि वह सर्जित रूप के ग्रहण का शास्त्र तो है ही। इस ग्रहण का आधार संप्रेषण-प्रक्रिया में सर्जित योग-विधियाँ हैं। इनके माध्यम से रचनाकार अपने में विभोर होकर अपने से दूर होते हुए, दूसरे तक पहुँचता है। संप्रेषण की इस प्रक्रिया में प्रयुक्त योग विधियाँ ही साधारणीकरण और रस-निष्पत्ति का सेतु बनती हैं। इस प्रकार साधारणीकरण और रस-निष्पत्ति के मूल में रचनाकार की संप्रेषण-प्रक्रिया है। जो निहित थी, वह अब विहित हो जाती है, अर्थात् रचनाकार के संप्रेषण का लक्ष्य दूसरे तक पहुँचाना है, दूसरे तक पहुँचाने की यह प्रक्रिया

साधारणीकरण का अंग है। इसलिए दोनों के अर्थात् आस्वादक की दृष्टि और सर्जक की दृष्टि के इस परस्पर संबंध को इस रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है कि संप्रेषण विभावादि के विभावन की प्रक्रिया है और विभावन संप्रेषण का लक्ष्य है। दोनों दृष्टियों के इस परस्पर संबंध के परिप्रेक्ष्य में 'अज्ञेय' की रचना-प्रक्रिया विषयक उपर्युक्त स्थापना की ऐतिहासिक और समकालीन परिप्रेक्ष्य में परीक्षा की जा सकती है और उनकी स्थापना का महत्त्व और मौलिकता को इस रूप में जाना जा सकता है कि उन्होंने रचना में प्रयुक्त योग विधियों के भीतर अंतःप्रवाहित एकसूत्रता को पकड़कर उन्हें सर्जक एवं संप्रेषण की स्थितियों के अनुरूप उन्मुक्तता प्रदान करके भारतीय साहित्यशास्त्र को गतिशील रूप देकर आधुनिक साहित्यशास्त्र-चिंतन का अन्वेषण किया है। इतना ही नहीं इन दोनों दृष्टियों को इस प्रकार एक समान सर्जक की भूमि पर उपस्थित किया जा सकता है और समग्र भारतीय साहित्यशास्त्र और पश्चिमी साहित्यशास्त्र का अनुशीलन करके आधुनिक साहित्यशास्त्र की रूपरेखा निश्चित की जा सकती है।

बहरहाल, जहाँ तक 'अज्ञेय' की उपर्युक्त स्थापना का संबंध है, उसमें प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का अर्थ भारतीय साहित्यशास्त्र के आद्यप्रवर्तक भरतमुनि के रससूत्र- 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगात् रसनिष्पत्तिः' के संदर्भ में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि काव्य का विषय वस्तुतः उसका आश्रय होता है अर्थात् जिसके आधार पर रचना की जाती है और काव्यवस्तु काव्य-रचना का आलंबन विभाव होता है अर्थात् जिसके द्वारा रचनाकार अनुभूति को संप्रेषित करता है।

इस प्रकार भरतमुनि के रससूत्र के परिप्रेक्ष्य में 'अज्ञेय' की उक्त स्थापना को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रतिभा आश्रय का संप्रेषण नहीं करती, उसका स्थायीभाव संप्रेषित करती है और वह साधारण (यूनिवर्सल) होता है। प्रतिभा आलंबन-विभाव को संप्रेष्य नहीं बनाती, उसके क्रिया-व्यापारों को संप्रेषित करती है। वह क्रिया-व्यापार अद्वितीय (यूनीक) होना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि अज्ञेय की उक्त स्थापना वस्तुतः भरत मुनि द्वारा नाटक के संदर्भ में प्रतिपादित रससूत्र का काव्य रचना-प्रक्रिया के सूत्र के रूप में रूपांतरण है। इस रूपांतरण के दो स्तर हैं-पहला, नाटक या काव्य के संदर्भ में और दूसरा, आस्वादक या सर्जक के संदर्भ में अर्थात् यह विधा और दृष्टि-परिवर्तन का रूपांतरण है-विधात्मक और दृष्टिगत। लेकिन इस बात को इस रूप में रखना संगत होगा कि अज्ञेय ने भारतीय साहित्यशास्त्र की मान्यता को आधुनिकयुग के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करते हुए उसकी पुनर्स्थापना की है। और इस पुनर्स्थापना में उनकी दृष्टि एक सर्जक रचयिता की है, जिसके कारण उक्त स्थापना मौलिक रूप में सामने आती है।

वस्तुतः भारतीय साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का सर्वेक्षण किया जाय तो लक्षित होता है कि भरत के रससूत्र की युगानुरूप पुनर्स्थापना ही होती आई है। भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद (उत्पादक-उत्पाद्य), शंकुका का अनुमितिवाद (अनुमापक-अनुमाप्य), भट्टनायक का भोगवाद (भोजक-भोज्य) और अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद के (व्यंजक-व्यंग्य) रूप में। और हिंदी में प्रथम रीतिकाल में वह प्रासंगिक हुआ, जहाँ मानो रचना का उद्देश्य लक्षण-प्रतिपादन ही रहा। इस स्थिति को पहचान कर आचार्य केशवदास ने पहली बार हिंदी को एक शास्त्र दिया। वस्तुतः हिंदी कविता उस जगह पहुँच गयी थी, जहाँ उसे एक शास्त्र की आवश्यकता थी। आचार्य केशवदास ने उस आवश्यकता को 'कविप्रिया' द्वारा पूरा किया। फिर द्विवेदीयुग और छायावाद युग

के संधिस्थल पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पुनः एक नए शास्त्र की आवश्यकता अनुभव की। पर अब संस्कृत शास्त्र के साथ-साथ टी०एस० इलियट और आई०एस० रिचर्ड्स भी आधार बन गए। परिणामस्वरूप आचार्य शुक्ल ने रससूत्र को एक ओर भक्ति साहित्य के आधार पर 'भावयोग' के रूप में निरूपित किया तो दूसरी ओर उसे मनोविज्ञान की दीप्ति भी दी।

और फिर छायावादोत्तर युग में डार्विन, फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा के परिणामस्वरूप जीवन और जगत-संबंधी धारणाओं में मूलभूत परिवर्तन उपस्थित होता है। इस परिवर्तन के कारण अज्ञेय और नए रचनाकार एक बदली हुई संवेदना से जीवन और जगत् को देखने लगते हैं। इसी बदली हुई, नई तथा उलझी हुई संवेदना के संदर्भ में अज्ञेय पहली बार रचना-कर्म की मौलिक समस्या साधारणीकरण और संप्रेषण की समस्या को उपस्थित करते हैं कि 'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी पूर्णता में पहुँचाया जाय। यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।'⁵ इसी बिंदु पर आकर भरत मुनि का 'रससूत्र' पूरी तरह घूम जाता है और वह 'रचनाकर्म' का सूत्र बन जाता है।

यह वह ऐतिहासिक और समकालीन परिप्रेक्ष्य है, जिसके संदर्भ में 'अज्ञेय' के चिंतन में भरत मुनि के सूत्र का रूपांतरण होता है। इस रूपांतरण में प्राचीन सूत्र नए चिंतन को आधार प्रदान करता है, साथ ही वह नए संदर्भ में प्रासंगिक भी होता है। वस्तुतः यह पुराने की नये संदर्भ में प्रासंगिकता 'अज्ञेय' की शास्त्र के प्रति मिथकीय दृष्टि का फल है। समकालीन साहित्य-चिंतन में 'अज्ञेय' ही एक ऐसे चिंतक हैं, जिन्होंने साहित्य के अलावा शास्त्र के प्रति भी अपना मिथकीय रिश्ता स्थापित किया है, और उसके फलस्वरूप वे प्राचीन शास्त्रज्ञान को नए संदर्भ में सार्थक रूप में उपस्थित कर सके हैं। साहित्य के क्षेत्र में मौलिकता का भी यही अर्थ है; अतः अज्ञेय के चिंतन को निःसंदेह मौलिक कहा जा सकता है।

समकालीन परिप्रेक्ष्य का और एक पक्ष है, जिसके संदर्भ में अज्ञेय की उक्त स्थापना की निष्पत्ति होती है। और क्योंकि अज्ञेय छायावाद तक के काव्य को श्रुति-परंपरा का काव्य मानकर अपने नए काव्य का प्रस्थान पाठ्य काव्य के रूप में करते हैं। यद्यपि छायावाद ने काव्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को संभव बना दिया था, किंतु पाठ्यकाव्य के लिए अज्ञेय ने अभिव्यक्ति के साथ-साथ संप्रेषण की आवश्यकता पर भी बल दिया। परिणामतः नए पाठ्य काव्य में कवि व्यक्तित्व और काव्य-संरचना का महत्व आवश्यक हो गया। 'रचना केवल अभिव्यक्ति नहीं, वह संप्रेषण भी है।'⁶ अतः रचना-प्रक्रिया में कवि व्यक्तित्व की विशिष्टता, अनुभूति के साथ-साथ उसकी संरचना भी आवश्यक हो गई, जिससे कवि अपनी अनुभूति को स्वायत्त करके संप्रेषित करता है। अज्ञेय की उपर्युक्त स्थापना में 'अनुभूति की अद्वितीयता' का यह भी एक समकालीन संदर्भ है। समकालीन प्रवृत्ति की यह पहचान 'अज्ञेय' के शास्त्र-चिंतन में प्रवृत्तिमूलक आयाम जोड़ती है। परिणामतः उनका चिंतन न केवल सजीव और गतिशील ही है, अपितु उत्तेजक और चुनौतीपूर्ण भी है। अन्यथा शास्त्र प्रायः जड़, नीरस और शुष्क होता है। इस बात को इस रूप में कहना संगत होगा कि अज्ञेय ने प्राचीन शास्त्र-चिंतन को एक सर्जक-साहित्यकार की संवेदना से रससिक्त कर उसे सजीव और गतिशील रूप में उपस्थित किया है।

समकालीन साहित्य-चिंतन के संदर्भ में अज्ञेय की उपर्युक्त स्थापना की परीक्षा के लिए समकालीन चिंतन परिप्रेक्ष्य का सर्वेक्षण करना संगत होगा। क्योंकि समकालीन साहित्य-चिंतन में

अज्ञेय के चिंतन ने न केवल उत्तेजना ही पैदा की अपितु साहित्यिक विवादों और साहित्य की दलगत राजनीति को भी जन्म दिया। अनुभूति की अद्वितीयता उसका एक पक्ष है।

जैसा कि अब तक स्पष्ट किया गया है कि 'अनुभूति की अद्वितीयता' शास्त्रसम्मत और हिंदीकाव्य का विकास जहाँ तक पहुँच गया था—छायावाद तक—उसकी परिणति है। किंतु इस तथ्य की समकालीन आलोचना ने उपेक्षा की और अज्ञेय को तरह-तरह से आरोपित किया गया। इन आरोपों में और इस प्रकार की आलोचना में, जहाँ तक उनके चिंतन का संबंध है, उनके शास्त्र-चिंतन को 'परंपरा और समकालीनता' के परिप्रेक्ष्य में एक साथ देखा नहीं गया। परिणामतः उनके चिंतन का समग्र मूल्यांकन भी नहीं हुआ और उनके चिंतन के माध्यम से समकालीन साहित्य-चिंतन की स्थिति और गति को भी पहचाना नहीं गया। शायद यही कारण है कि हिंदी में अभी तक 'आधुनिक साहित्यशास्त्र' को समग्रतः उपस्थित नहीं किया गया।

बहरहाल, जहाँ तक समकालीन साहित्य-चिंतन के संदर्भ में अज्ञेय की उपर्युक्त स्थापना के परीक्षण का संबंध है, मुक्तिबोध के चिंतन पर विचार करना संगत होगा। समकालीन चिंतन में दो परस्पर विरोधी साहित्य-दृष्टियाँ लक्षित होती हैं। एक, अज्ञेय की दृष्टि और दूसरी, मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि। मार्क्सवादी दृष्टि के प्रतिनिधि कवि और चिंतक मुक्तिबोध हैं। अतः मुक्तिबोध को अज्ञेय के विरोध में रखा गया है। यह सही है कि दोनों के काव्य में विलक्षण अंतर है, किंतु जहाँ तक रचना-प्रक्रिया विषयक चिंतन का संबंध है, दोनों में विलक्षण समानता है।

क्योंकि मुक्तिबोध ने भी अज्ञेय की तरह भावानुभव का संग्रह, उसका भोग और उससे उन्मोचन की सतत प्रक्रिया को अपने 'बाह्य का आभ्यंतरीकरण' और 'आभ्यंतर का बाह्यीकरण' में स्वीकार किया है।⁷ उसी प्रकार उन्होंने अपने रचना-प्रक्रियाविषयक चिंतन को 'कला के तीन क्षण' के रूप में प्रस्तुत किया है। 'कला का पहला क्षण जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण है', जिसमें भावानुभव का संग्रह का होता है। दूसरा क्षण है 'इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक फैंटेसी का रूप धारण कर लेना', जिसका संबंध भावानुभव का भोग और उससे उन्मोचन से है। तीसरा और अंतिम क्षण है 'इस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता'। इसका संबंध 'संप्रेषण' के साथ है। इससे स्पष्ट है कि अज्ञेय और मुक्तिबोध के चिंतन में रचना की प्रक्रिया विषयक विश्लेषण में विलक्षण समानता है। दोनों की प्रक्रिया-विषयक विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि जहाँ तक रचनाकार का अपनी अनुभूति की पहचान का संबंध है, दोनों अंग्रेजी कवि-समीक्षक टी०एस० इलियट के ऋणी दिखाई देते हैं, और जहाँ अनुभूति के संप्रेषण का संबंध है, दोनों भारतीय साधारणीकरण और भरत मुनि के पथ का अनुगमन करते हुए दिखाई देते हैं। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया है कि जहाँ अज्ञेय संप्रेषण के लिए विषय और वस्तु के रूप में भाव और विभाव का आधार ग्रहण करते हैं, वहाँ मुक्तिबोध फैंटेसी के रूप में समग्र विभावानुभावव्यभिचारी का काव्य-रचना के संदर्भ में अनुगमन करते हैं।⁸

इसी संदर्भ में अज्ञेय और मुक्तिबोध के काव्य के अंतर को देखा जा सकता है। क्योंकि अज्ञेय अपने को भाव-विभाव तक ही रखते हैं। अतः वे काव्य में भाव-संहति और भाव-समुच्चय को प्रधान मानते हैं। परिणामतः उनकी कविताएँ छोटी होती हैं। वे अपनी काव्य-प्रक्रिया में भाव को हलके से वर्तमान से संदर्भित करते हैं, और उसे अतीत और भविष्य के साथ जोड़ते हैं। भाव

को एक कालातीत आयाम में स्थापित करते हैं। अतः उनके काव्य में जहाँ व्यंजना की क्षमता अधिक है, वहाँ वह दुरूह भी जान पड़ सकता है। क्योंकि उनके यहाँ भाव का यह कालातीत स्थापित्व प्रायः विचार या सूक्ति के रूप में उभरता हुआ दिखाई देता है, अतः उनके यहाँ वर्तमान का शोर कम, सनातन की नीरवता अधिक है। इसके विपरीत मुक्तिबोध समग्र विभावादि की योजना करते हैं। अतः वे भाव को न केवल अपने देश-काल-परिवेश से जोड़ते हैं, अपितु उसका मूर्त और क्रियात्मक रूप भी प्रत्यक्ष करते हैं। अतः उनकी कविताएँ लंबी होती हैं और उसमें वर्तमान सशरीर और क्रियात्मक रूप में उपस्थित होता है। इसलिए उनके यहाँ वर्तमान की चहल-पहल अधिक है, पर इसलिए वे अपने समय के ही कवि रह जाते हैं।

काव्य में विभावादि का अनुपात अज्ञेय और मुक्तिबोध के काव्यरूप और काव्य-प्रक्रिया में जहाँ अंतर उपस्थित करता है, वहाँ इसी संदर्भ में साहित्य की विविध विधाओं में समकालीनता और सार्वकालिकता की स्थिति का प्रश्न भी उपस्थित करता है। इस प्रश्न की तात्त्विक चर्चा करने की अपेक्षा अगर हम दिन और रात को मिलाकर सार्वकालिकता मानें और दिन को समकालीनता मानें तो इस संदर्भ में सांकेतिक रूप में कहा जा सकता है कि कविता सूर्योदय के पहले की वह लालिमा है, जो क्षणभर के लिए पूरे आकाश को बदल देती है, कहानी तो सूर्योदय होते-होते भी घटित को सकती है और एकांकी खुएक अंक तो सूर्यास्त होते-होते भी संभव हो सकता है, पर नाटक तो मध्याह्न ही देहरी पर ही होता है। और उपन्यास तो पूरे दिन का उजाला है तथा निबंध सूर्यास्त के बाद का वह संधि:प्रकाश है, जिसमें हम सामने वाले व्यक्ति को पहचान सकते हैं।

बहरहाल, जहाँ तक मुक्तिबोध के फैंटेसी के रूप में विभावादि के अनुगमन का संबंध है, उनके एतद् विषयक चिंतन के संदर्भ में, विशेषतः फैंटेसी, जिसका संबंध रूप-सृष्टि से है, के संदर्भ में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मुक्तिबोध जो कि एक घोषित मार्क्सवादी, प्रगतिवादी, यथार्थवादी रचनाकार हैं, क्यों फैंटेसी जैसे स्वप्निल, काल्पनिक और अयथार्थवादी रूप की परिकल्पना करते हैं।

यहाँ आकर मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि की सीमाओं का उद्घाटन हो जाता है, क्योंकि वे यह मानते हैं कि साहित्य-कला विचारधारा या भावधारा (आईडियोलॉजी) का वह रूप है, जिसका विषय बिंब रूप में चेतना में रहता है। वह भाव या विचार का प्रयुक्त स्वरूप होता है। अगर ऐसा और इतना ही है तो मुक्तिबोध फैंटेसी को क्यों स्वीकार करते हैं? स्पष्ट है कि केवल इतना ही नहीं है, क्योंकि भाव का विषय शास्त्र में आलंबन है। आलंबन है अतः रचनाकार की संवेदना-चेतना का अंग है। और उसके क्रिया-व्यापार रचनाकार की संवेदना-चेतना का विस्तार करते हैं। इस विस्तारित संवेदना-चेतना का अर्थात् आलंबन के क्रिया-व्यापारों के संप्रेषण के लिए मार्क्सवादी दृष्टि का चेतना में स्थित विषय, जो विचार या भाव का रूप है, रचनाकार को सर्जना-कर्म के दौरान अधूरा प्रतीत होने लगता है। इस अधूरेपन और मर्यादा को झकझोर कर तोड़ने के लिए मुक्तिबोध फैंटेसी की शरण लेते हैं। कल्पना के रोल को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'कलाकार का वास्तविक अनुभव और अनुभव की संवेदनाओं द्वारा प्रेरित फैंटेसी-इन दोनों के बीच कल्पना का एक रोल होता है, वह रोल, वह भूमिका, एक सृजनशील भूमिका है।' साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि 'कला एक आत्मिक प्रयास है। और उसके तीन क्षणों की विकास गति के अपने-अपने अलग नियम हैं।'¹⁰ वस्तुतः कला की विशिष्टता और अद्वितीयता उसकी

प्रक्रिया गत-निष्पत्ति में होती है—विशिष्ट, स्वायत्त और अद्वितीय।

यहाँ मार्क्सवाद के संबंध में 'अज्ञेय' की टिप्पणी द्रष्टव्य है—'मार्क्सवाद इतिहास को समझने की एक पद्धति है, वह एक उपयोगी अर्थदर्शन है, पर राजनीति में वह आततायी हुआ है और साहित्य में अधूरा और पंगु बनानेवाला है।'¹¹

इस प्रकार मुक्तिबोध संप्रेषण के स्तर पर मार्क्सवादी दृष्टि का अधूरापन पहचानते हैं और मनस्तत्व की ओर मुड़ते हैं।

इस प्रकार समकालीन चिंतन की अज्ञेय-विरोधी मार्क्सवादी दृष्टि अंततः उसके एक प्रतिनिधि कवि-चिंतक के चिंतन में अज्ञेय की दृष्टि में समाहित हो जाती है। और इसी बिंदु पर अज्ञेय और मुक्तिबोध के चिंतन में विलक्षण समानता परिलक्षित होती है। अतः समकालीन परिप्रेक्ष्य में अज्ञेय का चिंतन पुष्ट ही होता है।

अब तक के इस विवेचन से अज्ञेय की उपर्युक्त स्थापना या कहें संप्रेषण-सिद्धांत की ऐतिहासिक और समकालीन परिप्रेक्ष्य में मौलिकता और महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। अब इस सिद्धांत को एक कविता के आधार पर पुष्ट किया जाय तो सिद्धांत की सार्थकता भी प्रमाणित होगी। अज्ञेय की एक छोटी कविता है—जीवनमर्म।

जीवन-मर्म / झरना

झरता पत्ता / हरी डाल से

अटक गया।

प्रस्तुत कविता का विषय या आश्रय : 'झरता पत्ता' है। झरना उसकी नियति है, जो उसका साधारण (यूनिवर्सल) भाव है। और आलंबन है 'झरते पत्ते का हरी डाल से अटक जाना' यह उस पत्ते की विशेष स्थिति है, जो कवि का अनुभव है।

इस प्रकार पहले पत्ते का साधारण भाव झरना और फिर उसकी विशेष स्थिति-अटकना-के संयोग से अर्थात् दो परस्पर विरोधी क्रिया के संयोग से कविता की बुनावट हुई है। कविता का शीर्षक 'जीवन-मर्म' है, जो अर्थ-प्रक्रिया की दिशा का संकेत करता है कि झरना गतिशील काल-प्रवाह है, झरता पत्ता नश्वर मनुष्य है, हरी डाल सेवा-कर्म है, अटक जाना-अमरता है। इस प्रकार 'जीवन-मर्म' प्रकट होता है कि गतिशील कालप्रवाह में नश्वर मनुष्य अपने कर्म के आधार पर अमर हो जाता है।

यहाँ कविता के आधार पर अज्ञेय की स्थापना की सार्थकता प्रमाणित होती है।

उपर्युक्त समग्र विवेचन के केंद्र में अज्ञेय की रचना की प्रक्रिया और एतद्विषयक उनकी स्थापना है। उसके संदर्भ में अज्ञेय के आधुनिक साहित्यशास्त्र के अन्वेषण की दिशाओं का निर्देश स्वयं हो जाता है कि उसमें स्रष्टा, सृष्टि और सहृदय की मूलतः और केंद्रीय भूमिका है। केंद्रीय इसलिए कि इन तीनों के अन्य आयाम भी हैं, जो उन्हें सामाजिक, सांस्कृतिक, देशीय और कालिक आयाम प्रदान करते हैं, जिसके आधार पर अज्ञेय के साहित्यशास्त्र को प्रवृत्तिमूलक रूप प्राप्त होता है। इस प्रकार अज्ञेय के साहित्यशास्त्र के अन्वेषण के दो आयाम हैं—(1) शास्त्रीय, जो केन्द्र में है, जहाँ सर्जना होती है और (2) प्रवृत्तिमूलक, जो केंद्र की परिधि है। वह सर्जना को संदर्भ देती है।

संदर्भ

1. त्रिशंकु, पृ. 41
2. आत्मनेपद, पृ. 167
3. सर्जना के क्षण, पृ. 7
4. आधुनिक हिंदी साहित्य पृ. 151
5. तारसप्तक, पृ. 277
6. सर्जना के क्षण, पृ. 7
7. मुक्तिबोध रचनावली, पृ. 123
8. एक साहित्यिक की डायरी मुक्तिबोध, पृ. 22-23, 25
9. वही, पृ. 20
10. वही, पृ. 20
11. आत्मनेपद, पृ. 199-201

उपप्राचार्य एवं अध्यक्ष,
स्नातक एवं स्नातकोत्तर हिंदी विभाग,
संगमनेर नगरपालिका कला, दा.ज.
मालपाणी वाणिज्य तथा ब.ना. सारडा विज्ञान महाविद्यालय,
संगमनेर जिला अहमदनगर द्धमहाराष्ट्र
ई-मेल : npjasud09@gmail.com
मो० 09689423751

सियारामशरण गुप्त के उपन्यासों में नारी-चेतना

डॉ० सीमा गुप्ता

उपन्यास एक विस्तृत गद्य-कथा है। इस कथा में जीवन अधिक प्रखर और विलक्षण रूप में सामने आता है। उपन्यास में वर्णित घटनाएँ आम जीवन की ही होती हैं, लेकिन वे चित्रण-प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से अधिक प्रभावी और व्यापक होती हैं। साधारण जीवन की घटनाओं में जो बिखराव और तारतम्यहीनता दिखाई पड़ती है, वह उपन्यास में नहीं होती। उपन्यास में सभी घटनाओं को एक सिलसिले के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

उपन्यास की परिभाषा देते हुए बाबू गुलाबराय ने लिखा है—‘उपन्यास कार्य-कारण श्रृंखला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक व काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।’¹

डॉ० रामअवध द्विवेदी के अनुसार, ‘इसमें उपन्यासकार जीवन के अनुभवों को संवेदनशील कल्पना के द्वारा गद्य-कथा के रूप में प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार वस्तु-जगत के अनुभवों एवं संवेदनशील मन पर पड़े हुए संस्कारों को उपन्यास में सरस, रोचक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।’²

यशपाल ने उपन्यास के विषय में अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए कहा है—‘उपन्यास से मेरा अभिप्राय समाज की विचारधारा और विचारधारा में तारतम्य को प्रकट करना है। उपन्यास में जिन घटनाओं की हम कल्पना करते हैं, वे स्थान और पात्रों के परिवर्तन से प्रायः घटती ही रहती हैं। हम विचारों को समाज में शाश्वत बंधन न मान बैठें, बल्कि सामाजिक जीवन में इस सत्य का अनुभव करें कि हमारा जीवन ही हमारे विचारों को जन्म देता है। हमारी विचारधारा हमारे जीवन की परिस्थितियों का परिणाम है।’³

अतः कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव-जीवन का कल्पनापरक यथार्थ चित्रण है। इसमें मानवीय अनुभूतियों का विशदता से वर्णन होता है। इसलिए यदि उपन्यास को मानव-जीवन का महाकाव्य कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। उपन्यासकार अपने समय की लगभग सभी समस्याओं को अपनी लेखनी के माध्यम से पाठक के समक्ष रखता है।

नारी मानव-सृष्टि का अपरिहार्य अंग है। नारी जीवन के बहुआयामी अनुभव को पाठकों के समक्ष रखने वालों में सियाराम शरण गुप्त का महत्वपूर्ण स्थान है।

सियारामशरण गुप्त जी एक श्रेष्ठ कवि होने के साथ-साथ एक सफल उपन्यासकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। पर उपन्यासों के प्रति गुप्तजी का मोह अपेक्षाकृत कम था। फिर भी उन्होंने गोद, अंतिम आकांक्षा तथा नारी नामक तीन उच्चस्तरीय औपन्यासिक कृतियाँ हिंदी

साहित्य को प्रदान की हैं। इनके उपन्यासों में प्रायः ग्राम-जीवन ही वर्णित हुआ है। अछूतों के प्रति सहानुभूति, अहिंसा के प्रति आस्था, स्वदेश प्रेम की भावना, ग्रामीणों के प्रति आत्मीयता आदि का समावेश इन उपन्यासों में देखा जा सकता है। गुप्त जी का दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य जन्म से ही महान नहीं होता, बल्कि अपने प्रयत्नों से भी महानता की ओर अग्रसर हो सकता है।

ललित शुक्ल के शब्दों में—‘उनके उपन्यासों में करुणा जिस रूप में आद्यंत छड़ी हुई है, वह संवेदनशील मानवीय अनुभूति की द्रवणशील मनःस्थिति का उदात्त रूप है। पत्थरों को द्रवित करने वाली करुणा यदि देखनी हो तो इनके उपन्यासों में देखना चाहिए। सत्य, अहिंसा, प्रेम, ममता और समता के गांधीवादी दर्शन को यदि देखना हो तो वह इनके तीनों उपन्यासों में भलीभाँति प्रस्फुटित रूप में लक्षित किया जा सकता है।¹⁴

सियारामशरण गुप्त का पहला उपन्यास ‘गोद’ है। किशोरी ‘गोद’ उपन्यास की नायिका है। इस उपन्यास में नारी-जीवन के संघर्ष और उसकी जीत का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है। किशोरी का विवाह शोभाराम से तय है। प्रयाग संगम मेले के अवसर पर वह अपनी माँ के साथ जाती है और वहाँ अपनी माँ से बिछुड़ जाती है। रातभर की छानबीन के उपरांत सेवा-समिति के लोग उसे ढूँढ लेते हैं, पर इस घटना के कारण अबोध किशोरी समाज के संदेह का शिकार बनती है। केवल एक मात्र इस घटना के आधार पर समाज की आँखें उसे पापमय देखने लगती हैं। परंतु शोभाराम समाज से चोरी-छुपे उससे विवाह कर उसे अपनाता है। उपन्यास के अंत में किशोरी की निर्दोषिता सिद्ध हो जाती है।

किशोरी अत्यंत स्वाभिमानी लड़की है। शोभाराम से अपनी सगाई टूटने की बात सुनकर वह सोचती है, ‘जिन लोगों ने निर्दयतापूर्वक माँ के कोमल हृदय पर इतना बड़ा आघात कुछ बात के लिए कर डाला है, उन तक किसी तरह यह बात पहुँचा देने के लिए वह निरंतर छटपटा रही थी कि तुम्हारी यह क्रूरता हमें अणुमात्र भी विचलित नहीं कर सकती। इतना ही नहीं माँ की दया, भिक्षा की बात से किशोरी का जी फिर जल उठा और माँ से कहने लगी—‘मैं किसी के सामने तुम्हें हाथ न पसारने दूँगी।¹⁵

स्वाभिमानी होने के साथ-साथ किशोरी लज्जाशील भी है। माँ को रोते देख किशोरी भी रो पड़ती है—‘नहीं माँ, तुम्हारी बात का मुझे बुरा नहीं लगा। माँ के जी का दुःख दूर करने के लिए ऐसी अभागी लड़की कौन होगी जो सब कुछ करने के लिए तैयार न हो जाए? परंतु जिनका हृदय पत्थर है, उनके सामने हाथ पसारकर तुम भीख माँगने जाओ, मैं यह नहीं देख सकती।¹⁶

किशोरी में कृतज्ञता का भाव कूट-कूटकर भरा हुआ है। अपने मामा हरिराम के प्रति भी वह कृतज्ञ है। हरिराम के आते ही किशोरी चुपचाप भीतर चली गई थी। गाँव के विरोधी दल का सामना हरिराम जिस तरह कर रहा था, उससे छिपा न था। इसलिए जब उसने गाँव वालों के सामने अपना सिर नीचा होने की बात माँ से कही, तब उसकी आत्मीयता के आगे श्रद्धा से उसका मस्तक झुक गया।

किशोरी बुद्धिमान होने के साथ-साथ व्यवहारकुशल भी है। सोना के यह कहने पर कि जिससे तुम्हारा विवाह होगा, सुनते हैं उसके चरित्र में दोष है। किशोरी असहिष्णु होकर बोल उठी—‘सुनने की बात कुछ न कहो जीजी। सुने हुए का विश्वास करती तो तुम आज मेरी छाया भी न छू सकतीं और जिनमें तुम गुण देखती हो, उनके भीतर भी तो न जाने कैसी चालें छिपी

रहती हैं। मैं तो इतना जानती हूँ, माँ जिनके हाथ में सौंप देगी उनके गुण-दोष का विचार करने वाली मैं नहीं हूँ।’

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि परिस्थितियों से जुड़ती, समाज से प्रताड़ित किशोरी कहीं भी निराशावादी नहीं लगती। समस्याओं से जूझती वह कभी भी सत्य मार्ग से नहीं हटती, इसीलिए अन्त में जीत का हार उसी के गले पड़ता है।

‘गोद’ उपन्यास में एक प्रमुख नारीपात्र है पार्वती, वह एक सीधी-सादी और सरल स्त्री है। वह शोभाराम की भाभी है। मातृत्व का भाव उसमें परिपूर्ण है। शोभाराम के यह कहने पर कि तुम ही मेरी माँ हो—‘पार्वती की आँखों में आनंद के आँसू छलक पड़े। शोभाराम की पलकें भी भीग गईं। भौजी न तो पीछे हटी, न ही उन्होंने उसे गोद से हटाया। एक लक्ष्य के भीतर ही आह्लाद की उज्ज्वल रेखा के रूप में मानो मातृ-दुग्ध ही उसके शरीर में व्याप्त हो उठा।⁸

पार्वती एक पतिव्रता स्त्री है, वह अपने पति के बारे में किसी से कुछ नहीं सुन सकती तभी तो सोना के दयाराम को कसाई कहने पर पार्वती क्रोध में भरकर बोली—तो भाई, अब तुम जाओ। तुम्हारे लिए उनका काम कसाईपन का हो या और चाहे जो कुछ, मेरे लिए तो जो वे करते हैं, वही ठीक है। बस अब इस संबंध में मैं और कुछ नहीं कहना चाहती।⁹

पार्वती अत्यंत भावुक, स्नेहशील और अपने परिवार से अटूट लगाव रखने वाली नारी है।

गुप्तजी का दूसरा उपन्यास ‘अंतिम आकांक्षा’ है। इसमें कोई प्रमुख नारी पात्र नहीं है। केवल कथा नायक रामलाल की माँ का चित्रण मिलता है जो बीमार है और अंततः मृत्यु को प्राप्त होती है।

सियारामशरण गुप्त का तीसरा प्रसिद्ध उपन्यास है ‘नारी’। नारी की नायिका जमना है। नारी का अदम्य स्नेह, आत्मत्याग, करुणा, सहनशीलता, प्रेम और वात्सल्य सभी कुछ इस उपन्यास में व्यंजित हुए हैं।

जमना का पति वृंदावन जमना और अपने नवजात शिशु को छोड़कर कलकत्ता चला गया। जमना पति-वियोग से दुखित होती हुई भी वात्सल्य से सुखी रही। धीरे-धीरे हल्ली (जमना का पुत्र) बड़ा होने लगा पर वृंदावन लौटकर नहीं आया। जमना के जीवन की समस्त आकांक्षाएँ हल्ली में केंद्रित हो चुकी थीं, फिर भी उसे अपने पति के वापस आने का विश्वास था।

वृंदावन लौटता है, परंतु जमना के बारे में फैली अफवाहों के परिणामस्वरूप वह अपनी संपत्ति किसी और के नाम लिखकर वापस चला जाता है। हल्ली का हाथ थामकर जमना दुःख और विपत्ति के इस अधिकार-पथ को इसी तरह पददलित कर आगे बढ़ती जाती है। उसे कोई भय नहीं है, कोई चिंता नहीं है, सत्यता की विजय के कारण समाज और पाठक की सहानुभूति जमना के प्रति और भी बढ़ जाती है।

जमना संघर्षशील नारी है। वह आजीवन संघर्ष ही करती रही। अजीत के यह कहने पर कि वृंदावन अब नहीं रहा, जमना उठकर खड़ी हो गई। भौह तानकर उसने कहा—‘फिर वैसी ही बात! तुम चाहते हो सब कोई मर जाए, तब मैं तुम्हारी बाँदी हो जाऊँगी। मैं इतनी नादान नहीं हूँ, जो कुछ न समझूँ, परंतु तुम भी समझ लो इस तरह बुरा ताकने से किसी का सत्यानाश नहीं होता।¹⁰

जमना सहज सरल विश्वासमयी नारी है। उसकी दृष्टि में किसी पर अविश्वास करना सबसे बड़ा पाप है। उसकी प्रवृत्ति से लाभ उठाकर मोतीलाल चौधरी उसका खेत, कुआँ तथा पति सभी कुछ उससे छीन लेता है। वृंदावन किसी बात को पूर्णतः जाने बगैर उस पर अविश्वास करता है, उसके साथ इतना बड़ा अन्याय करता है, परंतु वह उस पर भी किसी प्रकार का रोष या अविश्वास प्रकट नहीं करती। वह बुराई से घृणा करती है, बुरे व्यक्ति से नहीं, पाप से घृणा करती है, पापी से नहीं। अपनी समस्त कठिनाइयों का मूलाधार उसे अपना दुर्भाग्य ही प्रतीत होता है, जो उसके साथ-साथ उसके पति और पुत्र को भी पीड़ित करता है। यहाँ तक कि अजीत मातो पर भी कलंक लगवा देता है।¹¹

इतना सब कुछ हो जाने पर भी जमना निराश नहीं है, वह पूर्णतः आशावादी है। 'जाने कितना समय हो गया है, जब से कुछ सुनने के लिए वह अपने दोनों कान खोले बैठी है, जब से वह अपनी दोनों आँखें पथ पर बिछाए बैठी है। दिन आए और चले गए, रातें आईं और गत हो गईं। सप्ताह, पखवारे, महीने और संवत् एक-एक करके न जाने कितने फेरे कर चुके। सब कुछ हुआ, सोते और जगते में, उसने अपनी आशा का परित्याग नहीं किया है। एक आशा उसके भीतर जागती ही रही है कि एक दिन उसका पति अवश्य वापस आएगा।'¹²

जमना के चरित्र में अपरिमित दृढ़ता है। जीवन के संघर्षों ने, भाग्य की विडम्बनाओं ने उसके स्वभाव की परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी है। 'वह कट-कुट सकती है, टूट-फूट सकती है, चूर-चूर हो सकती है, सब कुछ सह सकती है, परंतु ऐसा नहीं हो सकती कि आँच देकर, गलाकर अपने मन के माफिक ढालकर चाहे जैसी बना ली जाए।'¹³

जमना के रूप में सियारामशरण गुप्त ने भारतीय नारी की सहनशीलता, कर्तव्यपरायणता, पतिव्रता, सहज, सरल, विश्वासमयी, विश्वसनीय नारी को साकार कर दिया है, जो आत्मत्याग में ही जीवन की सार्थकता मानती है, पीड़ा में ही आनंद की कल्पना करती है। जमना के माध्यम से गुप्तजी ने नारी-जीवन की विडंबना व आदर्श को साकार कर दिया है।

गुप्तजी के तीनों उपन्यास मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण हैं। प्रो० देवराज उपाध्याय ने लिखा है—'यदि आप राम का नाम लेकर 'एक भरोसो एक बल' के सहारे गणेशजी के मूषक की तरह सब देवताओं से भी लोक की घुड़दौड़ में बाजी मार लेना चाहते हैं तो मैं आपको गुप्तजी के उपन्यासों को पढ़ने के लिए आमंत्रित करता हूँ। गुप्तजी ने अपने उपन्यासों को किसी भी राजनीति से रँगने के बजाय मानवतावादी उदार चेतना को प्रमुखता दी है।'¹⁴

सियारामशरण गुप्तजी ने अपने उपन्यासों में नारी-चेतना को प्रमुखता दी है। किशोरी और जमना जैसी पात्रों के माध्यम से गुप्तजी ने समाज में नारी की स्थिति और उसके संघर्ष को दर्शाया है। ये दोनों नारी-पात्र अपने अधिकारों के लिए समाज से लड़ती दिखाई देते हैं और संघर्षशील नारियों के लिए प्रेरणास्रोत बनते हैं।

संदर्भ

1. काव्य के रूप, बाबू गुलाबराय, पृ० 155
2. साहित्य के रूप, डॉ० रामअवध द्विवेदी, पृ० 70
3. प्रतीक, जनवरी 1951, पृ० 21
4. सियाराम शरण गुप्त : रचना एवं चिंतन, ललित शुक्ल, पृ० 125-126

5. गोद, सियारामशरण गुप्त, पृ० 21-22
6. गोद, सियारामशरण गुप्त, पृ० 23
7. गोद, सियारामशरण गुप्त, पृ० 34
8. गोद, सियारामशरण गुप्त, पृ० 14
9. गोद, सियारामशरण गुप्त, पृ० 29
10. गोद, सियारामशरण गुप्त, पृ० 162
11. दिशाओं का परिवेश, सं० डॉ० ललित शुक्ल, पृ० 245-246
12. नारी, सियारामशरण गुप्त, पृ० 211
13. दिशाओं का परिवेश, सं० डॉ० ललित शुक्ल, पृ० 244-245
14. सियारामशरण गुप्त, सं० नगेंद्र, पृ० 123

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
बी०एस०एम० (पी०जी०) कालेज
रुड़की 247667
मोबाइल 09810747689

बुंदेलखंड में दलित साहित्य के प्रणेता

डॉ० एम०एस० विमल

सहायक प्राध्यापक-अंग्रेजी

शासकीय महाराजा पी०जी० महा० छतरपुर (म०प्र०)

एवं

डॉ० के०एल० पटेल

सहायक प्राध्यापक-हिंदी

शासकीय महाराजा पी०जी० महा० छतरपुर (म०प्र०)

दलित साहित्य आज भारत-भर में अपनी पहचान बनाता जा रहा है। शिक्षा से लंबे समय तक वंचित रहा यह समाज अब अपने लोगों को जागरूक करने में लग गया है। गीत-कविताओं के अलावा, गद्य लेखन, उपन्यास, कहानियाँ एवं आत्मकथाओं के माध्यम से दलित लेखक व कवि न सिर्फ अपने आपको ऊँचा उठा रहे हैं, बल्कि सदियों से प्रताड़ित और उपेक्षित वर्ग के जख्मों पर भी मरहम लगा रहे हैं। दलित साहित्य की एक बड़ी अनोखी बात है कि इसमें किसी भी प्रकार की बदले की भावना परिलक्षित नहीं होती। यद्यपि कुछ खास वर्ग के लोगों का जिक्र किया गया है कि उनके कारण यह वर्ग वेबजह मार खाता रहा, परंतु किसी भी दलित लेखक या कवि ने अपनी भड़ास इस हद तक नहीं निकाली कि उनके लोग कोई अप्रत्याशित कदम ईजाद कर लें। गौतम बुद्ध, कबीर, रविदास, ज्योतिबाराव फुले व बाबासाहेब अंबेडकर को अपना आदर्श मानने वाले दलित कवियों व लेखकों ने तर्क व विवेक का इस्तेमाल कर झूठमूठ के धर्मग्रंथों की बखिया तो उधेड़ी है, लेकिन राष्ट्र के गौरव पर कभी आँच नहीं आने दी। प्रमुख रूप से दलित लेखन उत्तर प्रदेश से प्रारंभ हुआ, परंतु प्रायः ऐसा माना जाता है कि दलित साहित्य की शुरुआत महाराष्ट्र से हुई। जो भी हुआ हो, इस बिंदु पर चर्चा करना व्यर्थ है। स्वामी अछूतानंद ने बाबासाहेब से पूर्व 'मनुस्मृति' के खिलाफ बिगुल बजाया था। उनकी एक कविता की पंक्ति है—'मनुस्मृति हमको जला रही है, ऊपर न उठने देती, यह नीचे गिरा रही है।' इससे प्रतीत होता है कि दलित लेखक के रूप में स्वामी अछूतानंद अग्रणी पंक्ति में हैं। फिर भी ऐसा दावा नहीं किया जा सकता कि उनसे पहले दलितों के हित में कोई लेखन नहीं हुआ।

बुंदेलखंड क्षेत्र भी आज दलित लेखन में कमजोर नहीं है। यहाँ भी अनेक दलित कवि व लेखक हैं। अपने महापुरुषों के विचारों से ओतप्रोत ये दलित लेखक व कवि भले ही राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त न कर पाए हों, परंतु उनकी रचनाएँ राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जब भी पढ़ी जाएँगी, अवश्य प्रशंसनीय और प्रेरक होंगी। बुंदेलखंड के अधिकांश दलित कवियों ने आम बोलचाल की शैली का प्रयोग किया है ताकि पाठक या श्रोता उनको आसानी से समझ सकें।

इस आलेख में प्रमुख रूप से कवि बालादीन, कवि रतीभानु, कवि दलजीत सिंह गौतम व कवि विनीत विक्रम बौद्ध की रचनाओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनके गीत, कविताएँ, व भजन आदि दलित वर्गों में मांगलिक अवसरों पर गाए जाते हैं। इन गीत, कविताओं व भजनों से न सिर्फ दलित लोगों का मनोरंजन होता है, बल्कि उन्हें अपने इतिहास का भी ज्ञान होता है। उन्हें शिक्षित होकर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी जाती है। कवि विनीत विक्रम बौद्ध ने तो उच्च कोटि के महाकाव्य लिखे हैं।

कवि बालादीन

सर्वप्रथम बात करते हैं कवि बालादीन की, जो मूलतः कुकुरगाँव जिला जालौन के निवासी हैं। उन्होंने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में अपने संस्कारगीत (मंगलगीत) प्रकाशित किए हैं। उनका एक गीत है—

तुम अबहूँ चेत जाओ शोषित भैया कितनी भूल तुम्हारी!²

इस 'गारी' गीत के माध्यम से कवि ने दलितों को चेतना प्रदान की है, कि आप पहले से ही गरीब हैं, उस पर भी आप गंगा नदी में स्नान कर अपने पुरखों की अस्थियाँ प्रवाहित करने की गरज से अपनी खून-पसीने की कमाई नष्ट कर देते हैं। कवि लिखते हैं—

गंगा पे जात करन स्नान, दस रुपया का देते दान,

पंडन के बन गए मकान, मोटर कार खडी द्वारे पे, ऊँची बनी अटारी!³

अर्थात् आप गंगास्नान करने जाते हो। वहाँ बिना दान किए हुए आप वापस नहीं आ सकते। थोड़ा-थोड़ा दान देकर आपने पंडों के महिल बनवा दिए और आप आज भी झुगगी झोंपड़ी में रह रहे हो। आगे कवि बालादीन लिखते हैं—

पास तुम्हारे नहीं मडैया, दान-पुण्य तुम करो अदैया,

बाप मरे बामन को गैया, वे तो छाने दूध मलाई, क्या है दशा तुम्हारी!⁴

कवि दलितों को ललकारते हुए कहता है कि दान-पुण्य करने की आपकी बहुत बुरी आदत है। जीवित पुरखा की तो सेवा नहीं करते, परंतु उसके मरने पर ब्राह्मण को गाय दान करते हो। गाय का दूध ब्राह्मण पीता है। तुम कंगाल और कमजोर बने दलित ही बने रहते हो। आगे की पंक्तियाँ देखें—

पैसा को नहीं रखते पास, जा से चेहरा रहे उदास,

नईया बुद्धि को प्रकाश, बहुत दिनों से बिगड़ी हालात,

अब तो लेव सुधारी!⁵

अर्थात् पैसा प्रसन्नता का प्रमुख कारण है, जिसे दलितों ने अपना कभी उद्देश्य ही नहीं बनाया। पैसे के अभाव में उनके चेहरे उदास रहते हैं। कवि उनसे आग्रह करता है कि सदियों से बिगड़ी हालत को कम से कम अब तो ठीक कर लो। इस गीत की अंतिम कड़ी में कवि लिखता है—

बुद्ध भरोसे करते गान, बस्ती कुकुरगाँव स्थान,

बालादीन ने कियो मिलान, अंधकार को दूर भगाओ, देखो नजर पसारी!⁶

यानि कुकुरगाँव के बालादीन ने भगवान बुद्ध को स्मरण करते हुए इस गीत की रचना की है व दलितों से आग्रह किया है कि अंधकार से उबारने वाले भगवान बुद्ध को स्मरण करो

और प्रकाश की ओर अग्रसर हो। संसार बहुत बड़ा है। उसमें आपका कद कैसा और कहाँ है। इस पर नजर फैलाकर तो देखो।

कवि रतीभानु बौद्ध

दलित समाज के सच्चे हितैषी एवं चिंतक कवि रतीभानु बौद्ध का जन्म 4 मार्च 1948 को स्थान अंतियनपुरा जिला भिंड में हुआ। आपकी शिक्षा-दीक्षा बहुत अधिक तो नहीं हुई, परंतु आपकी बौद्धिक क्षमता एक उच्च शिक्षित व्यक्ति से कम नहीं है। आपने दलित चेतना से संबंधित 14 पुस्तकें लिखीं हैं। उन्होंने बुंदेलखंडी बोली में गीत, भजन व कविताएँ लिखकर अंधकार में डूबे दलित समाज को उभारने का काम किया है। बुंदेलखंड में मृत भोज की परंपरा कुछ अधिक ही है। इसके कारण लोग निरंतर गरीब होते जा रहे हैं। इस परंपरा के शिकार केवल दलित ही नहीं हैं बल्कि अन्य लोग भी हैं, परंतु दलितों पर इसका सीधा असर पड़ रहा है। कवि रतिभानु लिखते हैं—

मृतभोज तुम न करो, करो पुरोहित बंद,
न परो दददा की बात में, जो चाहो आनंद।
जो चाहो आनंद बनो न दानी भैया,
दे विप्रन को दान, मेंट दई बनी मडैया।
रतिभानु कवि तुम्हें तरे का अर्थ बतावें,
धन धरती लई खींच, पटक धह मास डुबावें।⁷

तर्क और विवेक से दलितों को जाग्रत करते हुए कवि रतिभानु ने वर्ण-व्यवस्था व जाति-व्यवस्था पर करारा हमला करते हुए लिखा है—

किस विध जानीं जाति, मनु कोई पता चिह्न दायो न,
सूरत-मूरत एक बनाई, मानव-जाति एक कहाई।
भग से सब पैदास बताई, जब जन्मे अपनी मात के,
कोई शूद्र संघ आयो न।
चार पैर न मेरे आए, लाल हरो न रंग दिखाए,
आठ भुजा क्यों नहिं दरसाय, नही शीष हमारे बीस हैं।
कोई पशुओं से जायो न।
चारों वर्ण अलग कर डारे, कर्तव्य सबको न्यारे-न्यारे।
टोरे तुमने भाई चारे, मनु तुम्हारे लेख से अधिकार कोई पायो न।⁸

शिक्षा का महत्त्व बताते हुए कवि रतिभानु लिखते हैं—

बिन शिक्षा सूजत नहीं, बिन संगठन बलहीन।
बिन संघर्ष कछु नहीं मिलो रहितो सदा अधीन।⁹

बुंदेलखंड में ब्राह्मणों ने दलितों के नामकरण भी बेहद गंदे तरीके से किए हैं। इस संबंध में कवि रतिभानु लिखते हैं—

अब दीन-हीन दलितों के देखो नाम पुरोहित करें बखान।
डबू, डबोले, डरू, डरोले, झल्ले, बल्ले और अजान।
टुई, टिकोले, बलू, मखोले, नकछिद्दे कनको के जान

मटरू और मंटाई, चटरू, जिलू, करंजू, पुसु, जुमान।¹⁰

कवि रतिभानु संकेत करते हैं कि किस प्रकार दलितों को भावनात्मक चोटें पहुँचाई जाती हैं। आज दलितों ने अपने बच्चों के नामकरण खुद ही करना प्रारंभ कर दिए हैं। आज वे अपने बच्चों के अच्छे-अच्छे नाम रख रहे हैं। दरअसल, दलित लोगों के अपमानित नाम होने के कुछ साहित्यिक कारण हैं। मनुस्मृति में ब्राह्मणों को आदेश है कि नामकरण वर्ण-व्यवस्था के अनुसार किया जाना चाहिए। अर्थात् ब्राह्मण का नाम बुद्धिसूचक, क्षत्रिय का नाम बलसूचक, वैश्य का नाम धनसूचक व शूद्र का नाम निंदासूचक होना चाहिए। व्यावहारिक रूप से ऐसा ही किया गया। जब शूद्रों ने जान लिया कि उनके साथ ऐसा ही होता रहेगा, तब उन्होंने अपने बच्चों का नामकरण ब्राह्मणों द्वारा कराना बंद कर दिया। आज की पीढ़ी में सभी वर्गों के नाम एक जैसे मिलते हैं। फिर भी लोग अपने नाम के आगे उपनाम जोड़कर अपनी जाति व वर्ण का अहसास करा ही देते हैं।

विनीत विक्रम बौद्ध

विनीत विक्रम बौद्ध बुंदेलखंड के विश्वप्रसिद्ध कवि व लेखक हैं। उन्होंने 'बुद्धचरित चंद्रोदय' नामक महाकाव्य लिखकर विश्व में अनूठी पहचान बनाई है। उन्होंने इस हिंदी में लिखित महाकाव्य का आधार अंग्रेजी कवि एडविन आर्नोल्ड द्वारा लिखित महाकाव्य 'लाइट आफ एशिया' को बनाया है। एडविन आर्नोल्ड ने तथागत गौतम बुद्ध के जीवन-संघर्ष को, उनकी देशनाओं को व उनकी मानव-कल्याणकारी शिक्षाओं को यूरोप जैसे महाद्वीप में प्रचारित-प्रसारित किया है। ठीक इसी प्रकार विनीत विक्रम बौद्ध ने 'बुद्धचरित चंद्रोदय' हिंदी भाषा में लिखकर विश्व को समर्पित किया है। उनके इस महाकाव्य से बुद्ध का दर्शन पद्य में भी उपलब्ध हुआ है। उन्होंने काव्यप्रेमियों की दुनिया में एक नया अध्याय जोड़ा है। वैसे पाली भाषा में तो पूर्व से ही बुद्धदर्शन पर महाकाव्य लिखे जा चुके हैं। हिंदी की चौपाइयों व दोहों में लिखित यह प्रथम महाकाव्य है, जो तथागत बुद्ध के जीवन-दर्शन पर लिखा गया है। इसके अतिरिक्त विनीत विक्रम बौद्ध ने 'चारुवाक' नामक महाकाव्य भी लिखा है। चारुवाक ने धर्म, दर्शन और समाज की परंपरागत मान्यताओं पर मर्मन्तक प्रहार किया। स्वर्ग, नरक, ईश्वर, जीव, वर्ण, आश्रम आदि सभी को उन्होंने कपोलकल्पित और अनावश्यक ठहराया। श्राद्ध, तर्पण और यज्ञों का मजाक उड़ाया। श्रुतियों और स्मृतियों की मान्यता को चुनौती दी। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त उन्होंने अन्य किसी माध्यम को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया। श्रुति, स्मृति, अनुमान, तुलना, दृष्टांत, निष्कर्ष आदि किसी को उन्होंने प्रमाणित नहीं माना। चारुवाक के अनुसार 'आँख, कान, जीभ, और त्वचा आदि के द्वारा देखने, सुनने, सूँघने, चखने और छूने से जो ज्ञान प्राप्त हो, केवल वही प्रमाणित है। शेष सब संदिग्ध है।'¹¹

चारुवाक की वचनावली की कुछ बानगी प्रस्तुत है—

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिक।

नैव वर्णाश्रमादीना, क्रियाश्च फलदायाः।¹²

अर्थात् न स्वर्ग है, न अपवर्ग है, न कोई अलौकिक आत्मा है। वर्ण, आश्रम आदि भी नहीं है। केवल क्रिया ही फलदायक है।

विनीत विक्रम बौद्ध कृत 'चारुवाक' की भूमिका में डॉ॰ श्रीकृष्ण सरल लिखते हैं—'भाई श्री विनीत विक्रम बौद्ध महाकाव्य-लेखन की परंपरा का न केवल निर्वाह कर रहे हैं, वे उसे गति भी प्रदान कर रहे हैं। इसके पूर्व उनके दो महाकाव्य 'चंद्रगुप्त मौर्य' और 'पांडव पुराण' हिंदी

के पाठकों द्वारा समादृत हो चुके हैं। प्रस्तुत महाकाव्य 'चारुवाक' उनका तीसरा महाकाव्य है, जिसकी भूमिका लिखने का गौरव उन्होंने मुझे प्रदान किया।¹³

दलजीत सिंह गौतम

बुंदेलखंड के अंतिम छोर पर बसे भिंड जिले में दलजीतसिंह गौतम ने एक छोटे से ग्राम परसोना में जन्म लिया है। लगभग 35 वर्ष भारतीय सेना में सेवा करने के बाद आप साहित्य-साधना में प्रविष्ट हुए हैं। सूबेदार मेजर पद से सेवानिवृत्त होने के बाद आपने तथागत बुद्ध, ज्योतिबाराव फुले व बाबासाहेब अंबेडकर के बारे में पढ़ा व सुना। इन महापुरुषों के जीवन-संघर्षों ने दलजीत सिंह के ऊपर अमिट छाप छोड़ी। उन्होंने लोकभाषा में गीत व कविताओं की रचना प्रारंभ की, जिनमें उन्होंने बहुजन समाज में जन्मे एवं बहुजन समाज के कल्याण के लिए मर मिटने वाले महापुरुषों के संघर्ष की गाथा गाई है। आज उनके गीतों को नर-नारी मांगलिक अवसरों पर गाते हुए सुने जा सकते हैं। दलजीत सिंह द्वारा कथित साखियों में से कुछ साखियाँ इस प्रकार हैं—

1. नमन तथागत बुद्ध को, नमो भीम भगवान।
मात पिता गुरु चरणधर, शीश नवाऊँ आन।
शीश नवाऊँ आन, ध्यान नेक मोपे दीजे।
बैठो बुद्धि पर आय, कलम मेरी गह लीजे।
2. दलित दुखी इस देश के, सब मिल करी पुकार।
दुखियों के दुख हरन को, भीम लिया अवतार।
भीम लिया अवतार, विधाता दीनन के बनियाए
शिक्षा लई विदेश, यहाँ पर संविधान बनवाए।
3. घर आँगन नीको लगे, कि जबसे आए भीम।
दुखियों के दाता बने, पक्की कर दई नीम।
पक्की कर दई नीम, हक्क सबको दिलवाए।
मनुस्मृति को जला, द्विजों के मान घटाए।
4. अमृत वर्षा भीम की, वर्षो चारहुँ ओर।
ज्ञानी-ज्ञानी पी गए, मूरख आँख निपोर।
मूरख आँख निपोर, आज तक चेते नाँही।
जीवन भयो बेकार, बीर नहिं पायो दमही।
5. तैंतीस करोड़ आए देवता, चौबीस भए अवतार।
शूद्र खड़े रोते रहे, काऊ न सुनी पुकार।
काऊ न सुनी पुकार, एक भी काम न आए।
जा दिन जन्मे भीम, देवता सबके सब थराये।
6. नइया पार लगाय के, तुम्हें दई पतवार।
अब बारी है आपकी, भीम ने करी पुकार।
भीम ने करी पुकार, नाव को डुबो न देना।
7. तुम्हें कसम सौ बार, बात मेरी भुला न देना।
दलित पुकारे भीम को, फिर आओ एक बार।

संविधान की लाज को, तुम्हीं बचावन हार।
 तुम्हीं बचावन हार, समीक्षा हो रही है रोजाना।
 संशोधन कर रहे, जाही से चाहते तुम्हें हराना।
 8. हाय जाति की छोट सें, भारत है बीरान।
 बिना घाव तलवार के, काढ़े लेवत प्रान।
 काढ़े लेवत प्रान, शीश पर दी लटकाई।
 चारऊ जुग गए बीत, बंद न हुई लड़ाई।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि उक्त चार कवियों ने बुंदेलखंड क्षेत्र में दलित-चेतना का परचम लहराया है। विनीत विक्रम बौद्ध को छोड़कर शेष कवि (बालादीन, रतिभानु, दलजीत सिंह गौतम) ने महाविद्यालयीन व विश्वविद्यालयीन शिक्षा ग्रहण नहीं की है, परंतु आज उच्च शिक्षित व्यक्ति ही उनकी रचनाओं से प्रेरणा ले रहे हैं। आजादी के पूर्व दलितों की बुद्धि के दरवाजे बंद थे। वे पढ़-लिख नहीं सकते थे, लिखने की बात तो दूर। ज्योतिबाराव फुले व बाबासाहेब जैसे तमाम दलित शुभचिंतकों ने इस दिशा में संघर्ष किया, तब कहीं जाकर आज दलित लेखनी चल रही है। आज भी दलितों में चेतना का अभाव है। उन्हें जो पढ़ना चाहिए सो नहीं पढ़ रहे हैं। जरा सी उपलब्धि पाकर बौखलाने लगे हैं। नवीन पीढ़ी तो मोबाइल व मोटर साइकिल में मस्त है। उन्हें इन महापुरुषों के संघर्ष का पता ही नहीं है। उक्त कवियों की रचनाएँ अगर समूचे समाज को पढ़ा दी जाएँ तो निश्चित ही लोगों की बुद्धि खुल सकती है। अंधविश्वास, व्यसन, चुगली, कुरीतियों व अज्ञान के अंधकार में डूबा दलितवर्ग आज भी समय व धन का दुरुपयोग कर रहा है। 90 प्रतिशत दलितवर्ग आज भी कपड़ा, रोटी और मकान को तरस रहा है। बीमारियाँ दिनों-दिन बढ़ती जा रही हैं। उपचार के अभाव में उनकी मौतें होती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में महापुरुषों का चिंतन उनका मागदर्शन अवश्य करेगा। इन महान कवियों की रचनाएँ दलितों के जीवन में महान परिवर्तन ला सकती हैं।

संदर्भ

1. बौद्धशील प्रिय, स्वामी अछूतानंद, सचित्र जीवनी, सम्यक् प्रकाशन नई दिल्ली, 2003, पृ. 36
2. बालादीन, गारी धम्मप्रकाश, आजाद आफसेट उरई उ.प्र., 1995 पृ० 5
3. वही, पृ० 5
4. वही पृ० 5
5. वही पृ० 6
6. बौद्ध रतिभानु, दलित जागृति, लहरी पब्लिकेशन प्रा.लि., मुरार ग्वालियर 2008 पृ० 3
7. वही पृ० 27
8. वही पृ० 35
9. वही पृ० 32
10. बौद्ध विनीत विक्रम, चारुवाक : सम्यक् साहित्य संस्थान, भारत भवन पडरा, रीवा, 2003 पृ० 4
11. वही पृ० 5
12. वही पृ० 11
13. गौतम दलजीत सिंह, दलित चेतना भजन माला, गौतम ऑफसेट भिंड 2007

साहित्य और उसकी प्रासंगिकता

डॉ० शमशाद हुसैन

साहित्य शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना है सम+धा+यत=साहित्य। 'सम' सम्यक् भाव बोधक उपसर्ग है, 'धा' धारण करने की क्षमता संपन्न धातु है और 'यत' प्रत्यय है। व्याकरण के अनुसार धा=हित हो जाता है। अतः सम+हि+यत=साहित्य और उसका भाववाचक शब्द साहित्य है। इस प्रकार जिसमें सम्यक् रूप से धारण करने की शक्ति हो, दूसरों का हित या मंगल-साधना हो अथवा जिसमें साथ-साथ चलने का भाव विद्यमान हो, वह साहित्य है। साहित्य अपनी प्रसिद्ध कृतियों में अपने युग की सभ्यता, संस्कृति आदि को धारण किए रहता है। जिस साहित्य में अपने युग को धारण करने की जितनी शक्ति है, उतना ही महान साहित्य माना जाता है। साहित्य अपने अंदर अपने युग के समस्त समाज को समेट लेता है। इसीलिए महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने लेख 'साहित्य की महत्ता' शीर्षक के आरंभ में साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—'ज्ञान-राशि के संचित कोश का नाम ही साहित्य है।' मुंशी प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचना मानते हुए लिखते हैं—'साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ दी गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है, चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानी के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।'¹ जयशंकर प्रसाद साहित्य को काव्य का पर्यायवाची मानते हुए लिखते हैं—'काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है।'² शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत' पुस्तक में डॉ० गोविंद त्रिगुणायत ने साहित्य की व्याख्या और स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'साहित्य शब्द बड़ा ही व्यापक है। इसमें समस्त जीवन की अभिव्यक्ति और संपूर्ण ज्ञान की चेतना का बोध होता है। समस्त जीवन और संपूर्ण ज्ञान को आत्मसात् कर प्रत्यक्ष शब्द-चित्रों में सँजोने की शक्ति किसी एक व्यक्ति, प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाज में संभव नहीं होती। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाज अपने-अपने साहित्य का विकास अपने-अपने ढंग पर करता है।'³ भारतीय मनीषी रवींद्रनाथ ठाकुर ने भी इस साहित्य-बोध को अपने ढंग से स्वीकार किया है—'साहित्य शब्द से साहित्य के मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रंथ-ग्रंथ का ही मिलन नहीं, बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकटता का अत्यंत अंतरंग मिलन है, जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य संभव नहीं है।'⁴

अतः कहा जा सकता है कि साहित्य में ऐसी व्यापकता है जिसके लिए सब कुछ ग्राह्य है, सब सत्य है, अर्थात् है, विकृत कुछ नहीं। अर्थात् साहित्य शब्द में संपूर्ण मानव जाति की, आशा-निराशाओं को, संस्कृति और विकृति को तथा संपूर्ण मानवता को सम्यक् रूप से धारण

करने की शक्ति है, समस्त कलाओं को अपने में सम्मिलित करने की पूरी दक्षता है।

साहित्य की प्रासंगिकता का अर्थ एवं अवधारणा

‘मानक हिंदी शब्दकोश में ‘प्रासंगिक’ शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है-‘वि० (सं०) प्रसंग प्राप्त, जिसका प्रसंग हो, प्रसंगोचित।’⁵

‘लोकभारती हिंदी-कोश के अनुसार ‘प्रासंगिक’ शब्द का अर्थ है-प्रसंग संबंधी, प्रसंग वश या संयोग से बीच में और आपसे आ जाने या हो जाने वाला। अथवा किसी प्रसंग से आकस्मिक रूप से सामने आने वाला।⁶ प्रासंगिक शब्द से प्रासंगिकता शब्द बना है। जिसका आजकल आलोचना जगत में अधिक प्रयोग हो रहा है। रवींद्रकुमार सिंह ने प्रासंगिकता शब्द और उसके मूल अर्थ पर विचार करते हुए लिखा है-‘प्रासंगिकता का अर्थ है-औचित्य का विधान, सार्थकता की तलाश तथा उपयोगिता की दृष्टि। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों से ज्ञात होता है कि व्यक्ति के समस्त चिंतन का विकास सामाजिक परिवेश में ही होता है। इसके संपूर्ण कार्यों का औचित्य-अनौचित्य का मानदंड सामाजिक धारणाएँ हैं, यहीं से प्रासंगिकता का प्रश्न उठता है।’⁷

वस्तुतः आलोचना-जगत में साहित्य को प्रासंगिकता की कसौटी पर कसकर देखा-परखा जाने लगा है। अतः साहित्य में अर्थवत्ता की माँग की जाने लगी है।

प्रासंगिकता शब्द का जो अर्थ हमारे सामने उभरकर आ रहा है, वह है-अर्थवत्ता, उपादेयता, महत्ता, समीचीनता, आवश्यकता, सार्थकता, उपयोगिता आदि। इस प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में प्रासंगिकता का अर्थ होना चाहिए-साहित्य की सार्थकता, अर्थवत्ता, उपादेयता एवं महत्ता। उपर्युक्त जितने भी विशेषणों का प्रयोग साहित्य के साथ हुआ है, उन सब का अर्थ प्रासंगिकता में समाहित हो जाता है। साहित्य की प्रासंगिकता के संबंध में साहित्यकार जो कुछ भी रचता है उसका समकालीन और शाश्वतता के आधार पर मूल्यांकन है, चूँकि साहित्यकार अपने समकालीन परिवेश से आधार ग्रहण करके ही साहित्य की रचना करता है, समाज, राजनीति, धर्म के क्षेत्र में जो कुछ भी घटित होता है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। साहित्यकार वह सब-कुछ अपनी आँखों से देखता है एवं प्रभावित होता है। यही प्रभाव उसके साहित्य पर परिलक्षित होता है। समाज, राजनीति, धर्म आदि क्षेत्रों में कुछ-न-कुछ बदलाव अवश्य होता रहता है। यह बदलाव साहित्यकार के साहित्य में भी दिखाई देता है। जो कुछ साहित्यकार लिखता है उसकी प्रासंगिकता अवश्य होती है। अर्थात् चाहे साहित्यकार किसी भी युग का हो, युग एवं परिवेश के बदलने से जो परिवर्तित होती है वह है दृष्टि। प्रत्येक युग की आधुनिकता एवं परिवेश भिन्न होता है। हर युग की अपनी आवश्यकताएँ एवं प्राथमिकताएँ होती हैं। साहित्यकार जिन परिस्थितियों एवं घटनाओं का वर्णन अपने साहित्य में करता है, वे परिस्थितियाँ केवल उस युग की परिस्थितियाँ ही नहीं रहतीं, बल्कि उसकी प्रासंगिकता पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती दोनों युगों में रहती है। उदाहरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति की भावनाओं पर युगीन परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। मनुष्य में दया, करुणा, स्नेह, घृणा, क्षोभ आदि भाव स्थायी रूप से होते हैं, चाहे युग कोई भी हो। इसलिए साहित्यकार जो कुछ भी समाज से ग्रहण करके अपने साहित्य में लिखता है वह किसी-न-किसी रूप में हर युग के लिए प्रासंगिक हो जाता है।

वास्तव में आज साहित्य की प्रासंगिकता का जो प्रश्न उठा है, वह पूर्ववर्ती साहित्य की वर्तमान युग की प्रासंगिकता से जुड़कर उठा है। इसका सबसे महत्वपूर्ण बिंदु या पहलू यह है कि प्राचीन अथवा मध्ययुगीन साहित्य आज भी हमारे लिए प्रासंगिक है, क्या कालिदास, कबीर, तुलसी, बिहारी एवं कवि नज़ीर आज भी हमारे लिए प्रासंगिक हैं? इससे स्पष्ट होता है कि प्रासंगिकता में उपयोगिता एवं अनुपयोगिता, औचित्य एवं अनौचित्य आदि सभी का समावेश है। अतः प्रासंगिकता का वास्तविक अभिप्राय अर्थवत्ता एवं सार्थकता से है, जो बताता है कि विगत युगों का साहित्य हमारे लिए उपयोगी है या अनुपयोगी। हम उसे पढ़कर लाभान्वित होते हैं या नहीं। वह हमारी चेतना को विकसित करता है या नष्ट, अर्थात् वह आज के युग में समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होता है या नहीं। वह समाज को उन्नति के मार्ग पर ले जा रहा है या पीछे ढकेलता है। इन सभी तथ्यों पर सूक्ष्म रूप से विचार-विमर्श एवं चिंतन करना ही साहित्य की प्रासंगिकता की अवधारणा है। इसी संदर्भ में अनेक विद्वानों के दृष्टिकोण को भी समझ लेना आवश्यक है।

डॉ० लालचंद्र गुप्त 'मंगल' ने साहित्य की प्रासंगिकता एवं प्रकृति पर चिंतन करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है—'श्रेष्ठ साहित्य की प्रकृति ही ऐसी है कि वह हमें एक सीमित, देशकाल से निकालकर अनंत देशकाल में ले जाता है, जो साहित्य यह दृष्टि नहीं देता, वह निरा वाग्जाल होता है।'⁸

रवींद्रकुमार सिंह ने साहित्य की प्रासंगिकता के मूल में शाश्वत मूल्यों को माना है—'जो रचना आगामी शताब्दियों के काल के प्रवाह में शाश्वत मूल्यों को लेकर चलती है, तभी हमारी दृष्टि उसकी युगानुरूप प्रासंगिकता पर जाती है, अर्थात् उसकी उपयोगिता तत्कालीन संदर्भों के साथ-साथ यदि समकालीन संदर्भों में भी हो तो वह उसकी प्रासंगिकता है।'⁹

प्रो० प्रदीप सक्सेना ने 'अथातो साहित्य' पुस्तक में साहित्य की अर्थवत्ता पर गंभीरता से विवेचन किया और निष्कर्ष रूप में साहित्य का लक्ष्य सत्य की खोज माना है—'साहित्य तो सत्य को उभारता है, प्रकट करता है।'¹⁰

इस प्रकार साहित्य और उसकी प्रासंगिकता की अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। साहित्य को लेकर सभी विद्वानों ने समाज में फैली बुराइयों, कुप्रथाओं, कुप्रवृत्तियों, भ्रष्टाचार एवं पशुवृत्ति से निकाल कर सत्य का आभास कराने की ओर दृष्टि डाली है, जो सर्वथा प्रासंगिक है। अतः कहा जा सकता है कि जो साहित्य मनुष्य को मनुष्य बनाता है जिससे समाज का उत्थान होता है और ऐसा साहित्य सदैव अमर रहता है, कालजयी होता है।

संदर्भ

1. कुछ विचार, प्रेमचंद, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1982, पृ० 6
2. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत (प्रथम भाग), गोविंद त्रिगुणायत, एस० चाँद एंड कंपनी लि०, दिल्ली, संस्करण 1984 पृ० 5
3. वही पृ० 1
4. साहित्य और उसकी विविध विधाएँ, डॉ० तारिणीचरण दास 'चिदानंद', अलीगढ़, संस्करण 1985, पृ० 22
5. मानक हिंदी शब्दकोश, सं० कृष्णकांत दीक्षित, सूर्यनारायण उपाध्याय, कमल प्रकाशन, दिल्ली,

संस्करण 2005, पृ० 650

6. लोकभारती प्रमाणिक हिंदी कोश, संपादक, डॉ० रामचंद्र वर्मा, संशोधन डॉ० बदरीनाथ कपूर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० 552
7. संतकाव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, रवींद्रकुमार सिंह, वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ० 32
8. आधुनिक युगबोध और साहित्य, डॉ० लालचंद गुप्त 'मंगल', निर्मल बुक ऐजेंसी, कुरुक्षेत्र, संस्करण 2003, पृ०1
9. संतकाव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, रवींद्रकुमार सिंह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 32
10. अथातो साहित्य, प्रदीप सक्सेना, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2003, पृ० 26

सुपुत्र-श्री अब्दुल मलिक
ग्राम कल्हेड़ी, तहसील-नजीबाबाद
ज़िला-बिजनौर (उ०प्र०)
मो० 09756156069

संत कवि कबीरदास का वैचारिक दृष्टिकोण

भतेरी देवी

हिंदी प्रवक्ता, राजकीय महिला महाविद्यालय
भोदिया खेड़ा (फतेहाबाद)

संवत् 1375 से संवत् 1700 तक के काल को हिंदी साहित्य में भक्तिकाल का स्वर्णयुग माना जाता है। सगुण एवं निर्गुण साहित्य के रूप में भक्तिकाल में दो धाराओं का विकास हुआ। कबीर, नानक, रैदास आदि संतों के नाम निर्गुण भक्तों में उल्लेखनीय हैं। संतों की वाणी पर भारतीय संस्कृति एवं वेदांत दर्शन का प्रभाव अवश्य स्वीकार किया जाता है। आध्यात्मिक दर्शन पर ही संत-साहित्य की पृष्ठभूमि आधारित है। उपनिषद् ही भारतीय दर्शन का मूल स्रोत है। उपनिषद् भारतीय दर्शनशास्त्र और धार्मिक संप्रदायों की नींव के समान है।

कबीर बहुमुखी प्रतिभा के असाधारण व्यक्ति थे। हर एक संत या कवि की जीव और जगत के प्रति विशेष दृष्टि होती है। कबीर ने जीने के लिए अपने युग को नए अवलंब दिए हैं, नई चेतना-दृष्टि दी है। उन्हें न केवल मध्ययुगीन चर्चित संत कहा जा सकता है, अपितु आज तक जितने कवि, साहित्यकार हुए हैं, उनमें वे सबसे उग्र निश्चल और अक्खड़ सिद्ध हुए हैं। मध्यकाल में श्रुत-परंपरा का विकास हुआ और इसका आधार संस्कृत में और निषदिक तत्त्व-विवेचन की परंपरा रही। कबीर एक अद्वैतवादी तथा ब्रह्मवादी कवि हैं। वे निर्गुण निराकार ईश्वर में विश्वास रखते हैं। कबीर तत्त्वदर्शी हैं, समाज सुधारक हैं। मस्तमौला हैं। कबीर के ब्रह्म, जीव-जगत, माया, मुक्ति आदि के विषय में विचारों से उनका जीवनदर्शन स्पष्ट हो जाएगा। कबीर के ब्रह्म निराकार हैं, निर्गुण हैं। वे राम हैं। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के लिए हरि, गोविंद, निरंजन, मुरारि, माधव, अल्लाह, रहीम, नारायण आदि शब्दों का प्रयोग किया है। कबीर का ब्रह्म संपूर्ण विश्व का कर्ता है। उनका ब्रह्म शंकराचार्य के समान निष्क्रिय नहीं है—

बहुत दुःख है दुःख के खानी, तब बचिहहु जब रामहि जानी
रामहि जानि जुक्ति जों चलई, जुक्तिहि तें फंदा नहिं परई
जुक्तिहि जुक्ति चला संसारा, निश्चय कहा न मानु हमारा
कनक कामिनी घोर पटोरा, संयति बहुत रहै दिन थोरा
थोरहि संयति गौर बौराई, धर्मराज के खबरि न पाई
देखि त्रास मुख गोकुम्लिलाई, अमृत धोखै गौं विष खाई
मैं सिरजो मैं मारों, मैं जारौ मैं खाऊँ।

जल, थल, नभ महुँ रमि रहौ, मोर निरंजन नाउँ।²

कबीरदास एक सच्चे समाज-सुधारक, साधक, उत्कृष्ट चिंतक तथा समन्वयवादी

दार्शनिक थे, लेकिन इनसे बढ़कर वे एक सच्चे ईश्वरभक्त भी थे। उत्तर भारत में भक्ति की धारा को प्रवाहित करने का श्रेय कबीरदास जी को ही जाता है। कबीर की भक्ति प्रेमाभक्ति थी। उनकी मान्यता थी कि राम-नाम की सिद्धि से जीवन-दृष्टि की समाप्ति हो जाती है—

प्रेम भक्ति ऐसी कीजिए, मुनि अमृत बरिषैं चंद,
आपही आप बिचारिए, तब केता होइ अनंद रे।³

कबीर का ब्रह्म अलख, निरंजन, निराकार अजन्मा, अज्ञेय एवं सर्वव्यापक है। कबीर के ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं है, जो साधक ब्रह्म को पहचान लेता है, वह पुनः ब्रह्म के समान हो जाता है। इसलिए ब्रह्म के मूल तत्त्व को समझना अति आवश्यक है। जो ऐसा नहीं कर पाते हैं, वे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं—

न जाने साहब कैसा है
मुल्ला होकर बाँग जो देवै क्या तेरा साहब बहरा है
कीड़ी के पग नेवर बाजे सो भी साहब सुनता है
माला फेरी तिलक लगाया लंबी जटा बढ़ाता है
अंतर तेरे कुफर कटारी यो नहिँ साहब मिलता है।⁴

कबीर ने अपने युगीन समाज पर पूर्णरूपेण दृष्टिपात करके देखा कि अमीर और प्रभावशाली परिवार के लोगों का गहरा विश्वास था कि औरों पर शासन करना या उन पर प्रभुत्व जमाना उनका जन्मसिद्ध अधिकार था। वह विचार उस काल के सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे को समर्थन देने के लिए पैदा हुए थे। कबीर गरीबों और अमीरों में असमानता के भाव देखकर उन पर क्रोधित होकर कहते कि एक तो मोती-मुक्ताओं से सजे कपड़े पहनता है। धवल सज्जा पर सोता है और दूसरा गुदड़ी पहनता है। अमीरों के द्वार पर हाथी झूमते हैं, जबकि निर्धन व्यक्ति मिट्टी की बनी हुई टूटी-फूटी झोपड़ी में रहता है। कबीर का मन संवेदना से भरा जाता है—

इन न रहूँ माटी के घर में
छिनहर घर अरु झिनहर टाटी
घन गर्जते कंपै मेरी छाती।⁵

कबीर मनुष्य-मनुष्य के प्रति समानता दर्शाते हुए कहते हैं कि संसार में कोई भी व्यक्ति छोटा या बड़ा नहीं है। भले ही घास हमारे पैरों से कुचली जाती है, हमें उसकी भी निंदा कभी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब छोटा-सा तिनका उड़कर आँख में गिर जाता है तो बहुत दुःख होता है—

कबीर घास न नीदिए, जो पाऊँ तलि होई
उड़ि पड़ै जे आँखि मैं, खरा दुहला होई।⁶

कबीर के विचार बड़े क्रांतिकारी हैं। वे वर्गीय, जातीय, संप्रदायगत भेदभाव के कट्टर शत्रु हैं। कबीर मनुष्य के प्रति समानता के पक्षधर हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, ऊँच, नीच आदि के भेदभाव को सहन नहीं करते। वे इसे निरर्थक मानते हैं—

भूला भरमि परै जिनि कोई
हिंदू तुरूक झूठ कुल सोई।⁷

कबीर के साम्य के विचार वैदिक कालीन साम्य पर आधारित हैं और प्रकृति और

संस्कृति के मूल से जुड़े हुए हैं। हृदयगत सरलता, सहजता, निश्चलता पर जोर देते हुए कबीर कहते हैं—

हरि न मिलै बिन हिरदै सूध
साई सेति साच चल औरों सां सुधभाय
भावैं लांबे केस कर भावै धुरड़ि मुड़ाया⁸

कबीर ने जगत को मिथ्या कहा है। मनुष्य को अपने जीवन का प्रत्येक क्षण प्रभु साक्षात्कार में लगाना चाहिए—

यां एक संसार है जैसा सेमल फूल
दिन दस के व्योहार को, झूठै रंगि न भूला⁹

कबीर हिंदी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं। वे भौतिक आकर्षण की निस्सारता का भेद अपने पदों और साखियों में बताते हुए शांति के मार्ग की ओर प्रशस्त करते हैं। वे धार्मिक अनुष्ठान, कर्मकांड और पूजा-पाठ को मनुष्य के बीच भेद-भाव का कारण बताते हैं। उनका विचार है कि भौतिकता से मनुष्य एक-न-एक दिन अवश्य ऊब जाता है, किंतु भगवद्भक्ति से कोई नहीं ऊबता। भौतिकता और आध्यात्मिकता का सुंदर समन्वय कबीर की वाणी में देखने को मिलता है। कबीर का कथन है कि भगवान को किसी मंदिर, मस्जिद में या किसी स्थान विशेष तक सीमित नहीं किया जा सकता। उसको प्राप्त करने के लिए बाह्य आडंबरों एवं मूर्ति-पूजा की जरूरत नहीं है—

मौकों कहाँ ढूँढे रे बंदे, मैं तो तेरे पास में
ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में
ना तो कौन क्रिया-कर्म में, नहिं योग बैराग में
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं, पल भर की तालास में
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वांसों की स्वांस में।¹⁰

कबीर परमात्मा की भक्ति को सुख और शांति का साधन मानते हैं—

जो सुख राम भजन में, वह नहीं अमीरी में।¹¹

‘संतों ने माया को चांडाली कहा है। यह चंडाली संज्ञा भी इस कुंडलिनी की ही है। हिंदू तंत्र जिसे कुंडलिनी कहते हैं। बौद्धों के हेवज्र तंत्र में उसी को चांडाली कहा गया है। संतों के यहाँ माया-विषय-प्रवर्तिका है। संतों ने इसे वेश्या और बाल विधवा या बाल रंडा कहा है। संत माया को वेश्या और जगत को वेश्या का पूत कहते हैं। संत माया को महाठगिनी और हर उत्पात की जड़ समझते हैं। यह वेश्या या नारी-रूपी माया ही सारे प्रपंच का मूल है और विभिन्न रूपों में संसार में व्याप्त होकर जीव को भ्रमित करती रहती है। नारी तथा वेश्या किसी के प्रति वफ़ादार होकर नहीं रह सकती। वह बहुप्रिया है और सब को ठगती फिरती है। माया भी यही सब करती है।’¹²

कबीर के बारे में कहा जाता है कि कबीर एक संघर्षशील प्रगतिवादी समाज सुधारक संत थे। उन्होंने दलितों के लिए वर्णाभिमानियों तथा जाति-कुल-गोत्र को बड़ा मानने वालों से डटकर लोहा लिया। वे अत्यंत निर्भीक और दलितों के सबसे महान् उद्धारक कवि थे। कबीर ने सामाजिक रूढ़ियों पर करारा व्यंग्य किया। सामाजिक रूढ़ियों का पालन न करके उन्होंने समाज में फैली विकृतियों का प्रभावशाली स्वर में विरोध किया। उनके तेजस्वी जोर ने जाति-पाँति, धर्माडंबर और

छूआछूत जैसी दुष्प्रवृत्तियों की धज्जियाँ उड़ा दीं। कबीर का विद्रोही रूप उस समय टूटता हुआ दिखाई पड़ता है। जब वे नारी के समक्ष खड़े होते हैं। कबीर नारी के प्रति निष्ठुर और असंवेदनशील है। उन्होंने उसे माया बना दिया है और माया के रूप में चुन-चुनकर अपशब्द कहे हैं—

माया महाठगिनि हम जानी

केशव के कमला हवै बैठी, शिव के भवन भवानी

योगी के योगिन हवै बैठी, राजा के घर रानी

भक्तां के भक्तिन हवै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।¹³

हिंदी साहित्य में भक्तिकाल को स्वर्णिम काल की संज्ञा दी जाती है। भक्तिकाल के प्रादुर्भाव ने हिंदी काव्य को नई चेतना एवं नए रास्ते प्रदान किए हैं। कबीर निश्चय ही उच्चकोटि के भक्त थे। ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा एवं विश्वास इनकी भक्ति का मुख्य तत्त्व माना जाता है। कबीर ने अपने काव्य में सत्य का प्रकाशन किया है। वे अपनी बात को कहने के लिए मात्र कविता का सहारा लेते थे, बल्कि कविता करना इनका उद्देश्य नहीं था। इसलिए इनकी काव्यकला सहज, सरल और बोधगम्य है। सच्चाई की अनुभूति इनके काव्य में होने के कारण ये जन कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। निर्गुण, निराकार ईश्वर को कबीर ने पापों एवं तापों से मुक्ति दिलाने वाला बताया है। काव्य के प्रति व्यापक अनुभव एवं गहन चिंतन कबीर के पास व्याप्त है।

संदर्भ

1. द्रष्टव्य 'संस्करित भाषा पढ़ि लीन्हा ज्ञानी लोक कहो री', हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर पृ० 284
2. कबीर वाङ्मय-खंड 2, रमैनी, डॉ० जयदेवसिंह, डॉ० वासुदेवसिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2000, पृ० 41
3. डॉ० राजेंद्रमोहन भटनागर, 'कबीर' भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-1985, पृ० 65
4. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुंदरदास, पृ० 467
5. सांझी संस्कृत की विरासत, डॉ० सुभाषचंद्र, आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), पृ० 50
6. कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, सं० बलदेव वंशी, आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), पृ० 104
7. वही, पृ० 12
8. वही, पृ० 12
9. डॉ० राजेंद्रमोहन भटनागर, 'कबीर', भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली-1985, पृ० 61
10. सांझी संस्कृत की विरासत, डॉ० सुभाषचंद्र; आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), पृ० 54
11. डॉ० श्रीमती सुशील सिन्हा, 'लौह पुरुष कबीर', संजय प्रकाशन दिल्ली-2001, पृ० 201
12. कबीर का स्त्री दृष्टिकोण, सेवा सिंह; निर्मल पब्लिकेशंस, कबीर नगर दिल्ली-94, पृ० 67
13. कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, सं० बलदेव वंशी; आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), पृ० 106

गाँव/डाकखाना—मेहूवाला

वाया—भट्टू कलां

जिला—फतेहाबाद (हरियाणा)

मो० 09813229247

हरियाणवी लोकगीतों में अभिव्यक्त लोकजीवन

भतेरी देवी

हिंदी प्रवक्ता, राजकीय महिला महाविद्यालय
भोदिया खेड़ा (फतेहाबाद) हरि०

भारत एक विशाल देश है। इसमें अनेक राज्यों का समावेश है। इन अनेक राज्यों में हरियाणा भी एक प्रमुख राज्य है। कुछ समय पहले हरियाणा, पंजाब राज्य का भाग था, परंतु 1 नवंबर 1966 को यह हरियाणा राज्य पंजाब राज्य से अलग होकर 17वें राज्य के रूप में आया। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह राज्य बहुत छोटा है। फिर भी यह भारत के मानचित्र पर अपना विशेष महत्त्व रखता है। हरियाणा की संस्कृति में लोकजीवन के विभिन्न पक्षों—मेले-उत्सव, तीज त्योहार, कृषि संस्कार, वेशभूषा, घर, जाति-पाति, खान-पान, रहन-सहन, लोकगीत, लोकनृत्यों आदि की झलक मिलती है। हरियाणा की यह धरती प्राचीनकाल से ही पवित्र है। हरियाणा राज्य के कुरुक्षेत्र जिले में 'महाभारत' का युद्ध लड़ा गया और इसी जगह श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। 'सामवेद' की संगीतमयी ऋचाओं की रचना सरस्वती नदी के तट पर हुई। 'कादंबरी' की रचना हरियाणा में बाणभट्ट द्वारा की गई। हरियाणा राज्य की इस पावन धरती पर ही महाकवि 'सूरदास' का जन्म हुआ। पृथ्वीराज चौहान व मुहम्मद गौरी के बीच युद्ध कुरुक्षेत्र जिले के 'तरावड़ी' में लड़ा गया। पानीपत में भी तीन युद्ध लड़े गए। हरियाणा पर आक्रमण करने वाले आक्रमणकारियों का हरियाणा की जनता ने सदैव वीरतापूर्वक सामना किया। इसलिए हरियाणा का लोकसाहित्य बहुत ही प्रसिद्ध है।

प्रो० तेजसिंह कहते हैं कि महाभारत युद्ध के सूत्रधार कृष्ण, कुरुक्षेत्र तक पहुँचने के लिए इस क्षेत्र से गुजरे थे। अतः उनके आगमन के उपलक्ष्य में इस प्रदेश का नाम 'हरियाणा' रखा गया। 'हरि' शब्द का अर्थ है कृष्ण तथा 'यान' रथ का सूचक है, अर्थात् कृष्ण का रथ यहाँ घूमा था।¹ हरियाणा की ऐतिहासिकता और नामकरण के हेतुओं के प्रति जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो स्वाभाविक एवं संदर्भ-संपृक्त है। 'हरयाणा', 'हरियाणा' तथा 'हरियाना' के संदर्भ में डॉ० विष्णुदत्त भारद्वाज 'हरि' को 'विष्णु' तथा सूर्य का पर्याय मानकर हरियाणा का नामकरण मानते हैं। हरियाना-हरियाणा वैदिककाल में सूर्योपासक क्षेत्र रहा है और यह पौराणिक काल में चतुर्भुज विष्णु का उपासना-क्षेत्र बन गया। अनंतकाल से कुरुक्षेत्र में जो मेला लगता है, वह सूर्यग्रहण पर ही लगता है। इसके अतिरिक्त कुरुक्षेत्र में विभिन्न तीर्थों पर सूर्य-कुंडों की विद्यमानता इस बात की पुष्टि करती है कि यह क्षेत्र सूर्योपासक था।²

मानव-जीवन पराभव एवं दुःखों की एक लंबी गाथा है। मनुष्य के जीवन में दिन-प्रतिदिन असंख्य दुःख, संकट एवं बाधाएँ आती रहती हैं। हर्षोल्लास या विषाद की घटना

भी मानव-जीवन में निरंतर घटती रहती है अथवा मानव के जीवन में अप्रत्याशित गम या खुशी ही आ जाती है, तो आंतरिक मन में वीण-लहरी झंकृत हो उठती है। मानव के मन से उसकी रसात्मक अनुभूति अनायास फूटने लगती है। एक प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति वह लोकगीत है, जो जनमानस के आंतरिक दिल से पहाड़ी झरने के समान अचानक फूट पड़ता है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने झवेरचंद्र मेघाणी के कथन को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'जिस प्रकार कोई नदी घोर अंधकारमयी गुफा से बहकर आती हो, उसके उद्गम का पता न हो, ठीक यही दशा लोकगीतों की है।'³

लोकगीत, लोक तथा गीत शब्दों के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है 'लोक के गीत।' लोक का अँग्रेजी प्रतिशब्द फोक (**विसा**) है। इस फोक शब्द को मध्ययुगीन अँग्रेजी में विसब कहा जाता था। सामान्यजन को एक शब्द में व्यक्त करने के लिए फोक शब्द का प्रयोग किया गया। अनेक बार फोक का अर्थ गंवार, ग्रामीण (हीन अर्थ में) एवं मूढ़ के रूप में किया गया है, किंतु यह संकीर्ण मनोवृत्ति का ही परिचायक था। लोक शब्द से ही हम लोकसाहित्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति कर सकते हैं। 'प्राचीन भारतीय चिंतकों ने 'लोक' की ओर प्रस्थान करके उसकी क्रियाओं का अनुभव प्राप्त करने का परामर्श दिया है। हमारे यहाँ महाभारत ने लोक को ऊँचा स्थान देकर गौरवान्वित किया है।'⁴ इस प्रकार लोकहृदय की कसक-वेदना, उल्लास और परिहास को समेटता हुए रखता है। लोकगीत जनमानस की भाषा है। हमारे लोकगीत कई शताब्दी पुराने जनभाषा की शक्ति के लिए अब भी लोक के लिए नए-नवेले हैं। लोकगीतों का आविर्भाव प्रकृति की उत्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ है। मनुष्यों के ही नहीं, वरन् पक्षियों के भी अपने-अपने गीत होते हैं। अतएव लोकगीतों को प्रमुख रूप से प्रकृति की भाषा माना जाता है। हिंदी शब्दकोशों में लोकगीत के तीन अर्थ मिलते हैं—

1. लोक में प्रचलित गीत
2. लोकनिर्मित गीत
3. लोकविषयक गीत⁵

'हरियाणवी लोकमानस की अभिव्यक्ति लोकधर्मी कलाओं, स्वांगों, लोककथाओं और लोकगीतों में हुई है। इनमें सरसता और सोद्देश्यता का अद्भुत संगम होता है। इस प्रकार हरियाणवी लोकसाहित्य मूल्यांकन की दोनों ही सनातन कसौटियों—सरसता और सोद्देश्यता पर खरा उतरता है। हरियाणवी लोकमानस पर जहाँ एक ओर सनातनधर्मी बहुदेववाद, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा का प्रभाव है, वहीं आर्यसमाजी सतर्कता और अद्वैतवादी चिंतन का भी गहरा असर है।'⁶ विभिन्न साहित्यकारों ने अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं, धारणाओं तथा विशेषताओं को मुख्य आधार मानकर लोकगीतों का वर्गीकरण अपने-अपने ढंग से किया है। डॉ॰ सत्येंद्र ने लोकगीतों का वर्गीकरण करते हुए 'उद्देश्य की दृष्टि से अनुष्ठान-संबंधी तथा मनोरंजन-संबंधी दो भागों तथा विषय की दृष्टि से जन्म, मृत्यु, विवाह, व्रत, त्योहार, देवी तथा प्रबंध गीत इत्यादि छः भागों में विभक्त किया है।'⁷ पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम-गीतों का वर्गीकरण निम्न श्रेणियों में किया है—

1. संस्कार-संबंधी गीत
2. चक्की और चरखे के गीत

3. धर्म-गीत
4. ऋतु-संबंधी गीत
5. गीत-कथा
6. खेती के गीत
7. भिखमंगी के गीत
8. मेले के गीत
9. जाति के गीत
10. वीरगाथा
11. अनुभव के वचन⁸

लोकगीतों में रोमांस, कल्पना और शृंगार ही नहीं, बल्कि जीवन-संघर्षों के अनुभवों की मुस्कराहट और टकराहट, खटास और मिठास, अभिसारों का विष और अमृत भी समायोजित है। लोकगीतों में कहीं चेतना और चेतावली है, तो कहीं आदर्श और यथार्थ की भावना। ये गीत पुरातन होते हुए भी हमेशा नूतन होते हैं तथा ये अलोने होते हुए भी सलोने हैं। हरियाणवी लोकगीत तो 'गन्ने की पोरी है, जिसका एक-एक ओर छोर और पोर मीठा ही मीठा है।'⁹

हरियाणा जहाँ संस्कृति एवं वैदिक सभ्यता का अजस्र स्रोत रहा है, वहाँ लोकसाहित्य का भंडार भी इस प्रदेश में कम नहीं है। हरियाणा में लोकसाहित्य के अंतर्गत सांगों का जितना महत्व है, उतना ही महत्व लोकगीतों का भी है। अगर कहीं हरियाणवी लोकमानस की झलक हरियाणवी लोकगीतों में ही सबसे अधिक मिलती है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। लोकगीतों में सबसे बड़ा भाग उन गीतों का है, जो नारी के हृदय से पिघलकर सरिता बनकर बह निकलते हैं। नारी-हृदय के साथ-साथ उसके सामाजिक परिवेश का यथार्थ चित्रण लोकगीतों के माध्यम से ही होता है। हरियाणवी लोकगीतों में व्यवहार, कल्पना और कामना की त्रिवेणी का भी संगम है।

जहाँ नारी को पुण्यशीला एवं पूज्या मानकर भारतीय समाज में उसके उदात्त रूप को और भी निखारा गया है, वहीं उसके जीवन को अभिशप्त एवं तिरस्कृत करने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी है, लेकिन नारी-हृदय कसक को लेकर कसमसाता नहीं, अपितु मुस्कराता है। नारी ने दुःख को अपना संगी-साथी बना लिया है। इसलिए नारी कभी पिता के दुःख से दुःखी, कभी भाई की भर्त्सना से भयभीत, कभी चोट से पीड़ित तो कभी गरीबी से अभिशप्त होती है। वह अपने जीवन में कभी जेठानी से ताड़ित, सास से प्रताड़ित, ननद से निंदित तो कभी देवरानी से दुरभिसंधित, कभी वह अनमेल विवाह के कारण उपहास की पात्र तो कभी पति-वियोग से कातर एवं कभी बाँझपन से बोझिल होती है। नारी अपनी आत्मा के माध्यम से लोकगीतों में ही बोलती है।

नारी के भिन्न-भिन्न रूप भिन्न-भिन्न कालों के साहित्य के चौखटों में रखे गए हैं। नारी की अर्चना की सामाजिक स्वीकृति के बोल वैदिक साहित्य में हैं, तो मध्यकालीन साहित्य में वह भोग्या, तिरस्कृता और कामिनी की उपाधियों से पीड़ित है, परंतु चेतना की पृष्ठभूमि पर गौरवान्वित करने का प्रयास आधुनिककाल में है। लोकसाहित्य की मुख्य विशेषता यह है कि धुरी मानते हुए भी नारी को समाज में सम्मानजनक स्थान नहीं दिया जाता, परंतु विडंबना यह है कि

नारी-कंठ से निःसृत गीत स्वयं ही उसका चिट्ठा खोल देते हैं। लोकगीत और लोकसाहित्य के मुख्य अंगों ने यही सुलझाव किया है। अधिकांश लोकगीत नारी-कंठ से ही सुनाई पड़ते हैं। रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार—‘ग्राम-गीत मुख्यतः स्त्रियों की ही संपत्ति हैं। उन्हें इस पर अधिकार करना ही चाहिए। यह उन अशिक्षित, छंद-रचना से अभिज्ञ, अलंकार आदि काव्यगुणों से अपरिचित देवियों की रचना है, जिसमें न तुलसीदास हुए, न सूर, न बिहारी और न पद्माकर। फिर ललनाओं ने हिंदी के कवियों को चुनौती दी है, मानो सरस्वती ने स्व-जाति का पक्ष लेकर उनके कंठ में बैठकर गान किया है।¹⁰

हरियाणवी लोकगीतों में कन्या-जन्म से लेकर अंतिम दशा तक के समूचे जीवन के वातावरण को समेटकर रख दिया है। कन्या जन्म से उपेक्षित है और उसके जन्म पर काँसी की थाली नहीं बजती। कन्या के जन्म पर कन्या एवं कन्या की माँ को अनेक गालियाँ निकाली जाती हैं। कन्या को ‘पितलिया निकालने वाली’ (टोटा लाने वाली) समझा जाता है। यौवन-प्राप्ति पर कन्या माता-पिता से आँसू भरी विदाई लेती हुई ससुराल में पति-गृह के प्रथम द्वार पर नई-नवेली होने पर भी सास-ननद द्वारा छुई-मुई तो कहीं सौत द्वारा पीड़ित, तो कहीं कीकर की सूल की भाँति सिमटी हुई है और कहीं पर वह कुलटा तो कहीं पर पतिव्रता नारी है। नारी का समूचा जीवन नहीं तो लगभग दो-तिहाई भाग लोकगीतों के माध्यम से हर्ष-शोक, प्यार-दुत्कार, आस्था-अनास्था तथा सधवा और विधवा जीवन की तीव्र अनुभूतियों को लेकर फूट पड़ता है।

प्रस्तुत हरियाणवी लोकगीत में नायिका सात भाइयों की बहन है। पति विदेश में है। सातों भाइयों में से कोई भी भाई ससुराल से लेने के लिए नहीं आया है। जेठानी नायिका को बिन भाइयों की बहन कहकर बोली मारती है। ऐसे आड़े समय में वह देवर को ही सहायक समझती है और अपनी मान-रक्षा का रास्ता ढूँढती है। वह घर में घोर अँधेरा होने के कारण देवर से माचिस एवं तेल दीपक जलाने के बहाने मँगाती है, परंतु देवर के बाहर चले जाने पर तेल छिड़ककर और आग लगा अपने प्राण त्याग देती है। देवर भाभी को यूँ प्राण देता देखकर कुँएँ में गिरकर जान दे देता है—

भाण मेरे सात वीर थे, ए वे सातों गए परदेश
गई न महिना हो लिया, ए मेरे कोई न आए लनिहार
जेठानी सारी बोली मारें, ए तू बिन भाइयाँ की भाण
भूपसिंह देवर बुलाया, ए मँगवाया माचिस तेल
भावज मनै न्युं को बता दे, ए तने क्योँ चाहिए तेल
देवर मैं तो दिवला लगाऊँ, ओ महलां मैं घोर अँधेरा
भूपसिंह पढण डिगरग्या, मनै पाछै तैं छिड़क लिया तेल
भूपसिंह पढ घर आया, ए भावज का जलै स शरीर
देख कै न उल्टा हो लिया, ए कुँएँ में खपा दइ जान,
लोग शाबाशी दे रहे, ए भावज पर खपा दइ जान।¹¹

लोकजीवन और लोकगीतों अनेक किस्से-कहानियाँ पनघट के भी मिलते हैं। दिन-भर की थकान को हल्का करने एवं दुःखों का आदान-प्रदान पनघट पर किया जाता था। आजकल हैंड पंप और वाटर टैंक पनघट की जगह पर आ गए हैं। नई नवेली बहुएँ सज-धजकर पानी लेने

कुएँ पर जाती, साथ में अड़ौसन-पड़ौसन, छोटी-बड़ी ननदें, साथ-सहेली पूरा टोका (टोला) बनाकर गीत गाती हुई पानी भरने जाती थीं। राह-चलते मुसाफिर भी प्यास-बुझाने के लिए पनघट पर आते थे, जिनका वर्णन लोकगीत में इस प्रकार है—

कुएँ की जे पै क्यूँ खड्या हो पतले से सिपाही
हट, भरणं दे नीर, झुकी हो पनिहारी
घूँघट का पट खोल दे रै, पतली सी लुगाई
हवा लागणं दे मेरी जान गात के माँही
घूँघट का पट ना खोलूँ हो पतले से सिपाही
पट खुलेंगे जाय, महल के माँही
पाणी पी ले तावला हो पतले से सिपाही
भोत पड़े सै काम, महल के माँही।

इसी तरह मेरे सिर पर बंटा टोकणी, मेरे हाथ में नेजु डोल, मैं पतली-सी कामड़ी।

एक राह-ए मुसाफिर मिल गया, छौटी एक घूँट पाणीड़ो पिला मैं परदेशी दूर का।

महिलाओं के जीवन में हरियाणवी देहातों में अब भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। वहीं पनघटों की भीड़, सिर पर दोघड़ उठाए दूर-दूर से पानी लाती हुई और गोबर कूड़े का काम करती हुई स्त्रियाँ नजर आती हैं। वे अपनी थकान को हल्का करने के लिए पानी भरकर लाते-जाते और खेत से भरोटा लाते हुए मीठे-मीठे गीतों का सहारा लेना कभी नहीं भूलतीं। इन गीतों का विषय दैनिक जीवन में आने वाली समस्याओं और समाधान पर आधारित है। जैसे—

लिया-लिया हे बहु पाणी की टोकणी, जा पैडी तार दिये
कोन्या ल्याऊँ री सासड़ पाणी की टोकणी, के नाहवै भरतार मेरा।
लिया-लिया हे बहु मेथी का भरोटा, जा घेरा में गेर दिये
कान्या ल्याऊँ री सासड़ मेथी का भरोटा के घेरां में काम मेरा?
ना आ रहया री मेरा माँ जाया बीरा, ना बैठा भरतार मेरा
पोले-पोले ही बहु दोफाहरे की रोटी, जीमै देवर-जेठ तेरा।
कोन्या पोऊँगी सासड़, दोफाहारे की रोटी, के जीमै भरतार मेरा,
आई-आई हे बहु बारा आली गाड़ी,
इब उतरै नंदलाल मेरा, इब उतरै भरतार तेरा।
इब ल्याऊँ री सासड़ मेथी का भरोटा, इब पोऊँगी सासड़ दोफाहरे की रोटी,
इब ल्याऊँ री सासड़ पाणी की टोकणी,
इब न्हागा, इब जीमै भरतार मेरा,
इब घेरां में काम मेरा।

हरियाणवी लोकगीतों में लड़के की शादी में जब लड़का बारात लेकर ससुराल चला जाता है। दूल्हे की बहन जो दूल्हे का आरता करती है। वह अपने भाई के तेल-बान वाले कपड़े पहनकर दूल्हा बनती है, और भाभी जो दूल्हे की आँखों में काजल डालती है, वह दुल्हन बनती है। जो वधू-पक्ष के घर में कार्यक्रम होता है, वही कार्यक्रम कुशलतापूर्वक वर के घर में किया

जाता है, जिसे 'टूटां-टांटी' बोला जाता है। तदुपरांत मोहल्ले की कोई समझदार औरत मटके में मुँह देकर बारात में गए हुए लोगों का नाम लेकर इस प्रकार बोलती है—

ऐ माँ के तो मेरो ब्याह करवादे, नहीं तो मैं फलाणां की बहू नै लै कै भा जाऊँगों।
माँ बोलती है—वा तो सुथरी घणी से मेरा लाल, तेरी ऊँकी ना बणै।

इसी प्रकार—

मेरो ब्याह करादे मेरी माँ, नहीं तो बदड़अ की भाण नै लै कै भाग ज्याऊँगो।

वा तो चालू घणी सै मेरे लाल, तेरी ऊँकी ना बणै।

हरियाणवी लोकगीतों के अंतर्गत फेरों पर गाए जाने वाले मंगल गीत इस प्रकार हैं—

पहलो फेरो लियो म्हारी लाडो, दादा की पोतडिया,

दूजो फेरो लियो म्हारो लाडो, बाबुल की बेटडिया,

सातवों फेरो लियो म्हारी लाडो, हुई है पराई।

सातों फेरों के मंगलाचार गीत गाए जाने के उपरांत विदाई के गीत भी गाए जाते हैं—

साथण चाल पड़ी, मेरा डब-डब भर आया नैन,

छोड्या बाबुल का घर-बार, चाल्यी सुसरा कै दरबार।

नकली विवाह के नाटक के साथ-साथ महिलाएँ ज्यों-ज्यों रात गहराती है, त्यों-त्यों अश्लीलता की हदें भी पार करती जाती हैं। यौवन पर गाए जाने वाले वे सब लोकगीत जिन पर पैर थिरक उठते हैं जैसे—

मेरी पसली म्ह दर्द उट्यो री मेरी माँ
कहो तो बेटी थारे सुसरा नै बुला द्युँ
नहीं री मेरी माँ, नहीं री मेरी माँ
उस बूढलिया को काम नहीं री मेरी माँ।

इसी प्रकार—

सपेला बीन बजादे र चलूँगी तेरे साथ।

हरियाणवी लोकगीत न केवल जीवन में हर पल गुंजायमान रहते हैं, बल्कि सुनने वाले के मन में प्रवेश कर जाते हैं और सुनने वाला दुनियादारी के कष्ट, संकट एवं दुःखों को भूलकर उनकी मस्ती के आनंद में डूब जाता है। जैसे—

हमने बुलाए सुथरे-सुथरे, भूँडे-भूँडे आए री

हमने बुलाए लंबे-लंबे, छोटे-छोटे आए री

हमने बुलाए गोरे-गोरे, काले-काले आए री

हमने बुलाए कोट में, पाजामे में आए री

हमने बुलाए हाथियों पर, गधों पर आए री।

हरियाणा में महिलाएँ पुरुषों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर काम करती हैं। घर हो या चाहे खेत, हरियाणा में स्त्रियाँ पुरुषों की छाया की तरह काम करती दिखती हैं। हरियाणवी दंपती खेतों में चल रहे लोकगीत का आनंद लेते हैं। जैसे—

पाणी पिलादे भरतार,
तिसाई मरगी खेत म्हँ।

कोड्डी होके पीले मेरे नार,
पाणी तो भर रह्या लेट म्हाँ
क्यूकर पिऊं भरतार,
छोरट सै मेरे पेट म्हाँ

हरियाणवी लोकगीतों में स्त्रियों का आधिपत्य रहता है। पारिवारिक व मांगलिक अवसरों पर महिलाएँ सरस व मधुर गीत गाती हैं। जन्म के बाद बेमाता के कान बींधे जाते समय, न्हाण बार व छठी के अवसर पर देवी-देवता के गीत गाए जाते हैं। इसके साथ जच्चा-बच्चा के खान-पान-संबंधी गीत, पालना, घूघरी, पीलिया व जकड़ी आदि गीत गाए जाते हैं। हरियाणा में बच्चे के कुआँपूजन के समय यह गीत गाया जाता है। जैसे—

पीलो तो ओढ़ म्हारी जच्चा, पाणी न चाली,
सारो ही सहर सराह्यो, गाडा मारूजी, पीलो रंगाद्यो जी।

हरियाणवी समाज पर वर्तमान में आधुनिकता हावी हो चली है। इसलिए हरियाणवी लोकगीतों पर भी नारी आधुनिकता ने अपना रंग जमाना शुरू कर दिया है। जैसे—

मैं अँग्रेजी पढ़ गई बालम खाणा नहीं बनाऊँगी
ना चूल्हे पै रखूँ डेकची आँच ना बालूगी
पतली फलकिया पोए बालम ना तुझे खिलाऊँगी
ना चक्की पै रखूँगी पीसणा कोर ना डालूँगी
गोरमेन्ट तै बात करूँगी और तनखाह पाऊँगी
तेरे सा मजूर पलंग बिछावै मैं गद्दा लाऊँगी।¹²

इसी प्रकार लोकगीतों में बन्ने के पहनावे का वर्णन, जैसे—

बन्ना काला कोट सिमाइये री, अंगरेजी बटण लगाइये,
बन्ना पहन कोलिज में जाइये, अपणे दादा जी रा लाडला कहाइये।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जाता है कि 'लोकगीत' शब्द 'लोक' तथा 'गीत' दो शब्दों से मिलकर बना है। लोक अपने आपमें एक व्यापक शब्द है। यह एक ऐसे जनसमुदाय का प्रतीक है, जो निरंतर नगर तथा गाँव में रहता है, जो आधुनिक से अप्रभावित होकर अपनी परंपरा में जीता है। लोकगीत समुदाय के ऐसे गीत हैं, जो व्यष्टि-रचना होने पर समष्टि-रचनाएँ होते हैं, निरंतर परंपरा में प्रवाहित होने के कारण इनमें परिवर्तन होते रहते हैं। इनमें समूचा लोकमानस मुखरित होता है। इनकी प्राचीनता निर्विवाद है। इनका रचनाकाल-निर्धारण संभव नहीं, लेकिन इतना निश्चित है कि इनका इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना कि मानव का।

लोकगीतों का वर्गीकरण विषय, शिल्प तथा समय आदि के आधार पर किया गया है। संस्कार गीत, पर्व गीत, भक्ति गीत, श्रृंगार गीत तथा विविध गीत रूप में वर्गीकरण करने पर यहाँ के प्रत्येक लोकगीत के रूप का बोध होता है। संस्कार गीत, पर्व गीत तथा भक्ति गीत प्रस्तुत अध्ययन की दिशा में विचारणीय है।

संदर्भ

1. प्रो० तेजा सिंह, हरियाणा का इतिहास, पृ० 2

2. डॉ० पूर्णचंद शर्मा, हरियाणा की लोकधर्मी नाट्य परंपरा; (हरियाणा साहित्य अकादमी चंडीगढ़ 1983), पृ० 89
3. रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, ग्रामगीत भाग-3 (नवनीत प्रकाशन, बंबई 1955), पृ० 20
4. डॉ० धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, भाग-1 (ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, वि० संवत् 2020), पृ० 689
5. डॉ० उषालाल, हरियाणा की हिंदी कहानी, (निर्मल पब्लिकेशंस, दिल्ली), पृ० 15
6. डॉ० सत्येंद्र, ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, (साहित्य रत्न भंडार, आगरा 1949), पृ० 106
7. रामनरेश त्रिपाठी, कविता कौमुदी, भाग-5 (हिंदी मंदिर, प्रयाग, 1982), पृ० 45
8. संतराम, सप्तसिंधु, जून-1984, पृ० 18
9. रामनरेश त्रिपाठी, ग्राम गीत, पृ० 5
10. एच०एस० रंधावा, हरियाणा के लोकगीत; पृ० 79
11. हरिगंधा, हरियाणा विशेषांक, पृ० 240
12. वही, पृ० 289

गाँव/डाकखाना-मेहूवाला
वाया-भट्टू कलां
जिला-फतेहाबाद (हरियाणा)
मो० 09813229247

नागार्जुन के उपन्यासों में वर्णित नारी के प्रवृत्ति के आधार पर विविध रूप डॉ० (श्रीमती) रीना

(अ) नारी और उसके विविध रूप

प्रकृति और पुरुष से मिलकर इस विश्व का सर्जन हुआ है। प्रकृति परमात्मा की मनोहारिणी कृति है। सुंदरता की प्रतिमूर्ति प्रकृति ही है। प्रकृति को बोलचाल की भाषा में नारीतत्त्व कहा जाता है, जो मातृत्व धारण किए हुए है। जन्म देने और पालने-पोसने के साथ-साथ व्यक्तित्व का निर्माण करने में उसका ही योगदान सर्वोपरि है। इसी कारण वह पुरुष से श्रेष्ठ है।¹ प्राचीनकाल से ही नारी को जननी कहकर सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

नारी एक है, परंतु उसके रूप अनेक हैं। वह माता, बहन, पत्नी और कन्या के रूप में तो देखने को मिलती है, परंतु समाज में उसके दूसरे रूप भी उपलब्ध हो जाते हैं। इन रूपों में कहीं वह प्रेमिका है, तो कहीं वेश्या। कहीं समाजसेविका है, तो कहीं विलासिनी। कहीं स्वावलंबी, प्रगतिशील नारी है, तो कहीं शोषित और उत्पीड़ित। कहीं घर की चारदीवारी में कैद अशिक्षित रूप में घर की गृहस्थी की भारवाहिका है, तो कहीं समाज की मान्यताओं से विद्रोह करती शिक्षित जागरूक रूप में दृष्टिगत होती है। 'सदैव राष्ट्रों का उत्थान और पतन, धर्मों का अभ्युदय और पराभव, मानव का हास्य और रुदन उसके आँचल से बँधा रहा है। यदि उसकी एक मुस्कान ने चराचर को विमुग्ध किया है, तो उसकी बंकिम दृष्टि ने (रौद्र रूप) सृष्टि के प्रलय की भूमिका भी निभाई है। यदि यह कहा जाए कि एक ओर वह सृष्टि है, दूसरी ओर प्रलय, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। पुरुष, स्त्री के बिना अधूरा है। पुरुष, स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है।'²

(ब) नागार्जुन के नारी-पात्र

नागार्जुन के उपन्यासों में नारी के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। उनके उपन्यासों में एक ओर समाजसेवी, राष्ट्रसेवी, स्वावलंबी और प्रगतिशील नारियाँ हैं, तो दूसरी ओर विलासिनी भी। एक ओर अशिक्षित शोषित नारियाँ हैं, तो दूसरी ओर शिक्षित जागरूक नौकरी करनेवाली नारियाँ हैं। एक ओर पारिवारिक और समाजिक दृष्टि से प्रशंसनीय माता, बहन, पत्नी और कन्या हैं तो दूसरी ओर समाज को प्रदूषित करनेवाली वेश्या आदि। इन सभी का वर्णन निम्नलिखित रूप में मिलता है। प्रवृत्ति के आधार पर नारी के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

(क) प्रवृत्ति के आधार पर

प्रवृत्ति का अर्थ है—(प्र+वृत्+वितम), झुकाव, रुझान, रुचि, आचरण, व्यवहार आदि।³

समाज में रहनेवाले विभिन्न प्राणियों की भिन्न-भिन्न रुचि और व्यवहार होता है। नारी भी इसका अपवाद नहीं, अपनी परिस्थितियों और रुचियों से प्रेरित वह भी विभिन्न रूपों को धारण करती रही है। कभी वह समाज ओर राष्ट्र की सेवा करके अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देती है, तो कभी परिवार की आर्थिक-दयनीय स्थिति के सुधार हेतु नौकरी की कामना करती हुई स्वावलंबी बन जाती है। इन सबसे परे कभी-कभी परिस्थितिवश वह विलासिनी रूप धारण कर लेती है और समाज में निंदा का पात्र बनती है। नागार्जुन के उपन्यासों में इन सभी रूपों की झाँकी अंकित की गई है, जो निम्नलिखित है—

1. समाजसेवी नारियाँ

नारी समाज का अभिन्न अंग है। समाज के उत्थान-पतन में उसका भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद स्त्रियों की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। उनमें पर्याप्त सामाजिक जागरूकता उत्पन्न हुई है। परिणामस्वरूप अब वे घर की चारदीवारी में बंद न रहकर समाज के विविध कार्यों में सहयोग दे रही हैं, जिससे उनका समाजसेवी रूप मुखर हुआ है। नागार्जुन के उपन्यासों में नारी का समाजसेवी रूप यत्र-तत्र परिलक्षित होता है, जिनमें 'दुख मोचन' की माया, हरखु की माँ, वरुण के बेटे की मधुरी, शन्नी भाभी, हेम, कुसुम कक्कड़ आदि अग्रगण्य हैं।

'दुःखमोचन' में माया समाजसेविका के रूप में गाँव में आग लगने पर दुखमोचन के साथ मिलकर गाँव के उत्थान में पूर्ण सहयोग देती है। यहाँ तक कि अपनी ससुराल वालों को भी इस कार्य के लिए प्रेरित करती है और गाँव की सहायता हेतु उनसे झोपड़ियाँ बनवाने के लिए दो सौ बाँस, दस पेड़ शीशम के और तुन के चार पेड़ कटवाकर देती है। पिछले दो हफ्तों से दुखमोचन और उसके साथियों के साथ-हाथ बटा रही है। वेणीमाधव और कपिल से रत्तीभर भी कम मेहनत नहीं की है इस लड़की ने।⁴ इसी उपन्यास की हरखु की माँ बेटे द्वारा भेजे गए पच्चीस रुपए का मनीआर्डर आ जाने पर सरकार से मिलने वाली सहायता को दूसरों के लिए समर्पित कर देती है। वह दुखमोचन से स्पष्ट कह देती है—'सरकार, पच्चीस रुपया मनीआर्डर आया है आज, अब मैं हाट-बाजार से अनाज खरीद लाऊँगी। यह गेहूँ किसी दूसरे को दीजिएगा मालिक!' हरखु की माँ का यह ईमान देखकर दुखमोचन दंग रह गए और बोले—'नाम तो अब दर्ज हो चुका है, कौन वापस लेगा? ले जा अपना अनाज तू।' इस पर वह कहने लगी 'दुहाई मालिक की! दुहाई सरकार! यह अनाज वापस रख लीजिए। यह मामूली गेहूँ नहीं है कि आसानी से हजम होगा धरम का अनाज है मालिक! अब इस वक्त मैं झूठ कैसे कहूँ कि हमारे घर में कुछ नहीं है। पच्चीस रुपया है हाथ पर, दो पौने दो मन गेहूँ हुआ सरकार! तो झूठ-मूठ में कैसे कहूँ कि छटाँक-भर भी दाना नहीं है घर में।'⁵

वरुण की बेटे की मधुरी में समाजसेवी स्त्री का रूप पूरी तरह परिलक्षित होता है। वह मछुआवर्ग और जमींदारी वर्ग के संघर्ष में अपना पूरा अस्तित्व बनाए हुए है। वह किसी भी कार्य से पीछे नहीं हटती। बाढ़ आने पर पुल-निर्माणकार्य में अपना पूरा योगदान देती है। मछुआवर्ग और जमींदारी वर्ग के संघर्ष के उपरांत गिरफ्तारी देने में भी उसने अपनी पूर्ण भूमिका निभाई है। उसका यह परिचय उसे एक सच्ची, समाजसेवी नारी के रूप में प्रस्तुत करता है। इसी उपन्यास में लख्खीसराय की शन्नी भाभी, कहलगाँव की कामरेड अपर्णा और पुरुषोत्तम पाठक की पत्नी हेम

किसान सभा के उद्देश्यों और कर्तव्यों का प्रचार और प्रसार करने के लिए मलाही गाँव में आई थी। प्रचार करने के साथ-साथ किसान सभा की मदद के लिए भी उन्होंने पाँच मन चावल, ढाई मन महुआ, तीन मन मकई, छः पसेरी अरहर, पाँच पसेरी चने, तिरासी रुपए का सहयोग किया। इस कार्य में मधुरी ने भी उनका हाथ बँटाया और गाँव में घूम-घूमकर गाँव की कार्यविधि को समझाया। इसी उपन्यास में बाढ़ग्रस्त इलाके में चिकित्सा सहायता हेतु पटना मेडिकल कालेज की टीम को गाँव में अपनी टीम के साथ मिलाकर गाँव में मुफ्त चिकित्सा-कार्य किया। दो रोज वह गढ़ पोखर कैम्प में रही और गाँव के निर्धन लोगों को मुफ्त दवाइयाँ आदि देकर उनकी बीमारी का इलाज किया।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से ज्ञात होता है कि नागार्जुन के नारी-पात्र समय-समय पर समाज की सेवा करके अपने सुदृढ़ मानवीय चरित्र का परिचय देते हैं।

2. राष्ट्रसेवी नारियाँ

विभिन्न वर्ग, वर्ण, जाति, धर्म और संप्रदाय का समष्टि रूप है राष्ट्र! समाज की सेवा ही शनैः-शनैः विकसित होकर राष्ट्रसेवा में परिवर्तित हो जाती है। नागार्जुन के नारी-पात्रों में राष्ट्र-सेवा की भावना कूट-कूटकर भरी हुई है। इसका प्रत्यक्ष रूप 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास की पात्र गौरी में देखने को मिलता है।

'रतिनाथ की चाची' में गौरी एक राष्ट्रसेवी नारी है। जमींदार लोग जब गरीबों का शोषण कर रहे थे तो किसानों ने संगठित होकर कुटी का निर्माण किया, जिसमें सभी ने कुछ-न-कुछ दान किया। किसी ने लोटा-थाली दी, तो कुम्हारों ने घड़े, तौले, कड़ाई आदि दान कीं। गौरी ने भी अपना दो साल पुराना कंबल दे दिया। उसके पास दूसरा कंबल नहीं था। रतिनाथ ने मना किया तो बोली—'यह दस का काम है। देश का काम है। गरीबों का यज्ञ है। मेरे पास है ही क्या, जो दूँगी।'⁶ यह गौरी की राष्ट्रसेवा का अप्रतिम उदाहरण है।

3. प्रगतिशील नारियाँ

प्रगति का अर्थ है—आगे बढ़ना, उन्नति करना। समाज व परिवार में रहकर जिन नारियों ने निरंतर उन्नति की दिशा में अपने कदम बढ़ाए, उन्हें प्रगतिशील कहा जाएगा। नागार्जुन के अनेक नारी-पात्र इसी कोटि के हैं, जिनमें 'नई पौध' की बिसेसरी, 'बूलों' की भाभी, 'हीरक जयंती' की मंजुमुखी, 'उग्रतारा' की उगनी और 'नर्मदेश्वर' की भाभी 'गरीबदास' की दीपासिंह व माया प्रमुख हैं। नई पौध की बिसेसरी साठ वर्षीय चतुरानन चौधरी से अपने विवाह का प्रसंग सुनकर चिंतित हो उठती है और विरोध करते हुए अपनी व्यथा बूलों की भाभी को बताती है। उसकी करुण कथा को सुनकर वह उसकी सहायता करती है और विवाह को रोकने की योजना बनाती है। इस कार्य में उसका सहयोग उसका देवर बूलो और उसके साथी देते हैं और विवाह को रोकने में सफलता प्राप्त करते हैं।

'हीरक जयंती' में मंजुमुखी, जो दर्जा चार तक पढ़ी-लिखी थी, पति की मृत्यु के पश्चात पदों से बाहर निकली और राजनीति में प्रवेश किया। क्रांतिकारियों को ठिकाने के अभियोग में तीन महीने जेल में रही, किंतु अब 'बाबू जी की दया-दृष्टि से देवी जी का विकास अभिनेत्री के रूप में होने लगा। अभिनेत्री? जी हाँ, अभिनेत्री! लेकिन फिल्मलोक की नहीं, सत्तारूढ़ राजनीतिक दल की, उसके भी गुट-विशेष की, जिसके अन्यतम हीरो थे बाबूजी! ईट,

पत्थर-सूखी-चूना मजदूर, यूनियन, छपाई कारागार संघ, दाई-आया एसोसिएशन आदि कई संगठनों की अध्यक्षता हैं देवी जी! महिला मंगल समाज की जनरल सेक्रेटरी हैं। कुछ ज्यादा पढ़ी-लिखी रहतीं, तो अवश्य ही अब तक डिप्टी मिनिस्टर हुई होतीं।⁷

‘उग्रतारा’ की उगनी भी पचास वर्षीय सिपाही भीखनसिंह, जिससे उसका जबरदस्ती विवाह किया गया था, को छोड़कर अपने पूर्व प्रेमी कामेश्वर के पास चली जाती है और अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देती है। इसी उपन्यास में नर्मदेश्वर की भाभी मैट्रिक पास और युगोचित संस्कारों से परिपूर्ण है। वह ‘चाबुक फटकारकर अपने देवर एवं उसके साथियों की चेतना को झकझोर देती थी, किंतु अपना कोई निर्णय उन पर नहीं ठोकती थी।⁸ भाभी को गाँव की बहु-बेटियाँ अपनी गुरुआइन मानती थीं। गाँव के कुछ लोग तो उसे विधायिका जी कहा करते। उगनी को अक्षरों का ज्ञान कराने और दूसरी शादी के लिए तैयार करने का श्रेय भाभी को ही था।

‘गरीबदास’ में दीपासिंह कन्या गुरुकुल में पढ़ी-लिखी और माँ के स्नेह और अपनी प्रगतिशीलता के कारण दूसरी शादी से मना करती रही। और अब ‘स्त्री शिक्षा और समाज संस्कार’ के कामों में अपनी दिलचस्पी के लिए बड़ी लोकप्रिय हो रही थी। एक बार पूर्वी जर्मनी, दो बार बल्गारिया और एक बार क्यूबा देखने का मौका मिल चुका है।⁹

इस प्रकार नागार्जुन के उपन्यासों में नारी-पात्रों की प्रगतिशीलता अनेक रूपों से मुखर हुई है।

4. स्वावलंबी नारियाँ

जिन नारियों में पारिवारिक एवं सामाजिक प्रताड़नाओं के परिणामस्वरूप आत्मनिर्भर बनने का भाव जाग्रत हुआ, उन्हें स्वावलंबी माना जाएगा। नागार्जुन के नारी-पात्रों में कुछ अपनी शिक्षा-दीक्षा के कारण पहले से ही आत्मनिर्भर हैं, तो कुछ आर्थिक एवं व्यक्तिगत कठिनाइयों के कारण आत्मनिर्भर बन जाती हैं।

नागार्जुन के स्वावलंबी नारी-पात्रों में ‘रतिनाथ की चाची’ की गौरी और उसकी माँ, ‘वरुण के बेटे’ की मधुरी, ‘नई पौध’ की रामेसरी, ‘कुंभीपाक’ की चंपा, उम्मी की माँ, ‘हीरक जयंती’ की योगमाया देवी, ‘जमनिया का बाबा’ की शिवनगर की रानी साहिबा प्रमुख हैं।

‘रतिनाथ की चाची’ में गौरी की माँ विधवा होते हुए भी खेती-बाड़ी का काम स्वयं अपनी देख-रेख में करवाती है। अपने पुत्र जयकिशोर को उसने कभी खेती में नहीं उलझाया। जिसके परिणामस्वरूप वह आज मोतीहारी के स्कूल में हेडमास्टर है। सबसे पहले इन्हीं के खेतों में फसल लगाई जाती और काटने में भी पहल इन्हीं की होती। गौरी की माँ ‘वास्तव में नारी के रूप में पौरुष का अवतार थी’¹⁰ विधवा और वृद्ध होते हुए भी यह सब कार्य करना उसके साहस और स्वावलंबी होने का ही प्रतीक है। इसी प्रकार विधवा गौरी भी चरखा चलाकर अपनी आजीविका का साधन जुटाती हैं और अपने जीवन का निर्वाह करते हुए अपने पुत्र उमानाथ के विवाह में भी दो सौ रुपए का सहयोग देती है।

‘वरुण के बेटे’ की मधुरी अपने पिता की आर्थिक सहायता करते हुए खाँचे में मछलियाँ भरकर आस-पास के गाँव में बेचने का कार्य करती और उन पैसों से घर का सामान और बीमार माँ की दवाइयाँ ले आती। उसके इस कार्य से माता-पिता कोई बहुत खुशी मिलती।

माधुरी का यह रूप देखकर उसके माता-पिता गर्व का अनुभव करते।

‘नई पौध’ की रामेसरी पति की मृत्यु के पश्चात् अपने पिता के घर में रहती और अपना व अपनी पुत्री के जीवनयापन के लिए वह ‘चर्खा चलाकर दस बारह रुपए महीना कमा लेती थी। अन्न-वस्त्र के लिए अभी माँ-बाप जीवित थे। लड़की के लाड़-प्यार के लिए और दूसरी जरूरतों के लिए सूत बेचकर हासिल की हुई यह रकम काफी थी।¹¹

‘कुंभीपाक’ में चंपा वेश्यावृत्ति को त्यागकर अपना व्यवसाय ‘गृह शिल्प कुटीर उद्योग’ के नाम से शुरू करती है। जिसमें मौजे बुनना, सिलाई करना, अचार व पापड़ बनाने का कार्य करती है और साथ-ही-साथ सेकंड हैंड टाईप मशीन खरीदकर उस पर टाइप करते हुए अपने स्वावलंबी होने का परिचय देती है। इसी उपन्यास में उम्मी की माँ के दर्शन स्वावलंबी नारी के रूप में होते हैं। वह सिलाई करना जानती है और पास पड़ोस के कपड़े लाकर और उन्हें सिलकर वापस दे आती। इस प्रकार वह अपनी आजीविका का साधन जुटाती है।

‘हीरक जयंती’ में पंडित शिवदयाल पाठक की पुत्री योगमाया देवी, पितृगृह में रहते हुए ‘बुनियादी महिला शिल्पशाला’ नाम से संस्था का संचालन करती है।

‘जमनिया का बाबा’ में शिवनगर की रानी साहिबा मठ को आर्थिक सहायता प्रदान करती है। उसकी सूझ-बूझ का लोहा सब मानते हैं वह मठ के लिए दो बार भंडारे का आयोजन करती है। सेठ भूरामल को इसलिए झाड़ती है, क्योंकि उसने बाबा और मठ के विषय में अन्य लोगों के सामने उल्टा-सीधा कह दिया था। वह चेतावनी देते हुए कहती है—व्यापारी वर्ग से मेले की तैयारी और मठ के अन्य कार्यों के लिए अब कोई सहायता न ली जाएगी। सारा खर्च इस बार शिवनगर स्टेट की रानी साहिबा की तरफ से होगा।

इन विविध नारी पात्रों द्वारा उपन्यासकार ने नारी के स्वावलंबी रूपों की छवि अंकित की है।

5. विलासिनी नारियाँ

विलासिनी का अर्थ है—भौतिक सुख-सुविधाओं से संपन्न भोग-विलास में डूबी शृंगार-प्रिय नारी। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में इस श्रेणी के नारी-पात्रों का भी चित्रण किया है, जिनमें ‘रतिनाथ की चाची’ की सुशीला, चंद्रमुखी, दमयंती, ‘बलचनमा’ में सुखिया, ‘कुंभीपाक’ में विमला, और शीला, ‘हीरक जयंती’ की मंजुमुखी, ‘जमनिया का बाबा’ में गौरी आदि नारियाँ प्रमुख स्थान रखती हैं।

‘रतिनाथ की चाची’ की सुशीला बाल-विधवा होने पर भी खत्री दुकानदार के घर की मालकिन बनी हुई है। मौज-मस्ती, सिगरेट पीना, और नए-नए पुरुषों के साथ सिनेमा देखना उसका स्वभाव है। जयनाथ से संपर्क होने पर वह उसे भी अपने जाल में फँसा लेती है। एक दिन कीमती चूड़ियाँ उसके हाथों में देखकर जयनाथ ने इन चूड़ियों के विषय में पूछा तो वह कहने लगी, ‘मेरे जितने मित्र बनते हैं, उतनी बार मैं चूड़ियाँ पहनती हूँ और फोड़ती हूँ।¹² इसी उपन्यास में चंद्रमुखी, जो धनी माँ-बाप की इकलौती बेटी है। प्यार से माँ उसे फुदनी कहती है और ससुराल में चंद्रमुखी कहलाई। विधवा होते हुए भी ‘सोने चाँदी की चूड़ियाँ पहनने से उसे कौन मना करेगा? खान-पान, ओढ़न-पहिरन सभी में चंद्रमुखी बदलती ऋतुओं के मुताबिक रुचि-वैचित्र्य का ध्यान रखती थी।¹³ विधवा होने पर भी वह अपनी जेठानी के भाई विधुर

जयनाथ पर आसक्त थी। दमयंती फूफी जिसे गाँव की स्त्रियाँ अपनी सरपंच मानती थीं, गाँव की अच्छाइयों और बुराइयों की वह ठेकेदार थी। बाल-विधवा होते हुए भी वह बन-सँवरकर रहना और दूसरों में छिद्रान्वेषण करना उसका स्वभाव था। उसकी बाल-वैधव्य की रंगीनियों का सबको पता था। फिर भी कुछ कहने का साहस कोई नहीं रखता था।

‘कुंभीपाक’ में विमला और शीला आधुनिक नारी हैं। पाश्चात्य प्रभाव के कारण हर समय अपने को अलग दिखाने की कोशिश करती हैं। कभी सलवार-कमीज, कभी फ्रॉक, कभी साड़ी, सब फैशन के अनुसार बदलती रहती हैं। तिलकधारी दास उन्हें अपनी दूर की रिश्तेदार कहकर गाँव से शहर लाया है। कभी दास जी के साथ आधी-आधी रात तक घूमती रहती हैं। कभी कार छोड़ने आती है तो कभी जीप। एक दिन मकान मालिक सुमंगल ड्राइवर से इनके विषय में पूछता है। तो वह बताता है कि ये अमीर पुरुषों को आकर्षित कर उनसे अपना काम निकलवाती हैं और ‘इन्हीं लड़कियों की बदौलत तिलकधारी दास की दो तीन किताबें मंजूर होने जा रही थीं।¹⁴

‘हीरक जयंती’ में मंजूमुखी ‘फैशन की दृष्टि से युवती, उम्र के लिहाज से परम प्रौढ़ा, खादी की साड़ी नागपुरी किनारियों वाली। सादी सफेद ब्लाऊज, चौड़ा, चेहरा, कमल पत्री आँखें, ऊँची नाक, गेहूँआ सूरत, काले बालों का जूड़ा।¹⁵ मंजूमुखी पैतालीस से ज्यादा की उम्र होने पर भी फैशन की तरफ पूरा ध्यान रखती है। पति की मृत्यु के बाद भी वह बाबू नरपत नारायण के साथ घूमती नजर आती है। उन्हीं की बदौलत वह राजनीति की ओर अग्रसर हुई और कारों की सैर करती है। राजनीतिक पैतरी खेलने में मंजूमुखी को महारत हासिल है। कैसा भी काम हो वह बाबूजी की छत्रछाया में करवा ही लेती है। बाबूजी की उस पर विशेष कृपा है। मंजूमुखी की मुस्कान पर बाबू नरपत नारायण कुर्बान हैं। एक दिन बाबूजी मंजूमुखी को पेटीकोट और ब्रेसरी में देखकर कितना मुस्कराते थे। बाबूजी कहते हैं, ‘अगर तुम नहीं होतीं तो मैं टूट जाता।’¹⁶

‘जमनिया का बाबा’ में गौरी बाबा के साथ मठ में रहती है और उसके अनेक अनैतिक कार्यों में सहयोग देती है। गौरी का परिचय देते हुए इमरतिया कहती है गौरी तो थी ही छिनाल। वह साल-साल में दो तीन मर्द बदलती थीं। वह उन मर्दों का बुरी तरह पीछा करती थी, जो डील-डौल के तगड़े होते थे।गौरी खुलेआम कहा करती, ‘मैं डायन हूँ कच्चा चबाने के लिए मुझे आदमी चाहिए और हमेशा चाहिए। दस साल का लड़का हो तो भी चलेगा सत्तर साल का बुढ़ा हो तो भी चलेगा।’¹⁷ अमीर घराने के पुरुषों को अपने जाल में फँसाकर उनसे रुपया-पैसा ऐंठती। थानेदार सादुल्ला खाँ को शांत करने के लिए गौरी को ही उसकी सेवा में भेजा जाता था। वह दो-तीन दिन उसके साथ गुजारकर आई। जिसके परिणामस्वरूप थानेदार उससे बहुत प्रसन्न हुआ और सारा मामला रफा-दफा कर झूठी रिपोर्ट तैयार कर दी गई।

यहाँ नारी की दुर्बलता का संकेत करते हुए नागार्जुन ने विलासिनी रूप का स्वाभाविक चित्रण किया है।

नागार्जुन के उपन्यासों में नारी के विविध रूपों का अध्ययन करने के उपरांत कह सकते हैं कि उनकी नारियाँ एक ओर समाज-सेवी, राष्ट्रसेवी, स्ववलंबी और प्रगतिशील हैं, तो दूसरी ओर विलासिनी भी। उनकी नारियाँ घर के काम-काज के साथ-साथ अपनी रोजी-रोटी का साधन जुटाने के लिए भी निरंतर प्रयासरत दिखाई देती हैं। ये नारियाँ परिस्थितियों से हार मानकर

थककर बैठने वाली नहीं, अपितु निरंतर आगे बढ़नेवाली और समाज में अपनी प्रतिष्ठा कायम करनेवाली है। उपन्यासकार ने नारियों के इन विविध रूपों को बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। उन्होंने एक ओर नारी की सशक्तता के चित्र उपस्थित किए हैं, तो दूसरी ओर उनकी दुर्बलता के भी। इन नारियों को बड़े-बड़े संघर्षों में डालकर उन्होंने अंत में इनमें नैतिक मान्यताओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आस्था जाग्रत की है। सेवा, सद्भाव, कर्तव्य-परायणता तथा सच्चरित्रता पर बल देते हुए वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा ही उपन्यासकार का इष्ट रहा है।

संदर्भ

1. हिंदी व्यंग्य साहित्य में नारी, डॉ० शैलजा माहेश्वरी, पृ० 43
2. आधुनिक हिंदी कहानी में वर्णित सामाजिक यथार्थ, डॉ० ज्ञान चतुर्वेदी, पृ० 101-102
3. संस्कृत हिंदी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 675
4. नागार्जुन संपूर्ण उपन्यास खंड दो, दुखमोचन, पृ० 96
5. वही, दुखमोचन, पृ० 96
6. वही, रतिनाथ की चाची, पृ० 168
7. नागार्जुन संपूर्ण उपन्यास खंड एक, हीरक जयंती, पृ० 133
8. नागार्जुन संपूर्ण उपन्यास खंड दो, उग्रतारा, पृ० 317
9. वही, गरीबदास, पृ० 477
10. वही, रतिनाथ की चाची, पृ० 181
11. वही, नई पौध, पृ० 274
12. वही, रतिनाथ की चाची, पृ० 162
13. वही, रतिनाथ की चाची, पृ० 162
14. वही, कुंभीपाक, पृ० 387
15. नागार्जुन संपूर्ण उपन्यास खंड एक, हीरक जयंती, पृ० 179
16. वही, हीरक जयन्ती, पृ० 155
17. वही, जमनिया का बाबा, पृ० 387-388

सुपुत्री श्री पहलसिंह
ग्राम व पो० पिलखनी
जिला सहारनपुर, (उ०प्र०) 247232

नागार्जुन के आंचलिक राजनीतिक उपन्यास

डॉ० (श्रीमती) रीना

(क) नागार्जुन के आंचलिक उपन्यास

नागार्जुन ने बिहार के विशेष ग्रामांचल को आधार बनाकर उपन्यास लिखे। इनके सभी उपन्यासों में इस प्रांत-विशेष का सांस्कृतिक स्वरूप आदि से अंत तक परिलक्षित होता है। वहाँ के जनजीवन, राजनीति, आर्थिक व्यवस्था तथा सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन इनके उपन्यासों में स्वाभाविक रूप से हुआ है। अंचल-विशेष को आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाता है आंचलिक उपन्यास को। इस दृष्टि से नागार्जुन आंचलिक उपन्यासकार की श्रेणी में आते हैं और इनके उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में। नागार्जुन प्रथम आंचलिक उपन्यासकार माने गए हैं, जिन्होंने बिहार के एक विशेष ग्रामांचल को आधार बनाकर वहाँ के समाज तथा राजनीति की अनेक समस्याओं को चित्रित किया है।

(ख) आंचलिकता का अभिप्राय

आंचलिक साहित्य का अभिप्राय है अंचल या विशेष क्षेत्र को आधार बनाकर रचा गया साहित्य। 'जिन उपन्यासों में सभी उपकरणों का दृष्टि-केंद्र या प्रकाशन-लक्ष्य अंचल या परिसीमित क्षेत्र विशेष को अपनी सर्वांग-संपूर्ण यथार्थता में उभरना हो जाता है, आंचलिक उपन्यास कहे जाते हैं।'¹

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार, 'अंचल से तात्पर्य उस भूमिखंड, देश अथवा किसी सीमा तक परिभाषित भाग से है, जो कुछ प्राकृतिक आकारों, जलवायु-संबंधी दशाओं, विशेष जीव या वनस्पति आदि के कारण विभिन्नता रखता है।'²

प्रकाश वाजपेयी के शब्दों में, 'यथार्थवादी दृष्टि से एक सीमित अंचल के असाधारण विवरणों को प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास आंचलिक है। अंचल किसी नदी पर बसे हुए ग्राम अथवा कतिपय ग्रामों का समूह जिनकी बोली, भाषा एक हो, जिनके आमोद-प्रमोद एवं उत्सव एक हों, त्योहार एक हों, जिनके विवाह आदि मांगलिक अवसरों के गीत एक हों, जिनके ग्रामदेवता, कुलदेवता प्रायः एक हों, इस प्रकार के एक परिवेश की आत्मा जिस उपन्यास में साकार हो उठे, उसे आंचलिक उपन्यास कहा जाएगा।'³

राजनाथ पांडेय के अनुसार, 'प्रत्येक भूमि-भाग की मिट्टी की एक खास महक होती है और उस मिट्टी में पनपी हुई वनस्पतियों के पत्ते-पत्ते और फूल-फूल में एक विशेष गंध होती है। उसी के अनुरूप वहाँ के समस्त जीवधारियों, मानव-प्राणियों में भी अपनी एक अलग मनःस्थिति या गंध होती है, जो किसी अन्य भूमिभाग में उगे हुए फूल-पत्तों और प्राणियों की गंध से भिन्न होने के कारण अपनी एक अलग विशिष्टता रखती है। यह गंध उस देश के निवासियों की भाषा, आचार-विचार तथा मानसिकता में प्रतिबिंबित होती है।'⁴

(ग) आंचलिक उपन्यासों के दो वर्ग

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में एक ओर बिहार प्रदेश के अंचल-विशेष के समाज की विभिन्न समस्याओं का चित्रण किया है, तो दूसरी ओर उनमें राजनीतिक चेतना का उभरा हुआ रूप मिलता है। गाँव की विभिन्न परंपराओं, अंधविश्वासों, कृषक-जीवन की गतिविधियों, जमींदारों के शोषण, धार्मिक अत्याचारों, पाखंडी चरित्रों, भ्रष्टाचार और क्रूरता आदि के अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं। इस दृष्टि से उनके उपन्यासों के दो वर्गों में रखा जा सकता है—1. राजनीतिक उपन्यास 2. सामाजिक उपन्यास

राजनीतिक उपन्यास

राजनीति समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है। समाज के निर्माण में तथा व्यक्ति के उत्थान-पतन में राजनीति का विशेष योगदान रहा है। रक्त संबंध से समाज की सृष्टि होती है, तो समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा राजनीति को जन्म दिया जाता है। समाज में शांति व्यवस्था द्वारा सामाजिक संबंधों का नियमन किया जाता है जिससे राजनीतिक चेतना का उदय होता है।

उपन्यासों के विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में राजनीति का अभिप्राय ग्राम अथवा नगर की मूलभूत स्थितियों, प्रभुत्व, शक्ति तथा शासन सिद्धांतों के साथ-साथ वर्तमान, भूत भविष्य के विविध क्रिया कलापों से है। शासन और समाज का अटूट संबंध है। इसलिए समाज की व्यवस्था से राजनीतिक हलचलों का सहज ही बोध हो जाता है।

साहित्य समाज के विविध पक्षों के साथ-साथ राजनीति के विविध दौंव-पेचों का भी उल्लेख करता है, क्योंकि समाज की गतिविधियाँ अधिकांशतः राजनीतिक व्यवस्था से प्रभावित होती हैं। राजनीतिक उपन्यास राजनीति से संबंधित विचारधाराओं और घटनाओं को वाणी प्रदान करते हैं।

राजनीतिक उपन्यासों के संबंध में डॉ॰ शशिभूषण सिंहल लिखते हैं—‘राजनीतिक उपन्यास की मूल विशेषता उसकी समसामयिक घटनाएँ, राजनीतिक चरित्र और राजनीतिक विचारधारा ही हो सकती है। राजनीतिक घटनाओं और चरित्र की प्रधानता के कारण जहाँ उसका स्वरूप चरित्र-प्रधान या घटना-चरित्र-सापेक्ष हो सकता है, वहाँ वह राजनीतिक वर्ण्य-वस्तु, देशकाल और उद्देश्य को लेकर भी राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर सकता है।’⁵

नागार्जुन के कुछ उपन्यास शुद्ध राजनीतिक हैं। इनमें शासन-व्यवस्था के विभिन्न दौंव-पेचों, छलकपट, अनीति, भ्रष्टाचार और शोषण के अनेक चित्र उपस्थित हैं। इन उपन्यासों में ‘बाबा बटेसरनाथ’ और ‘हीरक जयंती’ की गणना की जा सकती है।

(अ) बाबा बटेसरनाथ

बाबा बटेसरनाथ नागार्जुन का एक नवीन प्रयोग है। इसमें वटवृक्ष को मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो जैकिसुन को स्वप्न में अपने जन्म की कहानी के साथ गाँव के उत्थान-पतन तथा सामाजिक, राजनीतिक दौंव-पेचों की सच्चाई बताता है। मौजा रूपउली में एक बहुत पुराना वटवृक्ष है। जैकिसुन के परदादा ने इसे लगाया था और जो गाँव के सभी वर्ग के व्यक्तियों के लिए विश्राम-स्थल बन गया था। जमींदारी-उन्मूलन के समय टुनाई पाठक और जयनारायण झा ने राजा बहादुर से बरगद वाली यह जमीन चुपचाप खरीद ली। अब वे उस बरगद को कटवाने का प्रयास करते हैं, परंतु गाँव के लोग इसके लिए तैयार नहीं होते। इसलिए जैकिसुन और जयनाथ मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाकर इस अन्याय का विरोध करते हैं। एक दिन इन्हीं चिंताओं में डूबा

हुआ जैक्सुन थककर वट वृक्ष के नीचे सो गया।

रात को शाखाओं की गहन हरी-भरी झुरमुटों में से बड़े-बड़े सफेद बालों वाला एक विशालकाय मनुष्य निकला, जो बरगद का मानव रूप था। वह जैक्सुन से कहता है, 'बेटा, मैं न तो भूत हूँ न प्रेत। ...मैं तुम्हारे इस बरगद बाबा का अवतार हूँ, डरने की जरूरत नहीं।' और वह जैक्सुन को सौ साल पूर्व की कहानी सुनाने लगता है। अँग्रेजी शासन की कुचक्रपूर्ण, दमनकारी नीति को बताते हुए कहता है कि अँग्रेज भारत में व्यापार करने के उद्देश्य से आए थे और भारतीय जनता का अत्याचार करने लगे। अँग्रेजों ने चाय के बागानों, जूट, चीनी के कारखानों और नील की खेती पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। अँग्रेजों की शोषण नीति का परिचय देते हुए बाबा बटेसरनाथ कहते हैं, 'तेरे दादा के जमाने में यहाँ से कोस भर की दूरी पर पूरब में एक साहब आकर बस गया। क्या ही शानदार कोठी बनवाई थी उसने। महाराज बहादुर से दो सौ एकड़ जमीन सौ साल के पट्टे पर नील की खेती के लिए उसको मिली थी। दुमका की तरफ से मुसहडों के पचास परिवार वह ले आया, कोठी के दक्खिन में उनकी बस्ती आबाद हो गई। उन्हीं लोगों से साहब नील की खेती कराता था। वे उसके गिरमिटिया मजदूर थे। वह उनका पूरा मालिक था—मेहनत का भी, जान का भी, माल का भी। उन दिनों गोरों का आम लोगों पर भारी आंतक था...सभी जगह गोरी चमड़ी वालों की तूती बोलती थी।' अँग्रेजों ने भारत को लूट-लूटकर खोखला कर दिया था और ब्रिटेन को मालामाल कर रहे थे। वह महारानी विक्टोरिया का युग था।

जमींदार वर्ग के बाद सबसे शक्तिशाली वर्ग महाजन व सूदखारों का था और साथ ही व्यापारी वर्ग का भी जन्म हो रहा था, जो जनता का अनेक प्रकार से शोषण कर रहे थे। सभी जगह अँग्रेजों का शासन स्थापित हो चुका था। बड़े-बड़े औहदों पर गोरे अफसर जमे बैठे थे, जो अपनी मनमानी करते थे और अपने को देश को मालिक समझने लगे थे। यहाँ तक कि भारतीय शासन-व्यवस्था और प्रशासन सभी पर अँग्रेजी हकूमत कायम हो चुकी थी। इस स्थिति को बताते हुए कहते हैं, 'इन देहातों में एक तरफ तो जमींदारों का दबदबा था, दूसरी तरफ कहीं-कहीं नील के कारखानेदार अँग्रेज जमे बैठे थे। खरीद-फरोख्त और जमा-पूँजी का सारा कारोबार देसवासी सौदागरों के जिम्मे था। तेली, सूँडी, कलबार, अगरबाल, बरनवाल, हलवाई, वगैरह थे। सूद पर कर्ज न देने का व्यवसाय जमींदार और सुखी किसान भी करते थे। ब्राह्मण, राजपूत, भुइंहार आदि कुछ जातियों के जवानों को फौज में जगह मिलने लगी थी।'

अँग्रेजों का शोषण सामाजिक स्तर तक ही नहीं था, व्यक्तिगत स्तर पर भी दिखाई देता था। बाबा बताते हैं, 'तुम्हारे दादा को जौन साहब के साले ने एक बार महज इसलिए पीट दिया था कि एक बार वह सलाम करने से चूक गया था।' इस प्रकार अँग्रेजी शासन ने पूरे सौ वर्षों तक हिंदुस्तान की भोली-भाली जनता पर अत्याचार किए। इसके विरोध में जो कोई भी आवाज उठाता, उसे बागी करार देकर जेल के अंदर बंद कर दिया जाता।

उपन्यास में एक ओर ब्रिटिश शासन का शोषण के चित्रण किया गया है दूसरी ओर गाँव के ही कुछ जमींदारों द्वारा शोषित जनता का चित्रण है। टुनाई पाठक और जयनारायण जैसे स्वार्थी लोग गाँव के प्रगतिशील युवकों को फँसाकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करना चाहते हैं, जिनमें जैक्सुन, जीवनाथ, सुतरीझा, लक्ष्मणसिंह, दयानाथ, सरजुग, महतो आदि हैं। किंतु वे निडरता से इसका सामना करते हुए गाँव की शोषित जनता को जाग्रत करते हुए संघर्ष के लिए प्रेरित करते

हैं। किसानों ने संघर्ष के दिनों में काँग्रेस पार्टी, सोशलिस्ट पार्टी, असेंबली और पार्लियामेंट सभी को देखा, समझा और परखा है। नेताओं के आश्वासन, नौकरशाही की मनमानी, शोषण के प्रबल पक्ष, जमींदारों के दौंव-पेंच सभी ने किसान की चेतना को उभारकर नए पथ की ओर गतिशील किया है।¹⁰ अंत में नवयुवक अपने इस कार्य में सफलता प्राप्त करते हैं। उनकी सफलता से खुश होकर बाबा कहते हैं, 'तुम लोगों ने तो बस्ती की हवा ही बदल दी। कोई हिम्मत नहीं करेगा तुम लोगों से टकराने की...मैं आशीर्वाद देता हूँ, रूपउली गाँव वालों की यह एकता हमेशा बनी रहे। सुखमय जीवन के लिए तुम्हारी यह सामूहिक प्रचेष्टा कभी मंद न हो, स्वार्थ की व्यक्तिगत भावना कभी तुम्हारी चेतना को धुँधला न बनाए।' ¹¹ इतना कहकर बाबा अंतर्धान हो गए।

इस प्रकार वटवृक्ष के रूप में बाबा बटेसरनाथ विशालकाय मानव रूप में उपस्थित होकर जैकिसुन को गाँव के प्राकृतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवेश का यथार्थ समझाता है। वह अकाल, बाढ़, कंपनी का शासन, चंपारन, सत्याग्रह और किसानों की यातना का आँखों-देखा वर्णन जैकिसुन को सुनाता है, जिसे सुनकर उसकी संवेदना तीव्र हो उठती है और वह अपने साथियों के साथ मिलकर नई योजनाएँ बनाते हुए आंदोलन के बल पर गाँव में नई-नई व्यवस्था स्थापित करना चाहता है और साम्यवादी दल की सहायता से काँग्रेस शासन को परास्त करता है। अतः राजनीतिक उथल-पुथल के कारण यह राजनीतिक उपन्यास की श्रेणी में शामिल किया जा सकता है।

(ब) हीरक जयंती

हीरक जयंती व्यंग्य से परिपूर्ण राजनीतिक उपन्यास है। इसका कथानक बिहार के शासक दल के एक मंत्री बाबू नरपतनारायण सिंह की कथा को विस्तार देते हुए काँग्रेस प्रशासन की विसंगतियों का भंडाफोड़ करता है। इसमें नागार्जुन ने शासकवर्ग की भ्रष्टता, चरित्रहीनता और स्वार्थपरता पर तीक्ष्ण प्रहार करते हुए सिद्ध किया है कि बाबू नरपतनारायण जैसे लोगों का कार्य जनता का शोषण कर उनको गुमराह करना और अपना स्वार्थ सिद्ध करना है जैसा कि नरपत बाबू अपने भाषण में कहते हैं। शासन और सत्ता की जरा भी लालसा हमारे अंदर नहीं है। हाँ, इस बात की लालसा जरूर है कि जनता-जर्नदन की सेवा के अंतिम क्षण तक हम अपने तन-मन का उपयोग कर सकें।¹² राजनेताओं को अभिनंदित करने के लिए जो हीरक जयंती 75 वर्ष में मनाई जाती है, बाबू नरपतनारायण की जयंती कुछ स्वार्थी और लालची लोगों के कारण 71 वर्ष में ही मना ली जाती है। अपनी लालची प्रवृत्ति और धनलिप्सा का परिचय देते हुए वह कहते हैं—'लोकसेवा का व्रत जिनकी रग-रग को सोख चुका है, जिनके जीवन का दीप हमेशा औरों के लिए जलता रहा, ऐसे कार्यकर्ता निर्लिप्त भाव से यदि सार्वजनिक निधि में से सौ-पचास लेते चलें, तो इसमें बुराई कैसी?'¹³ परंतु सत्यता तो यह है कि खादीधारी नरपत बाबू के लिए वासनापूर्ति ही चिंतन है, गरीबों का शोषण ही व्यसन है और तिकड़मबाजी ही धर्म है। वे बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए मिली राशि जनजातियों के विकास के नाम पर डकार जाते हैं। अपनी अंकशायिनी माधवी को तृतीय श्रेणी के परीक्षाफल के बावजूद विभागाध्यक्ष बना देने की क्षमता उनमें है।¹⁴ बाबू नरपतनारायण के सभी भक्त उनके आचरण के अनुयायी हैं। ये सभी जनता को पथभ्रष्ट कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। इनमें कवि मृगांक, ठेकेदार गेंदासिंह, बुझावन, धर्मराज, महंत, सीताशरण दास, गोपीबल्लभ और रामप्यारे हैं, जो अपनी धनलिप्सा को पूरा करने के लिए अनुचित कार्य करते हैं।

इसी प्रकार राजा रेवतीरंजन प्रसाद सिंह ने, जो काँग्रेसी और सर्वोदयी हैं, अपनी फैक्ट्री के

द्वार राष्ट्रीय मजदूर काँग्रेस वालों के लिए खोल दिए हैं और विनोबा जी के भूदान यज्ञ में अपनी पाँच बीघा जमीन की आहुति दी है, जो हमेशा जलमग्न रहती थी। इसमें एक ओर उनकी समाजसेवा तथा देशसेवा का ज्ञान होता है, तो दूसरी ओर यथार्थ यह है कि उन्होंने दो विरोधी मजदूर नेताओं का अपहरण करवा दिया है। इससे काँग्रेस कार्यकर्ताओं के दोहरे व्यक्तित्व का बोध होता है। बाबू देवकीनंदन प्रसाद, जो सदा काँग्रेसी रहे, लेकिन सोशलिस्ट पार्टी बनने के बाद उसमें सम्मिलित हो गए, क्योंकि अब उन्हें काँग्रेस में रहकर स्वार्थसिद्धि की आशा नहीं। सेठ अग्रवाल जो सभी पार्टियों को चंदा इसलिए देते हैं कि कोई तो समय पर अवश्य काम आएगा। अतः किसी को भी रुष्ट नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उपन्यासकार ने नेताओं के दोहरे व्यक्तित्व का बोध कराया है।

इस उपन्यास में एक ओर नेताजी नरपत बाबू की 75वीं वर्ष में मनाई जानेवाली जयंती 71वें वर्ष मना ली जाती है, तो दूसरी ओर उसी समय उसका पुत्र तशकर व्यापार में गिरफ्तार किया जाता है, तो तीसरी ओर उसकी पुत्री अपनी माँ के गहने चुराकर अपने प्रेमी के साथ भाग जाती है। इन सब घटनाओं से नेताजी का पारिवारिक सामाजिक, राजनीतिक, यथार्थ उजागर होता है। आज के नेताओं की यही सच्चाई है।

नागार्जुन के उपन्यासों का अध्ययन करने के उपरांत कह सकते हैं कि उनके उपन्यास बिहार के ग्रामांचल विशेष की राजनीतिक गतिविधियों के ज्वलंत प्रमाण हैं। उन्हें सच्चे अर्थों में आंचलिक उपन्यासकार कहा जा सकता है। इन अंचलों की छोटी-से-छोटी बात प्रवृत्ति तथा पात्रों की मनःस्थिति आदि के दिग्दर्शन में उपन्यासकार ने यथार्थवादी दृष्टिकोण स्वीकार किया है। इन उपन्यासों में उन्होंने कुछ भ्रष्ट पात्रों के माध्यम से देश की राजनीति का सशक्त चित्रण किया है, जो जनता को लूट-लूटकर अपनी तिजोरिया भरते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

संदर्भ

1. हिंदी उपन्यास उदय और उत्कर्ष, डॉ० सत्यपाल चुघ, पृ० 27
2. द ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी वाल्यूम 3, पृ० 371
3. हिंदी के आंचलिक उपन्यास, प्रकाश वाजपेयी, पृ० 6
4. पूर्णिमा राजनाथ पांडेय अप्रैल 60 (उद्धृत हिंदी के आंचलिक उपन्यास, प्रकाश वाजपेयी) पृ० 6-7
5. हिंदी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशील, डॉ० शशिभूषण सिंहल आदर्श, पृ० 431
6. नागार्जुन, संपूर्ण उपन्यास खंड एक, बाबा बटेसरनाथ, पृ० 282
7. वही, पृ० 323
8. वही, पृ० 308
9. वही, पृ० 323
10. हिंदी के आंचलिक उपन्यास, प्रकाश वाजपेयी, पृ० 72
11. नागार्जुन संपूर्ण उपन्यास खंड एक, बाबा बटेसरनाथ, पृ० 366
12. नागार्जुन संपूर्ण उपन्यास खंड एक, हीरक जयंती, पृ० 188
13. वही, पृ० 183
14. नागार्जुन, सुरेशचंद त्यागी, हीरक जयंती, यथार्थ प्रेषण की संवेदना, बालेंदुशेखर तिवारी, पृ० 241

सुपुत्री श्री पहलसिंह
ग्राम व पो० पिलखनी
जिला सहारनपुर (उ०प्र०) 247232

सूर्यबाला के उपन्यासों में चित्रित सामाजिक संघर्ष

डॉ० वसुंधरा

हिंदी प्रवक्ता

चौ० अतरसिंह डिग्री कॉलेज

थानाभवन (शामली) उ०प्र०

सूर्यबाला अष्टम दशक के कथाकारों में एक सशक्त रचनाकार हैं। इनका कथासाहित्य घर-परिवार की चारदीवारी को लाँघकर विस्तृत क्षितिज तक फैला हुआ है। इन्होंने वर्तमान जीवन की विवशताओं, समस्याओं, द्वंद्वों और आपदाओं के चित्रण में विशेष सफलता प्राप्त की है। अपने कथासाहित्य में एक ओर उन्होंने संबंधों का खोखलापन चित्रित किया है, तो दूसरी ओर स्वार्थ की संकीर्ण सीमा में आबद्ध मानवीय मूल्यों का यथार्थ भी उजागर किया है। एक ओर परिस्थितियों से उपजी विवशताओं, विक्षोभों और संघर्ष को वाणी दी है, तो दूसरी ओर संघर्षों से जूझते पात्रों को व्यवस्था की विषमताओं का सामना करने और उनसे मुक्त होने के लिए प्रेरणा भी दी है। संक्षेप में 'सूर्यबाला के कथासाहित्य का कैनवास गाँव से शहर, शहर से महानगर के साथ-साथ निम्न, मध्य और उच्चवर्ग तक फैले रेंज के लिए जाना जाता है।'

सामाजिक संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा

समाज मानव-जीवन का चिरंतन आधार है। मानव के आरंभिक जीवन से समाज उसके साथ है। व्यक्ति के जिस सामाजिक रूप का हम दर्शन करते हैं, वह केवल माता-पिता से प्राप्त वंशानुगत शारीरिक व मानसिक विशेषताओं का योग-मात्र नहीं। मनुष्य के विकास में समाज का अमूल्य सहयोग रहता है। व्यक्ति के जीवन में कभी भी ऐसा अवसर नहीं आता, जब समाज से उसका साथ छूटता हो। समाज सहयोग पर आधारित है और सामाजिक जीवन प्रेम, स्नेह, त्याग तथा मेल-मिलाप की भावनाओं पर पनपता है। परंतु यह भी सच है कि किसी भी समाज या सामाजिक जीवन में शत-प्रतिशत सहयोग प्रेम और मेल-मिलाप होगा, यह सोचना केवल असत्य ही नहीं, वरन् अस्वाभाविक भी है। समाज में सहयोग के साथ-साथ संघर्ष, झगड़ा या मनमुटाव अनिवार्य रूप से पाया जाता है। सामाजिक संघर्ष का अभिप्राय है—समाज में उत्पन्न होनेवाली टकराहट, व्यक्तियों या समूहों का पारस्परिक मनमुटाव।

एल्बीयन उडबरी स्माल के अनुसार—'संघर्ष को संपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया के एक अंग के रूप में समझना ही उचित होगा। इस संघर्ष का आधार मानव का अपना हित है। हित मानव-आचरण की क्रियाशीलता का सबसे सरल आधार है।संपूर्ण जीवन-प्रक्रिया, जहाँ तक कि हम उसे जानते हैं, वास्तव में हितों को विकसित करने, उनका अनुकूलन व संतुष्टि करने की प्रक्रिया ही है।' हित के अनेक रूप देखे जा सकते हैं, जैसे स्वास्थ्य-संबंधी, सौंदर्य-संबंधी

परलोक-संबंधी, भूमि-संबंधी, संपत्ति-संबंधी, सामाजिकता-संबंधी, ज्ञान या सत्ता से संबंधित हित आदि। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार—‘सामाजिक संघर्ष के अंतर्गत वे सभी कार्य-कलाप सम्मिलित होते हैं, जिनमें मनुष्य किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूसरे के विरुद्ध कार्य करते हैं।’³

सामाजिक संघर्ष के आधार

समाज में कोई भी दो व्यक्ति एक समान नहीं होते। व्यक्तियों में जीवन लक्ष्य, आदर्श, शारीरिक शक्ति, रुचि, बुद्धि से जुड़ी अनेक भिन्नताएँ हैं, जिनके आधार पर समाज में संघर्ष होता है। साथ ही सांस्कृतिक भेद भी सामाजिक संघर्ष को जन्म देते हैं, जिससे अलग-अलग संस्कृति जीवन की विधियों को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा कर देती है। धन-संबंधी असमानता भी समाज में संघर्ष का प्रमुख आधार है। कभी-कभी भाषा, धर्म, जाति तथा प्रजाति से संबंधित विभेद भी संघर्ष का कारण बनते हैं। समाज में राजनीतिक स्वार्थ भेदों के कारण सामाजिक एकता में रुकावट आती है, जो विभिन्न सामाजिक संघर्षों को जन्म देती है। समाज में व्यक्ति को अपने हितों को पूरा करने के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में संघर्ष करना पड़ता है। संघर्ष की प्रक्रिया आदिम समाज से लेकर आज तक समाज में चल रही है।

सूर्यबाला के कथासाहित्य में सामाजिक संघर्ष

सूर्यबाला ने अपने कथासाहित्य में सामाजिक संघर्ष को आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक संघर्ष के रूप में चित्रित किया है।

आर्थिक संघर्ष

यह धनाभाव से उत्पन्न होने वाला संघर्ष है। वर्तमान समाज में अर्थ को जीवन का महत्वपूर्ण विधायक तत्त्व स्वीकार किया गया है। अर्थ ही समाज की शिराओं में बहनेवाला वह रक्त है, जो संपूर्ण समाज का जीवन संचालित करता है। प्रत्येक युग का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन अर्थ-प्रक्रिया से प्रभावित रहा है। विकास का मूल आधार अर्थ ही है।⁴ आर्थिक संघर्ष को दो रूपों में समझा जा सकता है—

1. परिवार का आर्थिक संघर्ष
2. उच्चवर्ग एवं निम्नवर्ग का संघर्ष

परिवार का आर्थिक संघर्ष

सूर्यबाला ने ‘अग्निपंखी’ में जयशंकर के माध्यम से आर्थिक संघर्ष का विस्तृत वर्णन किया है। वह कंडक्टरी में पास हो गया था, पर उसके ही टिकट काटने के पच्चीस हजार माँगे। कहाँ थे उसके पास! सब कहते, चार-छह बरस में ही पच्चीस के पचास कर लेगा। पर पच्चीस हो टेंट में, तब न पचास होने की नौबत आए। पैसा-पैसे को बनाता है। एक अस्पताल की स्टोर-कीपरी तो पाँच-सात हजार पे पक्की करके आया भी था, लेकिन बीच में जाने कब दूसरा आदमी पंद्रह दे के अपनी सही करवा गया। स्टोरकीपरी जो गई सो तो गई है, उससे ज्यादा अफसोस माँ गाँव आते समय जब बेटे से जेठानी-देवरानी और उनके बच्चों के लिए कपड़े लाने को कहती है, तब वह अपनी पत्नी से धीमे-धीमे बड़बड़ाकर कहता है, ‘तीन महीने से अपने लिए जूता नहीं खरीद पाया। अभी लोकल का पास अलग बनवाना है। महीने के बचे पूरे दस दिन का खर्चा-पानी..., पर इसे कौन समझाए! इसके लिए सबसे जरूरी चंदा की फ्राक ही है। पाँच हजार

का बीमा कराया, वह भी कभी टाइम पर किस्त न जमा कर पाया।⁶ बीमार माँ का उपचार कराते समय भी जयशंकर को आर्थिक अभावों के कारण ऐसा लगता है कि माँ ठीक हो न हो, पर डॉक्टर उसे जरूर पागल कर देंगे। 'ओवर टाइम के जुटाएँ पैसे डॉक्टरों की जेबों में भरते-भरते उसका मन चीख-सा उठता। लगता, बस अगर कुछ दिनों और माँ ऐसी ही सनकपन में रही तो उसे बीबी-बच्चों सहित फुटपाथ पर हाथ फैलाने की नौबत आ जाएगी।'⁷

सुबह के इंतजार में बेरोजगारी के कारण मानू के परिवार को विभिन्न आर्थिक संघर्षों से जूझते हुए दिखाया गया है। 'पैरों में अधटूटी ही सही, चप्पलें होतीं, जिन पर किसी का ध्यान जाने की आशंका-मात्र से माँ चुपके से पैर साड़ी के नीचे खींच लेती। कभी किसी के आगे माँ स्वीकार नहीं सकती थीं कि वे सब भूखे भी रहते हैं, उनके पास पहनने भर के लिए कपड़े नहीं, बूलू की पढ़ाई की फीस नहीं, छोटे बिट्टू के लिए दूध नहीं।'⁸ इसी तरह बूलू अपनी बीमार बहिन का उपचार कराना चाहता है, किंतु आर्थिक अभावों के कारण वह चिंतित हो उठता है। 'सचमुच अभी मैं साधन-संपन्न कहाँ हूँ उस दृष्टि से कि अपने भरोसे उसका पूरा इलाज करा सकूँ। मान लिया टैस्ट्स, एक्सरे वगैरह मुफ्त हो जाएँगे, पर असली इलाज तो इसके बाद शुरू होगा-दवाएँ, फल, टॉनिक, इंजेक्शंस और सबसे बढ़कर उसके लिए आराम। उस सबका जुगाड़ कर पाऊँगा मैं? कर पाता तो, अभी तो इलाज से बढ़कर वहीं है।'⁹

'यामिनी कथा' में यामिनी कैसरग्रस्त पति के उपचार के लिए 'बिकते हुए आभूषणों के बाद की सोचकर सिहर जाना कि अगर विश्वास कुछ दिन और खींच ले गए तो इन आभूषणों के बाद क्या बिकेगा? छिह, घृणित, गर्हित, लेकिन यह शायद उन दिनों का सबसे बड़ा कड़वा सच था। एक तरफ छीजते जाए विश्वास के जीवन कण और दूसरी तरफ चारों ओर से धँसती जा रही सहारे की दीवारें।'¹⁰

'दीक्षांत' में शर्मा जी की मृत्यु के पश्चात कफन की व्यवस्था करने के लिए पत्नी कुंती ने 'कानों से दो पतली सोने की बालियाँ निकाल पड़ोसी के हाथों में देकर जैसे निगाहों से पूछा हो इतने में हो जाएगा क्या? सुनने वाले ने चुपचाप मुट्ठियाँ भीचकर बालियाँ ले लीं, किसी में मना करने का साहस न था।'¹¹

उच्चवर्ग एवं निम्नवर्ग का संघर्ष

'दीक्षांत' में उच्चवर्गीय ठक्कर के बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने शर्मा जी उनके घर जाते हैं। ठक्कर की बीवी के दिल में हमेशा यही जोड़-घटाना चलता रहता कि दो बच्चों को एक स्थान पर पढ़ाने के ट्यूशन शुल्क आखिर पूरा क्यों दिया जाए, क्योंकि एक ही घर में दो-दो ट्यूशन का मतलब मास्टर के आने-जाने के समय और साइकिल चलाने की मेहनत की बचत होती है। इस लिहाज के कम-से-कम पंद्रह बीस रूपए ज्यादा ही हर महीने मास्टर जी को जाता है, तो कुछ-न-कुछ काम ही सही, ले लेना चाहिए।¹² दसियों, नौकर, महाराज, मुंशी, गुमाश्ते हैं, ठक्कर के, लेकिन फिर भी रजिस्ट्री मास्टर जी ही करवाएँगे। किसी भी व्यक्ति, स्थिति या अवसर से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने की घाघ मनोवृत्ति। एक बार यह सब सुनकर शर्मा जी की पत्नी कुंती क्रोधित हो कहती है, 'धन्नासेठ होंगे अपने घर के, साफ मना कर दिया करो, मास्टर हो पढ़ाने जाते हो, चाकरी बजाने थोड़ी!'¹³

सांस्कृतिक संघर्ष

संस्कृति अर्थ एवं परिभाषा—‘शाब्दिक अर्थ में ‘संस्कृति’ शब्द ‘संस्कार’ का रूपांतर है, एक हिंदू को अपने जीवन को परिमार्जित (Cultured) करने के लिए अनेक प्रकार के संस्कारों को करना पड़ता है और उसके बाद वह कहीं संस्कृत (Cultured) कहा जाता है। उसी प्रकार इतिहासकारों के लिए देश का कलात्मक अथवा बौद्धिक विकास ही संस्कृति है।¹⁴

टायलर के शब्दों में—‘संस्कृति वह समग्र जटिलता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश है, जो मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।’¹⁵

सूर्यबाला के कथासाहित्य में सांस्कृतिक संघर्ष

सूर्यबाला ने भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति के पड़े प्रभाव को यत्र-तत्र उपस्थित करते हुए भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

‘सुबह के इंतजार तक’ में मानू जब पढ़ाने के लिए स्कूल पहुँची, तब वहाँ की अध्यापिकाओं का तिरस्कार तथा अवमाननापूर्ण वार्तालाप सुनकर वह हतप्रभ सी रह गई, क्योंकि उसके साथ बलात्कार की घटना का उन्हें पता चल गया था। वे एक-दूसरे से कह रही थीं—

‘स्कूल की इज्जत का सवाल है।’

‘मुझे तो शकल देखते ही याद आ गया।’

‘हो सकता है, सविता दी को मालूम ही न हो।’

‘अजी, मालूम भी हो तो क्या! कोई चंदे वाला डाल गया होगा। वहाँ तो सविता दी भी म्याऊँ हो जाती है।’¹⁶

राजनीतिक संघर्ष

राजनीति शब्द का अँग्रेजी पर्याय पॉलिटिक्स (Politics) है। जिसकी उत्पत्ति यूनानी भाषा के पॉलिस (Polis) शब्द से हुई है। पोलिस का अर्थ है नगर या राज्य। ...राज्यों से संबंधित सभी बातों की जानकारी करानेवाले विषय को राजनीति कहते हैं।¹⁷

सूर्यबाला ने अपने उपन्यासों में राज्यतंत्र, शासन अथवा मंत्री आदि की राजनीति को स्थान नहीं दिया, वरन उन्होंने दैनिक जीवन में चलने वाली राजनीति का वर्णन किया है। इसमें भी कार्यालयों आदि में होनेवाली राजनीति का यत्र-तत्र वर्णन किया है। जिस प्रकार राजनीति में छलकपट, धूर्तता और स्वार्थ को स्थान मिला है। उसी प्रकार कार्यालयों आदि में भी ये तत्त्व अपना पूर्ण आधिपत्य जमाए हुए हैं। अपने कथासाहित्य में सूर्यबाला ने इन्हीं तत्त्वों को वाणी प्रदान की है।

‘दीक्षांत’ में नए एम०एल०ए० ने बहुत ही दोस्ताने ढंग से चेयरमैन को कृतार्थ किया, साथ ही भानजे को विद्यालय में व्याख्याता के पद पर रखवाने की इच्छा भी प्रकट की। चेयरमैन इतना सस्ता सौदा करते, इतने कच्चे तो थे नहीं...और इसमें करना भी तो कुछ नहीं था सिवाय इसके कि कामधेनु के झाग भरे दूध में से मक्खीनुमा शर्मा को निकाल फेंकना। इसलिए फोन उठाकर दो लफ्जों में हुक्मनामा जारी कर दिया प्रिंसिपल को ‘मैं चेयरमैन बोल रहा हूँ देखो, ऐसा करो..वह एक शर्मा या ऐसा ही कुछ करके है न हिंदी विभाग में उससे आज इस्तीफा ले लो।’¹⁸

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि सूर्यबाला के उपन्यासों में सामाजिक संघर्ष के अंतर्गत आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक संघर्ष को देखा जा सकता है। आर्थिक संघर्ष में एक ओर

पारिवारिक संघर्ष है, तो दूसरी ओर उच्च एवं निम्नवर्ग का संघर्ष है। पारिवारिक संघर्ष का मुख्य कारण धनाभाव है, जो कहीं बेराजगारी के रूप में तो कहीं लड़कियों का विवाह न होने के रूप में। सांस्कृतिक संघर्ष में पाश्चात्य संस्कृति के दुष्परिणाम की झाँकी अंकित करते हुए भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता दिखाई गई है। राजनीतिक संघर्ष में कार्यालयों में चलने वाली प्रतिद्वंद्विता, धोखाधड़ी, षड्यंत्र तथा विसंगतियों को वाणी दी गई है। संक्षेप में लेखिका ने संघर्ष के विविध रूपों को साकार किया है।

संदर्भ

1. एक इंद्रधनुष जुबेदा के नाम, फ्लैप से
2. समाजशास्त्रीय संदर्श, रवींद्रनाथ मुखर्जी, पृ० 126-127
3. समाजशास्त्र के मूलतत्त्व, डॉ० के०के० मिश्र, पृ० 322
4. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास : मूल्य संक्रमण, डॉ० हेमेंद्रकुमार पानेरी, पृ० 203
5. अग्निपंखी, पृ० 21
6. वही, पृ० 55
7. वही, पृ० 76
8. सुबह के इंतजार तक, पृ० 109
9. वही, पृ० 158
10. यामिनी कथा, पृ० 58
11. दीक्षांत, पृ० 120-21
12. वही, पृ० 31-32
13. वही, पृ० 31
14. प्रारंभिक समाजशास्त्र, रवींद्रनाथ मुखर्जी एवं सरला दुबे, पृ० 210
15. भारतीय समाज तथा संस्कृति, एम०एल०डी० शर्मा, पृ० 45
16. सुबह के इंतजार तक, पृ० 140-41
17. दीक्षांत, पृ० 91-92

संचार माध्यम और हिंदीभाषा

डॉ० सचिन कदम

हिंदी विभाग

संगमनेर महाविद्यालय

संगमनेर (महाराष्ट्र)

भाषा और संचार-माध्यम एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का संबंध चोली-दामन का है भाषा मनुष्य के भावों-विचारों, सुख-दुःखों के संप्रेषण का सशक्त माध्यम है तो जनसंचार भी प्रचार-प्रसार का माध्यम है। विभिन्न जनसंचार-माध्यमों की संचार-प्रक्रिया का आधार भाषा है। संचार चाहे वार्ता, लोककला जैसा परंपरागत हो, समाचार-पत्र जैसा मुद्रित हो, रेडियो-टेलीविजन जैसा इलैक्ट्रॉनिक हो या कम्प्यूटर-इंटरनेट जैसा नव इलैक्ट्रॉनिक हो, उसके द्वारा प्रेषित अर्थपूर्ण संदेश भाषा-रूप में ही होता है।

किसी भी जाति या राष्ट्र की विरासत और उसकी सर्जनात्मकता को बचाए रखने के लिए उसकी अपनी देशी भाषाओं को महत्त्व देना ज़रूरी है। वर्तमान वैश्वीकरण का चेहरा ही कुछ ऐसा है कि वह अर्थतत्त्व से राष्ट्र, संस्कृति और भाषा सभी को बुरी तरह से तहस-नहस कर रहा है। विज्ञापनों पर भी अँग्रेज़ी भाषा छाई हुई थी, लेकिन आज हिंदी तथा भारतीय भाषाओं ने उस पर कब्जा कर लिया है। समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, रेडियो तथा टी०वी० अब व्यवसाय बन गए हैं। समाचार-पत्रों में आज भी अँग्रेज़ी समाचार-पत्र हिंदी से कई गुणा अधिक हैं। एफ०एम० रेडियो के रूप में रेडियो ने फिर से वापसी की है। इसकी भाषा मुख्यतः भारतीय क्षेत्रीय भाषा और हिंदी है।

भारत के दो प्रमुख चैनल स्टार और जी०टी०वी० के प्रमुख कई चैनल हिंदी के हैं और हर भारतीय भाषा के भी हैं मनोरंजन, फिल्म, संगीत, खेल, समाचार तथा ज्ञान-विज्ञान से संबंधित सभी चैनल हिंदी के हैं।

विश्व में अब तक तीन क्रांतियाँ हो चुकी हैं। पहली कृषिक्रांति, दूसरी औद्योगिक क्रांति और तीसरी है सूचना और प्रौद्योगिकी क्रांति। वर्तमान युग सूचना और प्रौद्योगिकी का युग है। आज विश्व में घटित छोटी-मोटी घटना सूचनाक्रांति के माध्यम से दूरी पर रहने वाले व्यक्ति या समाज को बताई जा सकती है या उसका संदेश पहुँचाया जा सकता है। जनसंचार माध्यम संचार के विकास के कारण ही आज संपूर्ण विश्व एक गाँव-स्वरूप बन चुका है। व्यक्ति, समाज या देश जोड़ने का काम संचार द्वारा होता है, इसलिए आज संचार का महत्त्व सर्वोपरि है। इस क्षेत्र में अँग्रेज़ी का बोलबाला है।

कम्प्यूटर और इंटरनेट का आविष्कार उन देशों में हुआ, जिनकी भाषा अँग्रेजी है। कम्प्यूटर इंटरनेट की अपनी भाषा है। उसे विश्व की किसी भी भाषा द्वारा संचालित किया जा सकता है। हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में कम्प्यूटर प्रयोग के लिए कई सॉफ्टवेयर तैयार किए जा रहे हैं। जब वह ग्राम-कस्बों में भी फैल जाएगा, तब अनिवार्य रूप में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ भी कम्प्यूटर और इंटरनेट पर प्रतिष्ठा पा सकेंगी। इस क्षेत्र में भी हिंदी और भारतीय भाषाओं की अपार संभावनाएँ हैं।

प्रिंट माध्यम के रूप में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान महत्वपूर्ण है। विदेशों में हिंदी-पत्रकारिता क्षेत्र से प्रचार हो रहा है। विश्वपटल पर हिंदी की लोकप्रियता बढ़ रही है। वीरों, संतों, भक्तों और महात्माओं ने, देश के हर कोने के लोगों ने मानवता के कल्याण के लिए हिंदी को अपनाया।

देश के अधिकांश लोगों के बीच संपर्क का माध्यम हिंदीभाषा ही है। हमारे बहुभाषी भारत देश में हिंदी ने ही संपर्क भाषा के रूप में महत्वपूर्ण सहायता की है। भाषा एक सामाजिक आवश्यकता है। भाषा द्वारा ही मनुष्य एक-दूसरे से विचार-विमर्श कर सकता है अथवा अपने संदेशों का प्रसारण कर सकता है। आज जनसंचार अत्यंत ताकतवर साधन बन गया है। जनसंपर्क के साधन-संचार के लिए भारतीय जन की संपर्कभाषा हिंदी वरदान साबित हुई है। समाचारों के प्रसारण से, धार्मिक कार्यक्रमों से, खेल प्रसारण से, धारावाहिकों के माध्यम से, हिंदी संपूर्ण भारत के गाँव-कस्बों तक पहुँच गई है।

हर प्रदेश की भाषा, संस्कृति अलग होती है। पहचान अलग होती है। प्रदेश की भाषा, राष्ट्र की भाषा का अभिमान मातृभाषा से जुड़ा हुआ होता है। हमारे मन के विचार भाषा के माध्यम से प्रकट हो सकते हैं। यह आत्मनिवेदन का प्रभावी माध्यम है। अपनी शिक्षा-पद्धति के द्वारा हम अनेक सामाजिक विनिमय सीख सकते हैं।

सूचना और संचार के परिवेश में विज्ञापन एक महत्वपूर्ण संचार-माध्यम है। वाणिज्य-व्यापार का महत्वपूर्ण अंग है। राजनीति से लेकर व्यक्ति-जीवन तक उसकी पहुँच है। वधू-वर प्राप्ति से लेकर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की हर गतिविधि में विज्ञापनों की सहायता ली जा रही है। राजनीति, सामाजिक कार्य, सांस्कृतिक कार्य, प्रशासनिक कार्य, समाज और व्यक्ति के हर क्षेत्र में विज्ञापन का प्रभाव देखा जा सकता है।

आज हिंदी केवल कबीर के दोहों की, प्रेमचंद की कहानियों की भाषा नहीं रही है। वह संचार की भाषा बनकर कई बेरोजगार युवकों के रोजी-रोटी का माध्यम भी बन गई है। संचार द्वारा हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ फलफूल रही हैं। भारत के साथ विश्व के कई देशों में हिंदी संचार तथा हिंदी फिल्मों के माध्यम से पहुँचकर वहाँ सराही जा रही है। लोगों की उम्मीदों पर आज संचार खरा उतर रहा है। संचार-माध्यम सामान्य से सामान्य व्यक्ति का विशेष खयाल रखता है। आज संचार, फिल्म और टी॰वी॰ मिलकर भाषा की एक विचित्र खिचड़ी पका रहे हैं। एक नई भाषा को जन्म दे रहे हैं। संचार ने हिंदी को विश्वभाषा की चौखट पर खड़ा कर दिया है, तो दूसरी तरफ विश्व के कटघरे में खड़े होकर अपने अस्तित्व को सँभालना संचार के इस दौर में हिंदी तथा भारतीय भाषाओं की सबसे बड़ी चुनौती है।

संदर्भ

1. प्रयोजनमूलक हिंदी अधुनातन आयाम, डॉ० अंबादास देखमुख।
2. प्रयोजनमूलक हिंदी, डॉ० माधव सोनटक्के।
3. प्रयोजनमूलक हिंदी तथा अनुवाद, डॉ० आदिनाथ सोनटक्के।
4. संचार और हिंदी, डॉ० पंडित बन्ने।

भारतीय भाषाओं की नाट्यपरंपरा का स्वरूप और तुलनात्मक अनुसंधान की संभावनाएँ

डॉ० सुनील बाबूराव कुलकर्णी

विभाग प्रमुख हिन्दी

भाषा अभ्यास प्रशाला एवं अनुसंधान केंद्र

उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय, जलगाँव

पृष्ठभूमि

नाटक और रंगमंच संभवतः मनुष्य-जाति का पहला और सदियों तक एकमात्र सशक्त एवं जीवंत जन-माध्यम रहा है। बदलते हुए समय और समाज के साथ-साथ इसके स्वरूप एवं सरोकार भी लगातार बदलते रहे हैं। भारतीय भाषाओं के नाट्य-साहित्य को पढ़ने के पश्चात् एक बात सहजता से ध्यान में आएगी कि समय और समाज के परिवर्तन से नाटक जैसे अभिव्यक्त माध्यम के स्वरूप में निरंतर बदलाव हुआ है।

नाटक की उत्पत्ति कठपुतली के खेल से मानी जाती है। इसमें दो शब्दों को महत्वपूर्ण माना जाता है—एक है सूत्रधार और दूसरा है स्थापक। सूत्रधार को डोरी पकड़नेवाला समझा जाता है और स्थापक को किसी वस्तु को लाकर रखनेवाला। नाटक की स्वरूप-संबंधी यह धारणा भी अब परंपरागत मानी जाती है। काल और प्रवाह के परिप्रेक्ष्य में इसके स्वरूप में भी नित्य परिवर्तन हुआ है।

हम देखते हैं कि भारतीय भाषाओं में संस्कृत, बांग्ला, मराठी, हिंदी आदि भाषाओं के नाट्य-साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस कारण प्रस्तुत आलेख में हम प्रथमतः इन भाषाओं के नाट्य-साहित्य के प्रमुख नाटककार कौन-कौन रहे हैं और उनके नाटकों की क्या-क्या विशेषताएँ मानी जाती हैं, इस पर प्रकाश डालेंगे तत्पश्चात् इन भाषाओं के नाटककारों की तथा उनके नाटकों की भारत के अन्य किस भाषा के नाटककार के साथ तुलना हो सकती है, इसपर प्रकाश डालकर तुलनात्मक अनुसंधान की संभावनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम हम संस्कृत नाट्य-साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करेंगे।

संस्कृत नाट्य-साहित्य

समग्र भारतीय भाषाओं की जननी के रूप में हम संस्कृत को स्वीकारते रहे हैं। नाट्यशास्त्र के प्रणेता के रूप में हम सभी आचार्य भरतमुनि को सर्वोच्च स्थान देते हैं। आज वर्तमान में भी संस्कृत के भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुदित नाटकों को बड़े उत्साह के साथ खेला जाता है। संस्कृत का नाट्य-साहित्य आज भी विश्व का सर्वोत्कृष्ट साहित्य माना जाता है। इस संदर्भ में डॉ० जयदेव तनेजा अपनी पुस्तक 'आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श' में लिखते हैं कि

‘संस्कृत नाटक और रंगमंच की परंपरा विश्व की प्राचीनतम एवं समृद्ध परंपराओं में से एक है। भरत के ‘नाट्यशास्त्र’ जैसा रंगकर्म के सर्वांगीण विवेचन-विश्लेषण का सूक्ष्म और विशद् ग्रंथ शायद ही कोई और हो। महाकवि भास से लेकर शूद्रक, कालिदास, अश्वघोष, हर्षवर्द्धन, भवभूति, विशाखदत्त, भट्टनारायण, मुरारि और राजशेखर तक रंग-प्रयोगों की जो वैविध्यपूर्ण एवं संपन्न संस्कृत नाट्य-परंपरा अविरल चलती रही है, वह राजनीतिक-सामाजिक कारणों से दसवीं शताब्दी तक आते-आते विच्छिन्न हो गई है।’¹

उपर्युक्त विवेचन से हमें अनुमान होता है कि संस्कृत में नाटकों की परंपरा कितनी समृद्ध है। भरतमुनि से आरंभ इस परंपरा में हम प्रथमतः भास के नाटकों का स्वरूप-विवेचन करेंगे।

भास के नाटक

संस्कृत नाट्य-परंपरा में भास के नाटकों की प्रामाणिकता के बारे में मतभेद है। विद्वानों का ऐसा मानना है कि उन्होंने तेरह नाटक लिखे हैं, जिनमें प्रतिमा नाटक, प्रतिज्ञायोगंधरायण, पंचरात्र, मध्यमा व्यायोग, स्वप्नवासदत्ता, दरिद्रचारुदत्त, अभिषेक नाटक, दूतवाक्य, कर्णभार ऊरुभंग, अविमारक, बालचरित और दूत घटोत्कच आदि प्रमुख हैं। भास के नाटकों की निम्न विशेषताएँ बताई जा सकती हैं—

1. नाटककार ने प्रस्थापना को स्थापना कहा है।
2. मुद्रालंकार द्वारा प्रारंभ में पात्रों के नाम लिख देना भास की अपनी विशेषता है, जो काव्यप्रतिभा और परिश्रम पर आधारित है।
3. विष्कंभक में दो से अधिक पात्र भाग ले लेते हैं और भरतवाक्य का पाठ नायक के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी कर देते हैं।
4. भास कथानक को शीघ्र गति से संचालित करते हैं और घटनाओं को बार-बार दोहराते हैं। कहीं-कहीं पर घटनाओं की ही नहीं, छंदों की भी पुनरावृत्ति हुई है। मध्यमा व्यायोग, पंचरात्र आदि उदाहरणस्वरूप देखे जा सकते हैं।
5. वे वस्तु-प्रतिपादन में पद्य के साथ गद्य का प्रयोग करते हैं, जिसका उपयोग परवर्तित नाटककारों ने नहीं किया है।
6. उनके नाटकों की उक्तियाँ कालिदास के नाटकों में भी पायी जाती हैं।

शूद्रक

भास के नाटकों के पश्चात् संस्कृत नाटक साहित्य में उल्लेखनीय नाटककार हैं शूद्रक। उनका नाटक है—‘मृच्छकटिकम्’। शूद्रक ने अनेक नाटक लिखे हैं, परंतु उन्हें विशेष प्रतिष्ठा मिली ‘मृच्छकटिकम्’ नाटक से। इस नाटक की निम्न विशेषताएँ बताई जा सकती हैं—

1. उक्त नाटक का नामकरण नायक या नायिका के आधार पर न होकर एक मिट्टी की गाड़ी के आधार पर किया गया है। इसमें अंकों को नाम भी दिए गए हैं। जैसे—प्रथम अंक को अलंकारान्यास, द्वितीय अंक को दूतकर संवादक।
2. इसके पात्र एकदेशीय न होकर संपूर्ण विश्व के मानव हैं।
3. इसमें विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ सूत्रधार और वसंत शौरसेनी बोलते हैं। संवाहक और भिक्षुक मागधी का प्रयोग करते हैं। विदूषक प्राच्य काम में लेता है। शकार की भाषा शकारी है एवं चांडालों की भाषा चांडाली है। माथुर तथा दयुतकर अपने भाव

ढक्की में प्रकट करते हैं। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग इस नाटक की महत्वपूर्ण विशेषता है।

4. समाज में वेश्या के प्रति पाए जानेवाले भावों का भी नाटककार ने सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है।

कालिदास के नाटक

संस्कृत नाट्य-साहित्य में कालिदास का समय स्वर्णयुग माना जाता है। संपूर्ण संस्कृत नाट्य-साहित्य में कालिदास ही एकमात्र ऐसे नाटककार हैं, जिनके नाटकों के अनुवाद न केवल भारतीय भाषाओं में बल्कि विदेश की भी कई भाषाओं में हुए हैं। कालिदास द्वारा विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञानशाकुंतलम् नामक तीन नाटकों की रचना मानी जाती है। इन्होंने महाभारत से उठाई हुई कथावस्तुओं को सुंदर रूप देकर उसमें मानवीय भावों का समावेश किया है। कालिदास के नाटकों की निम्न विशेषताएँ बताई जा सकती हैं—

1. अंतःप्रकृति और बाह्यप्रकृति का साम्य। 2. मनोभावों का सजीव चित्रण। 3. भिन्नता में अभिन्नता का समावेश। 4. पुरातन कथाओं को सुंदरतम नाटकीय रूप। 5. औचित्य का पूरा ध्यान। 6. नारी-सौंदर्य-चित्रण। 7. पुरुष शौर्य-चित्रण। 8. प्रकृति और मानव सौंदर्य-उपमाएँ। 9. हास्यविनोद। 10. हास्य और शृंगाररस।

कालिदास के तीनों नाटकों के भारत की लगभग सभी भाषाओं में अनुवाद उपलब्ध होते हैं और शेक्सपियर, हैमलेट आदि विदेशी नाटककारों के साथ भी कालिदास के नाटकों की तुलना की जा सकती है।

अश्वघोष

अश्वघोष संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार हैं। इनके द्वारा लिखित एक प्रतीकात्मक नाटक 'शारिपुत्र प्रकरण' बताया जाता है। यह प्रकरण नव अंकों में विभाजित है। इसमें बुद्ध के शिष्य शारिपुत्र के बौद्ध बनने का चित्र अंकित किया गया है। विदूषक मौद्गलायन नायक शारिपुत्र से कहता है कि बुद्ध से, जो कि जाति से क्षत्रिय हैं शिक्षा ग्रहण करना अनुचित है। इस पर उसे उत्तर मिलता है—जिसप्रकार औषधि अपने से निज व्यक्ति से लेने में पाप नहीं है, वैसे ही बुद्ध के उपदेशों को ग्रहण करने में कोई अपराध नहीं है। आगे चलकर वह बुद्ध का शिष्य बन जाता है। प्रस्तुत नाटक की निम्न विशेषताएँ बताई जा सकती हैं—

1. प्रस्तुत नाटक में भावनाओं का मानवीकरण किया गया है। पात्रों के रूप में मानवीय भावनाओं को स्थान मिला है। 2. ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाकर बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रयास किया गया है। 3. कथावस्तु न तो महाकाव्य से ली गई है और न कृष्ण के जीवन से ही। 4. भरतवाक्य का पाठ नायक द्वारा न करवाकर बुद्ध द्वारा करवाया गया है। 5. विदूषक को स्थान मिला है और उसका नामकरण नाट्यशास्त्र के अनुकूल ही है।

भवभूति

संस्कृत नाट्य-साहित्य में भवभूति की सबसे बड़ी विशेषता विदूषक को स्थान न देना है। उत्तररामचरित में नाटक दिखाकर राम के हृदय के भावों को उद्घेलित किया गया है। प्रकृति के उग्र रूप का सुंदर चित्रण और करुणा को मूर्तिमत्ता प्रदान करना भवभूति के नाटकों की विशेषता है।

विशाखदत्त

संस्कृत के एक अन्य नाटककार विशाखदत्त ने अपने नाटकों में राजनीति का सजीव चित्रण किया है। संस्कृत साहित्य में राजनीति और कूटनीति से परिपूर्ण सामाजिक जीवन को चित्रित करनेवाले नाटकों की संख्या बहुत कम है। विशाखदत्त द्वारा लिखित 'मुद्राराक्षस' इसकी क्षतिपूर्ति करता है। इसकी विशेषताएँ हैं—1. इसमें नायिका का अभाव है। 2. विदूषक को भी स्थान नहीं मिला है। 3. कौतुहलवर्धक घटनाओं का सुंदर दिग्दर्शन कराया गया है।

राजशेखर

इनके बालरामायण की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि इन्होंने कर्पूरमंजरी, बालरामायण, विद्वशालभञ्जिका और बालभारत नामक रूपकों की रचना की। कर्पूरमंजरी इनकी प्रथम रचना मानी जाती है, जो एक राट्टक है। इसमें चंडपाल और कर्पूरमंजरी के विवाह का वर्णन है, जिस पर मालविकाकग्निमित्र की छाया पड़ी है।

क्षेमेश्वर

राजशेखर के प्रश्रयदाता की प्रसन्नता हेतु क्षेमेश्वर ने भी चंडकौशिक नामक रूपक की रचना की। यह पाँच अंकों में विश्वामित्र एवं हरिश्चंद्र की कथा को चित्रित करता है। इसमें हरिश्चंद्र की दुःख व उसकी परीक्षा का सजीव चित्रण किया गया है। क्षेमेश्वर के अतिरिक्त मुरारी, भीमट, विग्रहराज, देव विशालदेव, वत्सराज, जयदेव, रामचंद्र जयसिंह सूरी, रवि वर्मा, वामन भट्ट आदि लेखकों ने संस्कृत नाट्य-साहित्य की वृद्धि का प्रयास किया है।

वर्तमान में संस्कृत के कई नाटककारों के नाटकों के हिंदी तथा भारत की अन्य भाषाओं में अनुवाद उपलब्ध होते हैं। वही तुलनात्मक अनुसंधान का सबसे बड़ा माध्यम बन सकते हैं। बारीकी से देखने पर यह बात भी सहजता से ध्यान में आएगी कि वर्तमान के कई विमर्शों के बीज आप संस्कृत नाट्य-साहित्य में ढूँढ सकते हैं। कालिदास, भवभूति, भास, राजशेखर जैसे नाटककारों की तुलना भारत के बांग्ला, मराठी, हिंदी तथा विदेश के कई भाषाओं के नाटककारों के साथ की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप कुछ नाम यहाँ गिनाए जा सकते हैं—आधुनिक बांग्ला की नाट्य-परंपरा में प्रसन्नकुमार टैगोर के गार्डन हाउस में भवभूति के संस्कृत नाटक उत्तररामचरित का किया अनुवाद, विद्यातोषिणी थिएटर द्वारा भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का बांग्ला अनुवाद रामनारायण तर्करत्न काली प्रसन्न द्वारा अनुदित कालिदास के विक्रमोर्वशीय और भवभूति के मालती-माधव के बांग्ला रूप, मराठी के किलोस्कर नाटक मंडली द्वारा अनुदित कालिदास के अभिज्ञानशाकुंतलम् का प्रस्तुतिकरण, हिंदी में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के संस्कृत के सुविख्यात मुद्राराक्षस के अतिरिक्त धनंजय विजय, कर्पूरमंजरी इत्यादि के अनुवाद, पारसी थिएटर में हुए संस्कृत नाटकों के प्रयोग तथा संस्कृत से देशी-विदेशी भाषा में हुए अनुवाद आदि को आधार बनाकर तुलनात्मक अनुसंधान की पहल की जा सकती है।

पारसी रंगमंच

हिंदी-नाटक के इतिहास और शोध-ग्रंथों में अधिकांश विद्वानों ने प्रायः एक स्वर में इसे सस्ता, भौंडा, अश्लील, बाजारू और अकलात्मक कहकर पारसी थिएटर को अस्वीकार करने का प्रयत्न किया है। इन नाटकों को साहित्यिक सुरुचि से अछूते, चरित्र-वैशिष्ट्यहीन और केवल कथाओं का जमघट मात्र मानकर खारिज कर दिया गया। डॉ॰ अशोक उपाध्याय के मतानुसार— 'पारसी रंगमंच का प्रारंभ सन् 1853 ई॰ में दादाभाई नौरोजी इत्यादि के संरक्षण में बंबई में पारसी

नाटक-मंडली के नाम से हुआ और सन् 1868 में विक्टोरिया नाटक-मंडली की स्थापना के साथ ही इसके व्यावसायिक रूप का श्रीगणेश हुआ।¹²

डॉ० श्रीकृष्णलाल जी का मानना है कि 'ऐसे अनैतिक वातावरण में ललितकलाओं का प्रारंभ नृत्य और संगीत का प्रचार, जनता की विलासिता और पतन के वर्धक ही प्रमाणित हो सकते थे। पारसी थियेटर्स व्यवसायी कंपनियाँ थीं। उन्होंने पैसों के लिए जनता ने जो माँगा, वही उपस्थित किया, जनता की रुचि परिमार्जित करना उनका ध्येय न था। अतः उनके नाटकों में नृत्य और संगीत के लिए नाट्यकला का बलिदान हुआ।'¹³ पारसी रंगमंच को समृद्ध बनाने में नारायण राव राजहंस (बालगंधर्व), नारायणप्रसाद बेताब, पंडित राधेश्याम कथावाचक आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है।

नारायण राव राजहंस

नारायण राजहंस के अभिनय-कला के प्रबल प्रशंसक लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ही उन्हें 'बालगंधर्व' का नाम दिया था, जो आज भी इस कला के एक उच्च प्रतिमान के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। कहा जाता है कि बालगंधर्व की स्त्री भूमिकाओं में उनके बोलचाल, हावभाव, वस्त्राभूषणों और श्रृंगार से मुग्ध होकर उस समय के उच्चवर्ग की अभिजात महिलाएँ उनकी नकल किया करती थीं। गुजराती रंगमंच के लोकप्रिय अभिनेता जयशंकर भी 'सुंदरी' बनकर ही दर्शकों के दिलों पर राज करते रहे। अभिनीत चरित्र से अभिनेता के एकीकरण का इससे बड़ा उदाहरण क्या होगा कि सुप्रसिद्ध कलाकार और एक बहुत बड़ी पारसी थिएटर कंपनी के मालिक जमशेदजी मादन के भाई नसरभानजी मादन और पेस्टनजी मादन क्रमशः 'तहसीना' और 'पेशु' के चरित्रों को मंच पर जीवंत करने के बाद 'नसरुतहमीना' और 'पेशुअवान' के नाम से ही जाने गए। पारसी थिएटर का रंग-रूप और चरित्र भी अपने समय की ऐतिहासिक आवश्यकता से ही उपजा था। राष्ट्रीय चेतना, पुनरुत्थान की भावना, आर्यसमाजी तथा अन्य सुधारवादी सामाजिक, धार्मिक आंदोलनों के कारण उस समय के दर्शक को अपने इतिहास-पुराण के गौरवपूर्ण आदर्श चरित्र और महान आख्यान देखना अच्छा लगता था।

पारसी थिएटर ने भारतीय संस्कृत और लोक (विशेषतः मराठी-गुजराती में) नाट्य-तत्त्वों की सम्मिश्रण करके एक ऐसा नाट्यरूप तैयार किया था, जिसमें प्रत्येक वर्ग, स्तर और मानसिकता के भारतीय दर्शक की रुचियों, अपेक्षाओं और आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखा गया था। पारसी थिएटर मुख्यतः अभिनेता-केंद्रित और दर्शक-सापेक्ष रंगमंच था। पारसी थिएटर में नाटककार मुंशी प्रायः कंपनी का वेतनभोगी अभिन्न सदस्य होता था, जिसे अपना लेखनकार्य कंपनी मालिक के मन्तव्य या निर्देश के अनुसार ही करना पड़ता था।

पारसी नाटककार अपनी नाट्यकथाएँ कई स्रोतों से ग्रहण करते थे। उसमें इतिहास, पुराण के मूल कथाप्रसंग, दंतकथाओं और अफसानों के चरित्र आदि महत्वपूर्ण होते थे। नारायणप्रसाद बेताब द्वारा लिखित 'महाभारत' और राधेश्याम कथावाचक द्वारा लिखित 'वीर अभिमन्यु' नाटक पारसी थिएटर के सर्वाधिक चर्चित नाटक माने जाते हैं। पारसी नाटकों के कथानक अधिकतर घटनाप्रधान और कार्यमूलक हैं। उनके व्यक्तिगत प्रेम और कर्तव्य के बीच तीव्र संघर्ष का घात-प्रतिघात है, जिसे क्रमशः तीव्र एवं सघन बनाया गया है। पारसी नाटक की संरचना पर भारतीय संस्कृत लोक और शेक्सपियर की नाट्यशैली का प्रबल प्रभाव है। उर्दू, हिंदी या

हिंदुस्तानी भाषा में लिखे गए इन पारसी नाटकों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता: थी अतिरंजना। घटनाओं के संयोजन, दृश्यों के आरंभ और अंत, चरित्रांकन, पात्रों के प्रवेश-स्थान, भाषा, संवाद और अभिनय तक में इस विशेषता को साफ तौर से पहचाना जा सकता है।

गुजराती भाषा से शुरू होकर यह रंगमंच उर्दू, हिंदी तक ही नहीं, बल्कि मराठी, बांग्ला और अन्य प्रादेशिक भाषा तक भी पहुँचा। इनके नाटककार बहुभाषी होते थे, जिनके नाम के पहले मुंशी या पंडित शब्द का प्रयोग किया जाता था। ये कंपनी के बकायदा मुलाजिम होते थे और अपने उपनाम से ज्यादा जाने जाते थे। जैसे—नसरवानजी खानसाहेब—आराम, आगाहश्र कश्मीरी, मुहम्मद मियाँ रौनक और मेहँदी हसन अहसन। आरंभ में पारसी रंगमंच पर मर्द ही औरतों की भूमिकाएँ करते थे। इनमें मा० मोहन, नर्मदाशंकर, फिदा हुसैन, रामलाल वल्लभ और जगन्नाथ आदि को विशेष प्रशंसा प्राप्त हुई। 1895 में पहली बार गुलज़ार और बिजली नामक दो तवायके इस मंच पर आईं। इनके बाद तो विभिन्न भाषाओं, प्रांतों, धर्मों और जातियों की मेरी फेंटम्, गौहर, नाजनी, मुन्नीबाई, पुतली, गुलनार, सरस्वतीबाई आदि न जाने कितनी अभिनेत्रियों ने पारसी थिएटरों की रौनक बढ़ाई। आगा हश्र कश्मीरी के रुस्तम सोहराब, वीर अभिमन्यु और नारायण प्रसाद बेताब के महाभारत जैसे नाटकों की तुलना हम शेक्सपियर के किंगलियर और हैमलेट की त्रासदियों के रूप में कर सकते हैं। पारसी थिएटर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्न प्रकार से बताई जा सकती हैं—

1. अभिनेता का सर्वांगीण एवं सघन प्रशिक्षण।
2. शुद्ध उच्चारण और संवादों के उतार-चढ़ाव की लयपूर्ण अदायगी।
3. शरीर की लचक और आवाज का खुलापन।
4. कठोर अनुशासन।
5. कलाकारों के बीच परस्पर सम्मान, प्रेम, सहयोग और सौहार्दपूर्ण सहज मानवी संबंध।
6. पूरी तैयारी के साथ दर्शकों के समक्ष पेश होने की जिद।

पारसी रंगमंचीय नाटकों की भी भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के नाटकों के साथ तुलना कर तुलनात्मक अनुसंधान किया जा सकता है। खासतौर से भाषाई सामर्थ और प्रस्तुतिकरण की भिन्न-भिन्न शैलियों को आधार बनाकर अनुसंधान-कार्य किया जा सकता है।

बांग्ला भाषा के प्रमुख नाटक एवं नाटककार

भारत की अन्यन्य भाषाओं में बांग्ला भाषा को भी अत्यंत पुरानी भाषा माना जाता है। संस्कृत का संस्कार और अँग्रेजों के प्रथम संस्पर्श से इस भाषा का नाट्यसाहित्य भी अत्यंत पुराना एवं समृद्ध माना जाता है। डॉ० जयदेव तनेजा के मतानुसार—‘इसमें कोई संदेह नहीं कि बांग्ला आज की भारतीय रंग-समृद्ध भाषाओं में से एक अत्यंत महत्वपूर्ण भाषा है। परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव-भक्त-गीतों की अभिनयपरक नाटकीय अभिव्यक्ति से जन्म लेनेवाले जात्रा/यात्रा नामक लोकनाट्य रूप को यदि छोड़ दिया जाय तो बांग्ला नाटक एवं रंगमंच का इतिहास 19वीं सदी के मध्य से पीछे नहीं जाता।’⁴

बांग्ला की समृद्ध नाट्य-परंपरा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० जयदेव तनेजा उसी पुस्तक में आगे लिखते हैं कि ‘योगेंद्रचंद्र गुप्त लिखित कीर्तिविलास तथा ताराचरण के भद्रार्जुन और रामनारायण तर्करत्नरचित कुलिनकुल सर्वस्व, दीनबंधु मित्र के प्रसिद्ध नाटक नीलदर्पण से आरंभ

होकर बांग्ला नाटक रंगमंच का विकास गिरीशचंद्र घोष के सामाजिक, व्यावसायिक रंगमंच, डी०एल० राय के राणाप्रताप, दुर्गादास, नूरजहाँ, मेवाड़ पतन, शाहजहाँ एवं चंद्रगुप्त जैसे ऐतिहासिक नाटकों और कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर कृत राजा और राणी, मालिन, राजा, डाकघर, मुक्तधारा तथा 'रक्तबीज' जैसे काव्यात्मक प्रतीक नाटकों से होता हुआ बांग्ला नाटक और रंगमंच अपने समय के उस बदलते हुए खुरदरे और घिनौने यथार्थ से जा टकराया, जहाँ एक ओर द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप मुनाफाखोरी और कालाबाजारी ने आम आदमी का जीना दुभर कर दिया था और दूसरी ओर बंगाल के कुख्यात अकाल ने नैतिकता और मानवीय मूल्यों को इंसानी लाशों के अंबार के नीचे दफन कर दिया था।⁵

अपने समय की उपर्युक्त जलती हुई सच्चाई और जीवन-मरण के बुनियादी सवालों को प्रखर एवं ईमानदार अभिव्यक्ति देने के इरादे से व्यावसायिक रंगमंच के मुकाबले जनसामान्य के दुःख-दर्द से जुड़े एक समांतर थिएटर की शुरुआत हुई, जिसे भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) के नाम से जाना जाता है। आगे बांग्ला के प्रमुख नाटक एवं नाटककारों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

विजन भट्टाचार्य नवान्न

यह नाटक अकाल की पृष्ठभूमि पर आधारित है। उत्पलदत्त ने पहले लिटिल थिएटर ग्रुप और बाद में पीपल लिटिल थिएटर द्वारा प्रस्तुत अंगार, फरारी, कल्लोल, टीनेर तलवार, टोटा, छायानट, दुस्वप्नेर नगरी, तितुमिर जैसे मौलिक नाटक और ब्रेथ फ्रेडरिक और शेक्सपियर के अनेक नाटकों को बांग्ला भाषा में रूपांतरित किया है। शंभुमित्रा ने इप्सम और रवींद्रनाथ ठाकुर के नाटकों के कलात्मक मंचन से इनके नाट्यदल 'बहुरूपी' ने बांग्ला रंगमंच को अपरिमित समृद्धि और प्रसिद्धि प्रदान की।

आधुनिक नाटककारों में बांग्ला में बादल सरकार का नाम और योगदान अतुलनीय और अवर्णनीय माना जाता है। उन्होंने बंगाली मध्यमवर्गीय जीवन के बहुआयामी अंतर्विरोधों, असंगतियों, विडंबनाओं और नैतिक, मानसिक संकटों की हल्की-फुल्की, गहन, गंभीर नाट्याभिव्यक्ति के साथ-साथ आम आदमी के दुःख, दर्द और उस पर होनेवाले बहुविध अन्याय और अत्याचार को भी बड़े सशक्त और प्रखर स्वरों में प्रस्तुत किया है। बादल सरकार के बहुसंख्य नाटकों को डॉ० जयदेव तनेजा मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित करते हैं—

1. निर्मल हास्य के हल्के-फुल्के मनोरंजक नाटक—बड़ी बुआजी, सोल्यूशन एक्स, राम-श्याम-जदू, कवि कहानी, अबु हसन और बल्लभपूर की रूपकथा आदि।

2. अस्तित्ववादी एक्सर्ड दर्शन और मनोविज्ञान से प्रभावित गहन, गंभीर एवं चिंतनप्रधान नाटक—एवम् इंद्रजित, बाकी इतिहास, पगला घोड़ा, सारी रात, शेष नहीं और तीसवीं शताब्दी (हिरोशिमा) आदि।

3. मनोशारीरिक रंगशैली में प्रस्तुत तीसरा रंगमंच की तलाश के मंचमुक्त जननाटक—जुलूस, भोमा, सगीना महतो, स्पार्टाकस, बासी खबर और प्रस्ताव इत्यादि।

बादल सरकार के समकालीन बांग्ला नाटककार धनंजय बैरागी (रजनीगंधा), मोहित चटर्जी (गिनीपिक), अरुण मुखर्जी (मारीच संवाद), मनोज मित्र (बगिया बाँचा राम की), देवाशिष मजूमदार आदि प्रमुख हैं। बांग्ला ही नहीं बल्कि आधुनिक रंगपरिदृश्य में बादल सरकार

का नाम और काम ऐतिहासिक महत्त्व और लगभग शाश्वत मूल्य का है। विदेश से भरपूर अध्ययन एवं अनुभव लेकर 1959 में जब वह वापस लौटे तो अभिनेता, नाटककार और निर्देशक के रूप में रंगमंच से सीधे जुड़ गए। 1960 में उन्होंने उत्साही रंगकर्मियों के साथ मिलकर 'चक्र' नामक नाट्यसंस्था की स्थापना की और उसके लिए नाटक लिखने लगे। इनका पहला मौलिक और महत्त्वपूर्ण नाटक 'एवम् इंद्रजित' 1962 में लिखा गया। प्रकाशन के तुरंत बाद ही कलकत्ता की सुप्रसिद्ध बांग्ला नाट्यसंस्था शैभानिक ने गोविंद गंगोपाध्याय के निर्देशन में इसका अत्यंत प्रभावशाली प्रदर्शन भी कर दिया। डॉ. प्रतिभा अग्रवाल कृत इसका हिंदी अनुवाद 1969 में प्रकाशित हुआ। थिएटर यूनिट बंबई दिशांतर दिल्ली के हिंदी प्रस्तुतिकरणों ने 'एवम् इंद्रजित' को न केवल बंगाली के आधुनिक सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में बल्कि आज के श्रेष्ठ नाटककार के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रतिष्ठित कर दिया। अब तक रंगमंच की दृष्टि से सक्रिय भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं में इसके सफल मंचन किए जा चुके हैं।

बांग्ला के बादल सरकार तथा उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती नाटककारों की हिंदी तथा भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के नाटककारों के साथ तुलना कर तुलनात्मक अनुसंधान की संभावनाओं को एक दिशा दी जा सकती है।

मराठी के नाटक और प्रमुख नाटककार

अन्य भाषा की तुलना में मराठी और बांग्ला का नाटक और रंगमंच अधिक समृद्ध माना जाता है। मराठी में आरंभ से ही नाटकों की एक समृद्ध परंपरा रही है। संस्कृत के कई नाटकों के मराठी आनुवाद आरंभ में हुए। मराठी साहित्य में किन-किन नाटककारों का योगदान रहा है उस पर आगे क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

विष्णुदास भावे

विष्णुदास भावे को मराठी का प्रथम नाटककार माना जाता है। उन्होंने अंत तक लोकरंग तत्त्वों से नाता नहीं तोड़ा। कीर्तन महाराष्ट्र की एक लोकप्रिय और प्रभावी लोककला रही है। अतः भावे लोकरंग तत्त्वों की असीम शक्ति को भली भाँति पहचानते थे। कहा जाता है कि विष्णुदास भावे ने 25 से अधिक नाटक लिखे और वे सभी नाटक यक्षगान से प्रभावित थे। पौराणिक कथा, गीत तथा संगीत आदि लोकरंग तत्त्वों से विनिर्मित भावे के नाटकों की परंपरा किलोस्कर, देवल, कोल्हटकर, खाडिलकर और गडकरी के संगीत नाटकों के रूप में विकसित हुई।

संगीत नाटक को मराठी रंगमंच की एक अनोखी उपलब्धि कहा जाता है। लेकिन धीरे-धीरे संगीत नाटकों में संगीत प्रधान हो गया और नाटक गौण। बालगंधर्व के समय तक आते-आते तो रंगमंच गान-महफिलों में तब्दील हुआ। संगीत जब शास्त्रीय होने लगा, तब संगीत नाटक धीरे-धीरे विशिष्ट वर्ग तक सीमित हो गया। रामगणेश गडकरी के भावबंधन, एकच प्याला तक आते-आते मराठी नाटक सामाजिक यथार्थ और आदर्शों के आसपास पहुँच गया था। संगीत की भरमार भी कम हुई थी और नाटक गद्य की ओर अधिक झुका था। मामा वरेरकर, प्र०के० अत्रे और मो०ग० रांगणेकर आदि ने गद्य नाटकों को प्रतिष्ठा प्रदान की। स्वातंत्र्योत्तर काल में मराठी नाटक विविध रूपों में विकसित हुआ। बाल कोल्हटकर, पु०ल० देशपांडे, वसंत कानेटकर, वि०वा० शिरवाडकर, जयवंत दलवी, रत्नाकर मतकरी, महेश एलकुंचवार, सुरेश खरे, अनिल बर्वे आदि नाटककारों के नाटकों से हिंदी, गुजराती, तमिल, कन्नड़ का जगत भी परिचित रहा है। हिंदी

मराठी नाटकों के तुलनात्मक अध्ययन के विशेषज्ञ डॉ० माधव सोनटक्के जी ने स्वातंत्र्योत्तर मराठी नाटकों को दो वर्गों में विभाजित विभाजित किया है—1. व्यावसायिक नाटक, 2. प्रयोगधर्मी नाटक।

1. व्यावसायिक नाटक

मराठी रंगमंच की संपन्नता का दृश्यरूप व्यावसायिक नाटक है। देवल, खाडिलकर से लेकर मोहन वाघ तक की कई सामाजिक नाट्यसंस्थाओं ने मराठी नाटकों को महाराष्ट्र के कोने-कोने तक पहुँचाया है। मराठी व्यावसायिक नाटक प्रमुखतः चार रूपों में प्रकट होता रहा है—1. संगीत नाटक, 2. पारिवारिक क्षोभप्रधान नाटक, 3. समस्यात्मक क्षोभप्रधान नाटक, 4. फार्स या विनोदी नाटक।

पारिवारिक क्षोभप्रधान नाटक

रामगणेश गडकरी, बाळ कोल्हटकर, मधुसुदन कालेलकर आदि इस धारा के मूर्धन्य नाटककार रहे हैं। छोटे-बड़े पारिवारिक संघर्ष इस तरह के नाटकों की अंतर्वस्तु के प्रमुख आधार रहे हैं। रामगणेश गडकरी के नाटक एकच प्याला, भावबंधन हो, या बाळ कोल्हटकर का 'वाहतो दुर्वाची जुडी हो', कालेलकर के 'चांदणे शिंपीत जा हो' नाटकों में आदर्शवादी पिता कुछ समय के लिए अपने आदर्शों से भ्रष्ट और सभी तरह की मार और टूटन को सहते हुए दिखाया गया है।

समस्यात्मक क्षोभप्रधान नाटक

मामा वरेरकर से लेकर शिरवाडकर, कानेटकर तक के नाटक इसी के अंतर्गत आ जाते हैं। इनकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं—1. कृत्रिम बनी-बनाई नाट्यवस्तु। 2. अलंकृत संवाद-योजना। 3. यथार्थभासी रंगतत्वों में समकालीन समस्याओं की क्षोभप्रधान प्रस्तुति इस तरह के नाटकों की विशेषता कही जा सकती हैं। उदाहरणार्थ नटसम्राट, तो मी नव्हेच, घराबाहेर, यशोदा, मलाकाही सांगायचंय, भोरा, अश्रुंची झाडे-फुले, हमीदाबाई की कोठी आदि चर्चित नाट्यकृतियाँ रही हैं।

फारसीकल तथा विनोदी नाटक

जीवन में व्याप्त विसंगतियों से हँसते-हँसते साक्षात्कार करने की क्षमता व्यंग्य-शैली में होती है। मराठी में व्यंग्य की अपेक्षा विडंबना का प्रचलन अधिक रहा है। संगीत नाटकों के समय से ही कुछ नाटकों ने हास्य-व्यंग्य शैली को अपनाया है। लेकिन फार्स और विनोदी नाटकों की बाढ़ स्वातंत्र्योत्तर काल में ही आई। प्र०के० अत्रे का 'मोरुची मावशी', 'साष्टांग नमस्कार', बबन प्रभु के 'झोपी गेलेला जागी झाला', पळा, पळा कोण पुढे, पळे तो, वसंत कानेटकर का सूर्याची पिल्ले, जयंत दळवी का 'सख्खे शेजारी' आदि नाटकों में जीवन की विसंगतियों का सम्यक् दर्शन होता है। स्त्री और पुरुष संबंध इनके प्रमुख विडंबन विषय रहे हैं। 'बायको उडाली भुर', 'हनीमून एक्सप्रेस', 'डार्लिंग' आदि नाटकों के शीर्षक ही उनका स्वरूप स्पष्ट करते हैं। इस क्षेत्र में वसंत सबनीस विच्छा माझी पुरी करा तथा गंगाराम गवानकर का 'वस्त्रहरण', प्र०ल० भयेकर का 'पांडवों इलो रे इलो' आदि नाटक प्रमुख हैं।

प्रयोगधर्मी नाटक

इनमें कई शौकिया नाट्यदल अपने नाटकों की प्रस्तुति करते हैं। प्रतियोगिता के लिए कई नाटक लिखे जाते हैं। नाटक के आशय-विषय और प्रस्तुति के धरातल पर कई तरह के प्रयोग

किए जाते हैं। विजय तेंदुलकर, जयंत दलवी, रत्नाकर मतकरी, महेश एलकुंचवार, आलेकर आदि के नाटक अपनी प्रयोगधर्मिता के बल पर व्यावसायिक रंगमंच पर व्याप्त क्षोभप्रधान झूठे नाटकों की जड़ता को तोड़ने में समर्थ रहे हैं। प्र०ल० मयेकर, चेतन दातार, सुधीर कवळी, गो०पु० देशपांडे, दिलीप चित्रे, प्रशांत दलवी, माधव वझे, वृंदावन दंडवते, दिलीप घारे, दिलीप महालिंगे, दिलीप चित्रे आदि नाटककारों की नाट्यप्रतिभा का आविष्कार और परिष्कार इसी मंच पर हुआ है। विजय तेंदुलकर के 'शांतता', 'कोर्ट चालु आहे' तथा घासीराम कोतवाल, जयंत दलवी का 'पुरुष', चित्रा खानोलकर का 'एक शून्य बाजीराव', महेश एलकुंचवार का 'आत्मकथा', सतीश आलेकर का 'महानिर्वाण', गो०पु० देशपांडे का 'उद्ध्वस्त धर्मशाला', रत्नाकर मतकरी का 'लोककथा अठहत्तर' और माधव ओझे का 'चल रे भोपळ्या टूणुक-टूणुक' आदि इसके प्रमाण हैं।

मराठी में दलित नाटकों की भी एक लंबी परंपरा इन दिनों प्रगति-पथ पर है। डॉ० बाबासाहेब अंबेडकर के विचारों से प्रेरित इस आंदोलन ने लोकरंग मंच के रंगतत्वों को लेकर एक अकृत्रिम नाट्यानुभूति की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपने आपको उभारा है। दलित नाटककारों की एक लंबी परंपरा बन रही है, जिनमें प्रकाश त्रिभुवन, दत्ता भगत, प्रेमानंद गझबी, रामनाथ चव्हाण, अविनाश डोळस, शिल्पा मुंब्रीकर, योगीराज वाघमारे, प्रभाकर दूपारे आदि नाटककार दलित चेतना के नाटक के सृजन में लगे हैं।

हिंदी-नाटकों की परंपरा

हिंदी में नाटककार और रंगमंच, नाटककार और निर्देश-दर्शक-समीक्षक का आपसी संबंध नहीं बन पाया। निर्देशक और नाटककार के बीच पारसी नाटक और रंगमंच, बंगाल-महाराष्ट्र की तरह निरंतर रचनात्मक सरोकार न बन पाना हिंदी-नाटक की बहुत बड़ी ट्रेजेडी रही है, जिससे या तो नाट्यलेखक क्षुब्ध होकर मौन हो गए या अपनी मूल कथा-विधा में रचना करने लगे। इसका परिणाम नाटकों के मंचन के प्रति समर्पित अनेक नाट्य-संस्थाओं को भी भुगतना पड़ा। उन्हें या तो नाटकों के हिंदी-रूपांतरों या कथा-कृतियों के नाट्य-रूपांतरों का सहारा लेना पड़ा। फिर भी हिंदी में नाट्य-रचना बंद नहीं हुई। हिंदी में समकालीन अवधि (1985-2005) में नाटक बराबर लिखे जाते रहे हैं। गोविंदवल्लभ पंत का काशी का जुलाहा (1985) रामवृक्ष बेनीपुरी का अंबपाली (1985) (यद्यपि इसकी रचना 1940 के आसपास हुई थी)

स्वाधीनता के बाद की नाट्यरचना

इस पीढ़ी के नाटककारों में जगदीशचंद्र माथुर का रघुकुलरीति (1985) नामक नाटक प्रकाशित हुआ। यह नाटक 1974 में प्रकाशित दशरथनंदन की दूसरी कड़ी है। इन दोनों नाटकों में 'रामचरितमानस' का नाट्यरूपांतर प्रस्तुत किया गया है। इनके कोणार्क (1951), शारदीया (1959) और पहला राजा (1969) की तुलना में उनके ये दोनों नाटक कहीं नहीं ठहरते। विष्णु प्रभाकर भी इसी पीढ़ी के नाटककार हैं। उन्हें अपने मनोसामाजिक नाटक डॉक्टर (1958) की रचना से विशेष ख्याति मिली।

नाटककारों की इसी पीढ़ी में लक्ष्मीनारायण लाल परिगणनीय हैं। उनका पहला नाटक 'अंधा कुआँ' 1956 में प्रकाशित हुआ था। तबसे लेकर अपने जीवन के अंतिम दिनों तक वे नाट्यरचना और रंगमंच दोनों में बराबर सक्रिय रहे। उनके नया तमाशा (1982), शुरू हो गया नाटक (1983), बलराम की तीर्थयात्रा (1983), मनु (1984) आदि नाटक इसी कालावधि

में प्रकाशित हुए हैं। इन नाटकों में वस्तु और शिल्प दोनों स्तर पर इतनी विविधता है कि उनके नाटकों की केंद्रिय विशेषता के रूप में प्रयोगशीलता को ही रेखांकित किया जा सकता है। अमृतलाल नागर का एक नाटक, चढ़त न दूजो रंग (1982) के नाम से प्रकाशित हुआ है।

टेलिफिल्में तथा फिल्मों से नाटकों की तुलना

इसमें सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, सुरेंद्र वर्मा, हमीदुल्ला, शंकर शेष, सिद्धनाथ कुमार, गिरिराज किशोर आदि प्रमुख नाटककारों के नाटकों की तुलना टेलिफिल्मों से की जा सकती है। उन पर आगे क्रमशः प्रकाश डालेंगे—

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 1974 में 'बकरी' नाटक आया। नौटंकी शिल्प को अपनानेवाला, भ्रष्टाचार पर चोट करनेवाला यह नाटक बार-बार मंचित हुआ। उनके नाटकों में उन्होंने राजनेताओं, पुलिस, न्यायाधीश आदि की पोल खोली और इन क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार पर चोट की। अपने अंतिम नाटक में भी सर्वेश्वर ने लोकनाट्य की शैली को ही अपनाया। ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 1968 में 'शुतुरमुर्ग' नाटक प्रकाशित हुआ, तो वे एकाएक नाटककार रूप में प्रतिष्ठित हो गए। सुरेंद्र वर्मा 1972 में द्रौपदी शीर्षक नाटक से नाट्य-रचना में रत होने बाद निरंतर नाट्य-रचना करते रहे। छोटे सैय्यद बड़े सैय्यद का कथानक मुगलसम्राट मुहम्मदशाह के समय के सैय्यद बंधुओं की राजनीति पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक नाटक की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस नाटक में उस समय की अस्थिर, षड्यंत्रों से भी कुटिल और स्वार्थपूर्ण राजनीति को इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि उसमें हमारे अपने समय की राजनीति प्रतिबिंबित होती है। हमीदुल्ला सुरेंद्र वर्मा के ही समकालीन नाटककार हैं। बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक के प्रारंभ में अपने तीन नाटकों के संग्रह उलझी आकृतियाँ (1973) से सामने आएँ। शंकर शेष एक महत्वपूर्ण नाटककार के रूप में उभरकर सामने आए। उन्हें 'एक और द्रोणाचार्य' (1977) से विशेष ख्याति मिली। संख्या की दृष्टि से उन्होंने जितने नाटक लिखे हैं, उतने बहुत कम नाटककारों ने लिखे हैं। वर्तमान कालावधि में रक्तबीज (1982), खुजराहो का शिल्पी (1982), बाढ़ का पानी (1983), आधी रात के बाद (1983), पोस्टर (1983), चेहरे (1983) आदि नाटक प्रकाशित हुए। शंकर शेष के नाटकों में वस्तु और शिल्प दोनों की दृष्टि से प्रयोगशीलता विद्यमान हैं। नाट्यालोचक के रूप में अपनी पहचान बनानेवाले सिद्धनाथ कुमार नाट्यरचना में भी बराबर प्रवृत्त रहे हैं। वर्तमान कालावधि में उनके नाटक प्रकाशित हुए हैं जिनमें रास्ता बंद है (1981), मुर्दे जिएँगे (1981), अशोक (1984) आदि। गिरिराज किशोर का पहला नाटक 'नरमेध' नटरंग के जुलाई, 1970 के अंक में प्रकाशित हुआ था। तब से लेकर अब तक वे निरंतर नाट्य-रचना में प्रवृत्त हैं। उनके चेहरे-चेहरे किसके चेहरे (1983), केवल मेरा नाम लो (1984), जुर्म आयद (1987), काठ की तोप (2001) आदि नाटक प्रकाशित हुए हैं।

आधुनिक रंगमंचीय प्रविधि की अवधारणा

इसमें भीष्म साहनी, नंदकिशोर आचार्य, प्रभाकर श्रोत्रिय, कृष्ण बलदेव वैद आदि प्रमुख नाटककारों के नाटकों का उल्लेख किया जा सकता है। भीष्म साहनी इप्ता (जननाट्य संघ) से संबद्ध रहे हैं, लेकिन वे नाटककार के रूप में हानूश (1977) से सामने आए। हानूश के बाद कबीरा खड़ा बाजार में (1981), माधवी (1984) और मुआवजे (1993) नाटक प्रकाशित हुए।

एक गंभीर आलोचक और श्रेष्ठ कवि के रूप में माने जानेवाले नंदकिशोर आचार्य एक श्रेष्ठ नाटककार के रूप में भी इसी कालावधि में पहचान बनाई। उनके नाटक देहांतर (1987), पागलघर (1988), गुलाम बादशाह (1992), जिल्ले सुबहानी (2003) और किसी और का सपना। प्रभाकर श्रोत्रिय ने भी इसी कालावधि में नाटकों की सफलतापूर्वक रचना की है। उनके नाटक है इला (1989), साँच कहूँ तो (1993) और फिर से जहाँपनाह (1996)। 'इला' का कथानक श्रीमद्भागवत में वर्णित सद्युम्न की कथा और बुध के जन्म की कथा पर आधारित है। साँच कहूँ तो का कथानक बीसलदेव रासो से लिया गया है और 'फिर से जहाँपनाह' का पहले अंक कथानक वर्तमान प्रजातांत्रिक सत्ता से संबद्ध है और दूसरे अंक का कथानक मध्यकालीन राजतंत्र से। उनके नाटकों का लक्ष्य एक ही है—राजसत्ता के चरित्र का उद्घाटन। कृष्ण बलदेव वैद के नाटक हैं—भूख आग है (1998), हमारी बुढ़िया (2000), परिवार अखाड़ा (2002), मोनालिजा की मुस्कान (2003), कहते हैं जिसको प्यार (2004)।

हिंदी की अन्य-अन्य बोलियों एवं भाषाओं में नाट्यशैलियों के विविध रूप प्रचलित हैं। उनमें भोजपुरी लोकनाट्य की शैली विदेशिया, मैथिली गीतिनृत्य नाटक की शैली जाट-जट्टिन, मैथिली लोकनाट्य की विद्यापतियाँ आदि प्रमुख हैं। उन पर भी आगे क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है।

भोजपुरी लोकनाट्य विदेशिया

हृषीकेश सुलभ अपनी पुस्तक रंग अरंग में लिखते हैं कि तौयब हुसैन ने भोजपुरी की नाट्य-परंपरा को दो वर्गों में विभाजित किया है—1. लोकनाट्य 2. साहित्यिक।

लोकनाटकों के विशाल भंडार से प्रतीक रूप में उन्होंने डोमचि और भिखारी ठाकुर के नाटक विदेशिया को चुना है।⁶ विदेशिया भोजपुरी की एक विलक्षण कलात्मक अभिव्यक्ति है। इसके संस्थापक बिहार के प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार भिखारी ठाकुर को माना जाता है। भिखारी ठाकुर वि.सं. 1944 में बिहार के सारण जिले के कुतुबपुर गाँव के एक निर्धन हज्जाम परिवार में उत्पन्न हुए। उन्होंने अपनी मंडली बनाई और उसके लिए विदेशिया नाटक लिखा। संवत् 2028 में भिखारी ठाकुर का देहांत हो गया। लेकिन उनके पश्चात् यह नाट्यशैली चलती रही विदेशिया शैली एक प्रकार का गीतिनाट्य है, लेकिन इसके सामान्य संवादों में भोजपुरी गद्य भी प्रयुक्त हुआ है। उसमें लिखे एवं गाए जानेवाले गीत लोकधुनों पर आधारित हैं।

मैथिली गीति-नृत्य-नाट्य जाट-जट्टिन

सांस्कृतिक रूप से समृद्ध और प्रतिभासंपन्न मिथिला के गाँवों से आजादी के बाद सबसे ज्यादा पलायन हुआ है। जिस मिथिला ने हिंदी-संसार और संस्कृति को कवि नागार्जुन जैसा परंपराभंजक दिया, आज वहाँ मृत परंपराओं का अलंकरण की तरह उपयोग करते हुए लोग अघाते नहीं। हृषीकेश सुलभ जी के मतानुसार, 'संस्कृत नाटकों में मैथिली के गीत और संवाद प्रक्षेपित हुए। उमापति उपाध्याय की पारिजातहरण और ज्योतिरेश्वर का धूर्तसमागम जैसे नाटक रचे गए तथा वर्णरत्नाकर जैसे लक्षणग्रंथ की रचना हुई।'⁷

जनभाषा मैथिली में अनेक लोकनाट्य परंपराओं का प्रचलन रहा है। मैथिली लोकनाट्य-विद्यापतियाँ, उत्तरी बिहार के मिथिला प्रदेश की लोकनाट्य परंपरा है—जाट-जट्टिन आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

मैथिली लोकनाट्य विद्यापतियाँ

विद्यापति के शृंगारप्रधान गीतों को इसमें अभिनय से मिला लिखा गया। बाद में परिजात हरण (उमापति) की कथा के आधार पर इस लोकनाट्य को गठित किया गया। इसकी प्रदर्शन-शैली में बंगाल की यात्रा के अंश भी विद्यमान दिखते हैं।

जाट-जट्टिन

यह उत्तरी बिहार के मिथिला प्रदेश की लोकनाट्य परंपरा है। इसे सैकड़ों वर्ष पुरानी माना जाता है। मिथिलांचल के गाँव-घर की बेटियों की यह कला-रुचि रही है। स्त्रियों के बीच सीमित रहने के कारण यह कला रूप अधिक विस्तार नहीं पा सका है। वर्तमानकाल में भी कभी-कभी सामूहिक रूप से इसका आयोजन उत्तर बिहार में होता रहता है। जाट-जट्टिन कला रूप को उत्तर बिहार के लोकगीत और आंचलिक नाटक के बीच की अवस्था की रचना माना जा सकता है। जावेद इकबाल का मानना है कि 'जट-जट्टिन बिहार के सर्वप्रिय लोकनृत्यों में से एक है। बिहार के सुदूर ग्रामीण अंचलों में रात भींगने के साथ-साथ इस लोकनृत्य की गूँज आज भी कानों में रंग घोलती है। इस लोकनृत्य के उद्गम-स्थल के बारे में अब तक कोई दस्तावेज प्रमाण नहीं मिलता। कुछ लोग इसका संबंध शिव और पार्वती से जोड़ते हैं। कुछ लोग इसका उद्गम-स्थल शाहपुर पटोरी के नजदीक के गाँव अमौन जलालपुर को बताते हैं। ऐसी मान्यता है कि चौदहवीं सदी के आरंभ में हरियाणा के कुछ जाट परिवार आकर यहाँ बिहार के गाँव में बसे थे। वे उस समय जो गीत गाते थे, वहीं कालांतर में जट-जट्टिन कहलाया। आरंभ में इसकी भाषा जो भी रही हो लेकिन कालांतर में वह स्थानीय लोकभाषा में बदल गया और इसमें आंचलिक जीवन के रंग शामिल होते गए। इस तरह जट-जट्टिन लोकनृत्य के स्वरूप में ढलकर बिहार के लोकजीवन का आयना बन गया। जट-जट्टिन इस दृष्टि से भी अनूठा है कि यह पूरी तरह महिलाओं का नृत्य है। इसमें पुरुष पात्रों की भूमिका भी महिलाओं का एक दल करता है। बताया जाता है कि यह नृत्य बरसात के मौसम में इंद्रदेवता को रिझाने के लिए किया जाता है।⁸

केरल के रंगमंच का परामर्श

कुट्टू या कूथु (बानजी) और कुडियट्ट या कुट्टिपट्टम केरल के प्राचीन नाट्य कलाओं में आते हैं। साहित्य की वह विधा, जिसमें अभिनय की प्रधानता होती है, नाटक कहलाती है।

सुधांशुकुमार चक्रवर्ती के मतानुसार 'कुट्टू या कूथु' एकल अभिनय-कला है, जिसमें एक ही कलाकार होता है। चक्रियार ने इस भूमिका को सभी पात्रों के बदले केवल सहवस्तु मजीरा (जिसे मिजाहाबू कहा जाता है, तांबे की धातु का बना ढोल जो गले से लटकाया जाता है) के साथ ही कहानियों को गीतों के रूप में ढालकर श्लोक के जैसा बीच में तोड़-तोड़कर उदाहरण के साथ व्याख्या करत हुए प्रस्तुत करता (मि० जहाबू को केरल के नाकम्बयार जाति के लोग बजाते हैं। नागियार नाकम्बयार जाति की महिलाओं को कहा जाता है।) वह दर्शकों को पूरी तरह से आनंदविभोर कर देता है तथा खुद भी बंधनमुक्त होकर जोरदार चुटकुले यहाँ तक कि उच्च पद के पादरियों के खर्च-व्यय को व्यंग्य के रूप में उदाहरण सहित प्रस्तुत किया जाता तथा शब्द ऐसे होते कि पलटकर जबाब देना संभव नहीं था।⁹

सुधांशुकुमार चक्रवर्ती केरल रंगमंच पर प्रकाश डालते हुए आगे लिखते हैं कि

‘कुटियट्टम या कुडियट्टम एक नाट्य-संबंधी कला है, जिसमें पूरी तरह से नाटक प्रस्तुत किया जाता है या उसके चुने हुए भाग किए जाते हैं। एक ही समय में दो या तीन कलाकार मंच पर आते हैं। चकियार पुरुष चरित्र की भूमिका करते हैं तथा नांगियार मंजिरा का साथ देती श्लोकों का क्रम से वर्णन करती, जिसे संस्कृत अनुवादों को चर्चा कर फिर ठीक ढंग से व्यवस्थित करता है। इसमें एक विदूषक भी होता है।¹¹⁰

इस प्रकार भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्र की प्रादेशिक बोलियों में नाट्य की भिन्न-भिन्न शैलियाँ आज भी प्रचलित दिखाई देती हैं, जो तुलनात्मक अनुसंधान की सबसे बड़ी उपज सिद्ध हो सकती हैं।

सारांशतः हम कह सकते हैं कि भारतीय भाषाओं का नाट्य-साहित्य अत्यंत समृद्ध है। आवश्यकता है तुलनात्मक अनुसंधान के माध्यम उसे पाठकों के सामने उजागर करने की। प्रस्तुत आलेख के बहाने हमने उसकी एक झलक मात्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

संदर्भ

1. डॉ. जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श, पृ० 55
2. डॉ. अशोक उपाध्याय, पंडित राधेश्याम कथावाचक की नाट्यभाषा का सामाजिक रूप, शोधदिशा, त्रैमासिक पत्रिका अंक 20 अक्टूबर-दिसंबर 2012, पृ० 68
3. डॉ. श्रीकृष्णलाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 206
4. डॉ. जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श, पृ० 141
5. वही
6. हृषीकेश सुलभ, रंग अरंग, पृ० 168
7. हृषीकेश सुलभ, रंगमंच का जनतंत्र, पृ० 65
8. जावेद इकबाल, जट-जटिन बिहार के लोकजीवन की गाथा : रंग अभियान अंक 15, पृ० 27-28.
9. सुधांशुकुमार चक्रवर्ती, केरल रंगमंच : रंग अभियान अंक 15, पृ० 35
10. वही

विभाग प्रमुख हिन्दी
भाषा अभ्यास प्रशाला एवं अनुसंधान केंद्र
उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय, जलगाँव 42500
मो० 09422217600
ई-मेल : sunilkulkarni@gmail.com@
कार्यालय 0257-2257459

हरिशंकर आदेश के काव्य में जीवनमूल्य

डॉ० सुनीता देवी

सहायक प्रोफेसर हिंदी,
के०वी०ए०डी०ए०वी० कॉलेज फॉर वूमैन
करनाल (हरियाणा)

प्रवासी साहित्यकारों में प्रो० हरिशंकर आदेश एक ऐसे प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार हैं, जिन्होंने गद्य और पद्य दोनों विधाओं में लेखनी चलाकर हिंदीभाषा और साहित्य को समृद्ध किया है। पद्य के क्षेत्र में सतसई लेखन परंपरा भारत में अत्यंत प्राचीन है। संस्कृत और अपभ्रंश से होती सतसई-परंपरा की सरिता हिंदी में प्रवेश कर गई। हिंदी के आदिकाल से आधुनिककाल तक अनेक सतसइयों की रचना हुई है। प्रो० हरिशंकर आदेश ने भी इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए चार महाकाव्यों, अनेक खंडकाव्यों के साथ-साथ आठ दोहा सप्तशतियों की रचना कर हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। कवि ने स्वयं लिखा है, 'अपनी ट्रिनिडाड और अमेरिका की यात्राओं के मध्य समय यापनार्थ सृजित किया है।' फिर भी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से 700 दोहों का संग्रह 'सुरभि सप्तशती' एक सशक्त रचना है। उनकी इस रचना को पढ़कर हमें आदेश जी, कबीर, तुलसी, रहीम, बिहारी जैसे प्रसिद्ध हिंदी-कवियों की श्रेणी में खड़े दिखाई देते हैं।

हरिशंकर आदेश ने अपने काव्य में भक्ति, नीति, प्रेम, ज्ञान, सत्य, अहिंसा, दया सहानुभूति, सत्संगति, परोपकार, वसुधैव कुटुंबकम् की भावना आदि जीवनमूल्यों का चित्रण किया है। उन्होंने तुलसीदास की भाँति दुष्टजनों और सज्जनों का चित्रण करते हुए लिखा है—

दुष्टों को कर दूर से, तू दंडवत प्रणाम।

हितेच्छुओं से छल न कर, दुःख में आएँ काम।³

कवि उदारहृदयी व्यक्ति को ही बड़ा व्यक्ति मानते हैं—

बड़ा वही है विश्व में, जिसका हृदय उदार।

रहे मनो में, अधर पर, गुण गाए संसार।⁴

महाकवि आदेश जी 'सुरभि सप्तशती' में कर्महीनता एवं भाग्य के भरोसे बैठे रहने को पतन का कारण मानते हैं—

भाग्य-भरोसे बैठकर, करे न रंच उपाय।

शीघ्र हास होकर रहे, कोई नहीं सहाय।⁵

डॉ० नरेश मिश्र के शब्दों में, 'जमुना सप्तशती में मानव-जीवन के विविध संदर्भों के भावाकर्षक चित्रांकन से सहृदय कवि की बहुज्ञता का स्पष्ट बोध होता है। इस सप्तशती में जहाँ अध्यात्म-चिंतन की ऊर्ध्वभूमि है, प्रकृति की मोहिनी छटा है, समाजोन्नयन हेतु दिशाबोधक

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ हैं, विश्व के विस्तृत फलक पर चकाचौंध करने वाला पाश्चात्य परिवेश है, तो हृदय में तोष देने वाला आश्रम का शुचि-शांत परिवेश भी है।⁶

स्वस्थ शरीर को ही सबसे बड़ा सुख माना जाता है तथा रोगी व्यक्ति का जीवन अपने साथ-साथ दूसरों के लिए भी कष्टकारी होता है। इसी यथार्थ का वर्णन महाकवि ने किया है। कहा भी जाता है-पहला सुख निरोगी काया-

ध्यान न देकर स्वास्थ्य पर, भोगा भोग-विलास।

अपनी करनी से छिना, जीवन का उल्लास।⁷

स्वस्थ समाज की कल्पना करते हुए कवि विश्व में मानव-प्रेम का साम्राज्य स्थापित करने की कामना करते हैं-

मानवता का हो सदा, संस्कृति में साम्राज्य।

मानव-मानव प्रेम हो, अमर और अविभाज्य।⁸

समाज में विवाह-विच्छेद की घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं, परंतु महाकवि हरिशंकर आदेश विवाह को दो आत्माओं का मिलन और जन्म-जन्मांतर का साथ मानते हैं-

दो आत्माओं का मिलन, पाणि-ग्रहण संस्कार।

जन्म-जन्म का संग है, सुख का पारावार।⁹

महाकवि मानव-जीवन को क्षणभंगुर मानते हुए इसे क्षणभर का खेल बताते हुए मनुष्य के जीवन की तुलना दीप से करते हुए लिखते हैं-

नश्वर काया-दीप की, है क्षण-भर का खेल।

प्राण-वर्तिका जल रही, ले साँसों का तेल।¹⁰

कवि नवचिंतन के प्रस्फुटन का स्वर देते हुए व्यक्ति को जाति, धर्म और संप्रदाय की संकीर्ण विचारधारा से ऊपर उठकर विश्वबंधुत्व, भाईचारे की भावना और नारी-सम्मान का आह्वान करते हैं और नवजीवन मूल्यों की स्थापना पर बल देते हैं-

पूर्ण श्रद्धा से करें नव नीड़ का निर्माण हम।

फूँक दें नव कल्पनाओं में नये ही प्राण हम।¹¹

विश्व में सर्वत्र निराशा, क्रूरता, अमानवीयता, कटुता, वैरभाव फैल रहा है। भाईचारे की भावना समाप्त होती जा रही है। ऐसे समय में वाणी में संयम रखकर मधुर वचनों से कटुता को रोका जा सकता है-

वाणी से हो मित्रता, वाणी से ही बैर।

अपना बन जाए जगत, या बन जाए गैर।¹²

महाकवि आदेश आज के भौतिकतावादी युग में यंत्रीकरण को भी समाज के लिए हितकर नहीं मानते हैं। इन्हीं यंत्रों के द्वारा मानव-समाज में अश्लीलता बढ़ती है-

कंप्यूटर पर देखकर, दृश्य अत्यंत अश्लील।

अच्छे-अच्छों का अपल, भंग-क्षण हो शील।¹³

कवि कान्वेंट शिक्षा को भारतीय संस्कृति के लिए घातक मानते हैं। यह शिक्षा मीठे जहर की भाँति भारतीय संस्कृति को नष्ट कर रही है-

कान्वेंट शिक्षा करे, भारतीयता नाश।

मधुर गरल-सी कर रही, संस्कृति सत्यानाश।¹⁴

आज विश्व आतंकवाद से जूझ रहा है। नित नए हथियारों का निर्माण एवं परीक्षण किया जा रहा है, जिससे विश्वशांति को खतरा पैदा हो गया है। कवि का मानना है कि हथियारों के निर्माण रोकने से ही मानव के अस्तित्व को बचाया जा सकता है।

आधुनिक युग में आतंकवाद विश्वभर के देशों के लिए बड़ी चुनौती है। आज मनुष्य कहीं भी सुरक्षित नहीं है। इसी विकराल समस्या की ओर संकेत करते हुए कवि ने लिखा है—

देश-देश में हो रहे, विध्वंसक बम-कांड।

आतंकवादी घूमते, बनकर छुट्टा सांड।¹⁵

‘विवेक सप्तशती’ में एक ओर वर्तमान भारतीय समाज की विकृतियों के बहिष्कार पर बल दिया है तथा दूसरी ओर वैश्विक स्तर पर धर्मों, संप्रदायों को समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इसी ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ की भावना को प्रकट करते हुए आदेश जी लिखते हैं—

हे जगजननी, दो हमें ऐसे शुद्ध विचार।

भेदभाव भूलें सभी, विश्व बने परिवार।¹⁶

आज नारी सशक्तिकरण का युग है। आधुनिक भारतीय नारी प्रत्येक क्षेत्र में अपना परचम लहरा रही है। इसी संदर्भ में कवि लिखते हैं—

देखा-देखी नरों की, बनी नारियाँ शेर।

राजनीति में हैं डट्टीं, बनकर आज दिलेर।¹⁷

महाकवि आदेश जी की अभिलाषा है कि स्वस्थ समाज एवं राष्ट्र का निर्माण हो। स्वास्थ्य को पाने के लिए आहार-विहार में सजगता, नियमितता आवश्यक है—

भोजन अवगाहन, शयन, भजन न नियमित होय।

चाहे अमृत पान कर, स्वास्थ्य न संयत होय।¹⁸

आज की युवा पीढ़ी विवेकहीन होती जा रही है। अतः इनसे वाद-विवाद करने से बचना चाहिए—

युवकों से जूझो नहीं, करो न वाद-विवाद।

प्रायः विवेक शून्य हो, करते हैं संवाद।¹⁹

आज के दौर में भौतिकतावादी युग में समलैंगिकता का प्रचार हो रहा है। महाकवि आदेश जी समलैंगिकता को अमानवीय और चारित्रिक पतन मानते हैं—

मात्र अमानुषता है यह, नैतिकता का हास।

नारी-नारी और नर, नर संग करें विलास।²⁰

अतः कहा जा सकता है कि हरिशंकर आदेश के काव्य में जीवनमूल्यों का पूर्णतः समावेश हुआ है। उन्होंने जीवन के प्रत्येक प्रसंग पर अपनी लेखनी चलाई है।

संदर्भ

1. डॉ॰ नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
2. हरिशंकर आदेश, सुरभि सप्तशती, अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, मुरादाबाद, 2008 (पूर्व कथन) पृ० 11

3. वही, पृ० 17
4. वही, पृ० 17
5. वही, पृ० 19
6. डॉ० नरेश मिश्र, भूमिका, जमुना सप्तशती, पृ० 10
7. हरिशंकर आदेश, सुरभि सप्तशती, पृ० 23
8. वही, पृ० 24
9. वही, पृ० 24
10. वही, पृ० 30
11. हरिशंकर आदेश, आहत आकांक्षाएँ, पृ० 26
12. हरिशंकर आदेश, सुरभि सप्तशती, पृ० 48
13. वही, पृ० 51
14. वही, पृ० 51
15. वही, पृ० 53
16. हरिशंकर आदेश, विवेक सप्तशती, पृ० 97
17. वही, पृ० 74
18. वही, पृ० 74
19. वही, पृ० 89
20. वही, पृ० 89

पत्नी श्री अनंतराम
गांव व डाकखाना सलारपुर
तहसील थानेसर (कुरुक्षेत्र) हरियाणा
136118
मो० 09416218757

रवींद्रनाथ त्यागी : व्यक्तित्व के रंग

डॉ० पंकज डी० पटेल

एम०ए०, एम०फिल०, पीएच०डी०

प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० कमलकिशोर गोयनका श्री त्यागी जी के साथ एक सप्ताह रहे। उन्होंने त्यागी जी की कुछ रचनाओं के संकलन के रूप में एक ग्रंथ प्रकाशित किया। त्यागी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्होंने लिखा है—‘त्यागी जी एक जिंदादिल स्पष्टवादी, विनयी, हँसमुख, निर्द्वंद्व, सरल मनुष्य हैं। आज के समय में इन गुणों को बचाए रखना कितना कठिन है, यह हम सभी जानते हैं। त्यागी जी के सच्चे मनुष्य होने का एक और प्रमाण यह है कि मैंने उन्हें राग-द्वेष-ईर्ष्या से पूर्णतः मुक्त पाया। जो लोग साहित्यकार को एक अच्छे मनुष्य के रूप में देखना और जानना चाहते हैं, उन्हें त्यागी जी को निकटता से देखना-जानना चाहिए।’¹

त्यागी जी के पास खूबसूरत व्यक्तित्व है। जब वे सेंट्रल गवर्नमेंट के सीनियर ऑफिसर थे, तब उनका ठाठ ही निराला था। उन दिनों उन्हें हजारों लोग सलाम करते थे। उनके बंगले के दरवाजे पर चार-चार सिपाही नियुक्त किए गए थे। उनके द्वारा त्यागी जी को मिलने आने वालों की जामा-तलाशी भी की जाती थी।

जब वे सर्दी में लंबा ओवरकोट, मौजे, जूते, ऊनी टोपी, मोटे फ्रेम का चश्मा पहनकर ड्राइंग रूम में सोफे पर बैठ जाते थे, तब हर एक के आकर्षण का केंद्र बन जाते थे। डॉ० सुरेखा शहापुरे की पुस्तक में उनके संबंध में लिखा है—‘ऐसे लहीम-सहीम व्यक्तित्व के मालिक की जिस पर हर ड्रेस फबे। जो फर की टोपी हो, ऊनी टोपी डाले, हैट पहिन ले या फिर गंजे सर के साथ ही हो ले, हर रंग में ऐसा दिलकश लगे कि वाह...। कौन कहता है बुजुर्गियत की अपनी सेक्स अपील नहीं होती। ऐसा भोला-भाला-सा, भली-भली-सी सूरत वाला कि जिसकी आँखों में पूरा जमाना डूब जाए, ऐसी गहराई...।’²

त्यागी जी पर लिखते समय हरिशंकर परसाई की रचना ‘एक के भीतर दो आदमी’ बेखटक याद आती है। त्यागी जी निजी जीवन के भयंकर अँधेरे से लड़ते रहे। जीवन की कुंठाओं तथा विसंगतियों के साथ वे अनेक जिंदगियों को जीते रहे। अतः एक साथ विभिन्न जिंदगियों को जीने से उनका व्यक्तित्व संपूर्ण बना है। उन्होंने सृष्टि की उदासीन चिरंतनता से प्रेरणा पाकर अपने व्यक्तित्व में अनेकानेक इंसानी तत्त्वों को पिरोया है। त्यागी जी अपने बारे में ‘आत्मलेख’ में लिखते हैं—‘इस आदमी की खाल के भीतर भी कई इंसान एक साथ छिपे हैं और कुल मिलाकर जो हालत है वह काफी दिलचस्प है, दयनीय और पेचीदा है।’³ त्यागी जी अपने जीवन को एक साथ जीने में विवश रहे। दुख एवं संघर्ष को झेलते वे खुद न हँसकर दूसरों को हँसाते रहे। अतः उनका

व्यक्तित्व असामान्य था। पर, उनकी खासियत है कि वे स्वयं को सामान्य ही घोषित करते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है—‘मैं एक सामान्य व्यक्ति ही रहा, पर मैं फिर भी भगवान के प्रति बुरी तरह कृतज्ञ हूँ। मैं सौम्य, शालीन, संप्रान्त, शिष्ट, सरल, कर्मठ, बुद्धिमान और हँसमुख व्यक्ति हूँ।’⁴ उन्होंने ‘आत्मलेख’ शीर्षक रचना में अपने व्यक्तित्व के कुछ रूपों का परिचय दिया है।

डॉ० कमलकिशोर गोयनका से, जो त्यागी जी के अत्यंत निकट थे, अपने अनुसंधान हेतु मैंने 21 फरवरी 2010 की शाम 6 बजे दूरभाष पर बातचीत की। बाद में पत्राचार भी हुआ। उन्होंने त्यागी जी की स्मरणशक्ति के बारे में जो बताया, उससे मैं अभिभूत हुआ। लेखकों के नाम, किताबों के नाम, संस्करण, प्रकाशक, महीना, वर्ष, पेज नंबर, किताब की कीमत, किसने कौनसी किताब उन्हें उपहारस्वरूप दी, किताब के किस पन्ने के किस अनुच्छेद में क्या है? इन सबके बारे में मुझे ठीक-ठीक बता दिया। सुनकर लगा उनकी स्मरणशक्ति के लिए दाद देनी चाहिए। मुहावरे, धर्म, दर्शन, इतिहास इन सबके प्रति उनका ज्ञान देखकर उन्हें दिमागी किले का स्मरणशक्ति वाला बुलंद बुर्ज ही कहा जाना चाहिए। उनकी एक और खासियत यह है कि वे अपनी हर बात निर्लिप्तता तथा तटस्थ भाव से प्रकट करते हैं।

त्यागी जी विश्वास के साथ कहते थे और दावा भी करते थे कि ‘डिप्रेशन’ के लिए बहुत दवाई खा चुके हैं। वे गहन अवसाद के क्षणों में सबसे बेहतर व्यंग्य रचना लिखते थे। त्यागी जी शब्दों में—‘इतना मैं अलबत्ता जरूर बताना चाहता हूँ कि मैं इसलिए नहीं हँसता हूँ कि मैं रो नहीं सकता। मैं बखूबी रो सकता हूँ और इतनी मात्रा में रो सकता हूँ कि शायद पूर्वी उत्तर प्रदेश का सूखा भी किसी हद तक समाप्त हो जाए। मगर बात सिर्फ इतनी है कि मैं आपके सामने रोना चाहता नहीं।’⁵ अतः त्यागी जी ने अपने रुदन को भीतर सायास रोकते हुए संसार को उत्कृष्ट ‘हास्य का वरदान’ प्रदान किया है। यह उनकी मानवीय उदात्तता ही है।

अभावग्रस्त शैशव और संघर्षमय छात्र-जीवन के अनुभवों ने त्यागी जी के व्यक्तित्व को ‘मानवीय उदात्तता’ प्रदान की है। शशि मिश्र के शब्दों में—‘यथार्थ की विसंगतियों पर परसाई सीधे-सीधे प्रहार के पक्षधर हैं। जोशी का साहित्यकार कलात्मक अभिव्यंजना के नित नए प्रयोग करने में लगा हुआ है, इन सबसे अलग त्यागी जी खुलकर हँसने एवं निश्छल चोट करने में विश्वास करते हैं। अपने भीतर अश्रुरूपी समुद्र का खारापन सँजोए वे समाज को मात्र तरल शीतलता का अक्षुण्य दान देने में रत हैं।’⁶ त्यागी जी की इस महानता को अनेक लोगों ने सराहा है, पर वे हमेशा आत्ममुग्धता से दूर रहते हैं।

अनेक समीक्षकों ने उनकी रचनाओं की प्रशंसा की है। उन्हें महानतम ‘व्यंग्यकार’ घोषित किया है, पर वे बड़ी विनम्रता और स्पष्टवादिता के साथ समकालीन व्यंग्यकारों में हरिशंकर परसाई को प्रथम स्थान देते थे, दूसरा शरद जोशी को और तीसरा स्थान श्रीलाल शुक्ल को प्रदान करते थे। इसके बाद वे अपना स्थान मानते थे। हरिशंकर परसाई ने एक बाद उनकी बेहद तारीफ की, परंतु इसे उन्होंने हरिशंकर परसाई की महानता माना। इतना ही नहीं परसाई को उन्होंने एक मात्र ‘अंतर्राष्ट्रीय स्तर के लेखक’ के रूप में घोषित किया। त्यागी जी आत्ममुग्धता से दूर रहकर, हमेशा दूसरों के प्रति उदार और स्नेहपूर्ण रुख अपनाते थे।

त्यागी जी अध्ययन गहन था। अतः उनका ज्ञान असामान्य था। कबीर से लेकर निराला तक और पद्माकर से लेकर चिरकीन तक के छिपे हुए काव्यशास्त्र को वे अपनी रचनाओं में

पिरोते जाते थे। उन्हें अन्य विषयों की भी काफी जानकारी थी। व्यंग्यों में उद्धरण, श्लोक-शायरी, कहावतें, मुहावरे, शब्दों की जादूगरी, बौद्धिकता, रोचकता आदि का प्रयोग उनके गहन अध्ययन का परिचय करा देता है। उन्हें असामान्य ज्ञान भयानक पढ़ाकू वृत्ति से प्राप्त हुआ था। उन्होंने संस्कृत, हिंदी, मराठी, उर्दू, अँग्रेजी का साहित्य पढ़ा था। उन्होंने अनुवाद की सहायता से बंगला, मैथिली और बाकी क्षेत्रीय भाषाओं के महान ग्रंथों को पढ़ा था। साथ ही संसार की बाकी भाषाओं की प्रमुख रचनाएँ पढ़ीं और विदेशी हास्य-व्यंग्य लगभग सारे ही पढ़े थे। संस्कृत साहित्य के वे अनन्य पाठक थे। परिणामतः उर्दू श्लोक-शायरी, अँग्रेजी क्लासिक्स का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इतिहास और दर्शनशास्त्र में उनकी रुचि थी। दैनिक समाचार-पत्र, पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकों के महत्वपूर्ण अंशों को रेखांकित कर वे उनका ध्यानपूर्वक मनन करते थे।

त्यागी जी में साहित्य-प्रेम बेहद था। वे हमेशा अच्छी किताब खरीदना चाहते थे। उन दिनों के अपने अनुभवों के बारे में वे लिखते हैं—‘साहित्य का प्रेम उन दिनों भी था और इतवार को मैं और मेरी पत्नी प्रायः कुतुबमीनार देखने भी जाया करते थे। जब कभी कोई अच्छी किताब खरीदने की इच्छा होती थी और पास में मुद्रा नहीं होती थी तो कुतुबमीनार के ऊपर से कूदकर आत्महत्या करने की तबीयत किया करती थी।’

पाठशाला में उन्होंने लघुसिद्धांत कौमुदी, अमरकोष, अवकहडा चक्र, भर्तृहरि के शतक, तर्कसंग्रह, पंचतंत्र, चंद्रालोक, रघुवंश, कुमारसंभव, दशकुमारचरित, नागानंद नाटक, हर्षचरित, उत्तररामचरित और कठोपनिषद पढ़े थे। लाला तुलाराम के पुस्तकालय से चंद्रकांता, चंद्रकांता संतति, भूतनाथ, लाल पंजा, भुतही सुंदरी, जासूसी कुत्ता, दो नकाबपोश, काजल की कोठरी, लंदन रहस्य आदि किताबें उन्होंने पढ़ी थीं। अपने साहित्य प्रेम के संबंध में त्यागी जी ने अपनी रचना ‘हिंदी साहित्य में मुझे क्या प्रिय है’ में विस्तृत रूप से लिखा है। उन्हें सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर की रचनाएँ प्रिय थीं। निराला के गीत उन्हें पसंद थे। त्यागी जी गीतों को पंचामृत मानते थे। इस दृष्टि से उन्हें अज्ञेय जी की ‘झील का किनारा’ नामक कविता प्रिय थी। बच्चन और उनकी पीढ़ी के केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, भवानीप्रसाद मिश्र भी उन्हें प्रिय थे। ठाकुरप्रसादसिंह तथा विनोदचंद्र पांडेय भी उनके प्रिय कवि थे। पांडेय जी को वे नितांत सच्चा कवि मानते थे। उनके अनेक काव्य-संग्रहों में से एक काव्य-संग्रह ‘लाल फूलों की टहनी’ में ‘एक था राजा’ नामक खंड से त्यागी जी ने काफी प्रेरणा ली।

सादगी त्यागी जी के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग था। उनमें वरिष्ठ व्यंग्यकार होने का कोई अहंकार नहीं था। उनमें एक उच्च अधिकारी होने का रौब-दाब भी दिखाई नहीं देता था। उनका निश्छल और भद्र हास्य तथा साथ सभी के लिए सुलभ था। कहीं कोई दुराव-छिपाव नहीं। जो कुछ है, खुली किताब-सा। वे अपनी सादादिली पर कुर्बान थे। उन्होंने बड़े भोलेपन से लिखा है—मैंने सही वक्त पर ही पहचान लिया था कि मैं व्यंग्यकार नहीं बन सकता। इसके बावजूद मैं व्यंग्य के क्षेत्र में आया और इस दुर्घटना का परिणाम आपके सामने है। कुछ लोग दबी जुबान से कहते हैं कि परसाई और जोशी मुझसे अच्छा लिखते हैं। बताइए कि यदि मैं इस क्षेत्र में नहीं होता तो ये दोनों किस लेखक की अपेक्षा अच्छा लिखते? मापदंड किसे बनाया जाता?® त्यागी जी की सादगी के बारे में विनोदशंकर शुक्ल ने अपनी शैली में लिखा है—‘सादगी उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। वैसे ही जैसे लहरें सागर का अनिवार्य हिस्सा होती हैं। उनकी सादगी पर

बार-बार सड़के जाने की इच्छा होती है। कई बार तो उनकी सादी बयानी नूरजहाँ की उस मासूमियत को मात करती है जिसमें जहाँगीर के यह पूछने पर कि कबूतर कैसे उड़ा, उसने हाथ का दूसरा कबूतर उड़ाकर जवाब दिया था, ऐसे...।⁹

साफगोई त्यागी जी की एक और विशेषता थी। अपनी गलतियों तथा कमियों को वे निसंकोच बता देते थे। किसी लेखक की कोई रचना पसंद न आने पर अत्यंत साफ शब्दों में अपनी नाराजगी व्यक्त करते थे, परंतु किसी लेखक की रचना पसंद आने पर सौ जान से उस पर न्योछावर भी होते थे। पुस्तकों का संग्रह उनका प्रिय शौक रहा था। अपने परिचितों को वे अपनी लाइब्रेरी बच्चों की-सी जिज्ञासा से दिखाते थे। वे साफ-साफ यह भी बताना नहीं भूलते थे कि वे न तो किसी से किताब पढ़ने के लिए माँगते हैं और न ही देते हैं। उनकी लाइब्रेरी, उनका अध्ययन कक्ष, टेबल, टेबल पर रखा लैंप, अलमारियों में से झाँकती कतारों में लगी अनगिनत किताबें, रजिस्टर, टेबल की दराजों में लगी पांडुलिपियाँ सब में उनका साफ-सुथरापन दिखाई देता था। यहाँ तक कि मकान और उसके चारों तरफ के माहौल में भी एक प्रकार का साफ-सुथरापन एवं शांति है।

त्यागी जी के हर कार्य में अनुशासन तथा योजनाबद्धता थी। यह विशेषता शायद 'अफसरियत' से उन्हें प्राप्त हुई थी। दफ्तर का काम वे बड़ी ईमानदारी तथा सही समय पर करते रहे। पत्रों का उत्तर देने के मामले में वे बहुत सतर्क थे। पत्र लिखने में भी वे अनुशासन बरतते थे। अपनी हर किताब की पांडुलिपि भी वे बेहद अनुशासन और प्लानिंग से तैयार करते थे। पांडुलिपि किस प्रकाशक के पास प्रकाशित करने के लिए भेजनी है? कब तक वह किताब बाजार में आएगी? किताब किसे समर्पित करनी है? ये सब बातें निश्चित होती थीं। पांडुलिपि को वे ऐसे बनाते थे मानो ममतामयी माँ अपने बच्चे को तैयार कर स्कूल भेज रही हो। उसी प्यार से, उसी सतर्कता से, उसी समर्पण से। अपनी नई किताब के प्रति उनमें बड़ी जिज्ञासा एवं आतुरता होती थी। त्यागी जी के शब्दों—'अपनी नई पोथी के प्रति देखने की व्याकुलता विरही यक्ष की व्याकुलता से कहीं ज्यादा होती है।'¹⁰

त्यागी जी ने जिंदगी में ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसके कारण उन्हें लज्जित होना पड़े। जिंदगी में उन्हें कई अवसर मिले कि जिनसे वे लाभान्वित हो सकते थे, पर वे जिंदगीभर ईमानदार रहे। जिंदगी में ईमानदार रहकर उन्होंने सार-सार को ग्रहण किया। वे जिंदगी में अच्छी चीजों से आकर्षित रहे।

त्यागी जी यथार्थ के बीभत्स और निर्मम संसार तथा उनके युटोपिया में बसे खूबसूरत संसार के बीच झूलते रहे थे, पर उन्होंने 'युटोपिया' में बसे खूबसूरत संसार को भी महसूस किया था। वे नफासतपसंद और जीवन की अच्छी चीजों के जरूर शौकीन रहे। उन्होंने उपहार रूप में मिली कई सुंदर चीजों को अच्छे ढंग से सजाकर ड्राइंग रूम में रख दिया। वे बेहद खुशी से इन सारी चीजों को मिलने वालों को दिखा देते थे। उन्हें अच्छी और सुंदर चीजों से लगाव था। त्यागी जी के अनुसार—'प्रसन्न मैं सुंदर चीजों को देखकर होता हूँ, जो चीज जितनी ज्यादा सुंदर होती है, उतना ही ज्यादा मैं खुश होता हूँ।'¹¹

सृष्टि चलाने वाले अपरंपार लीला दिखाने वाले परमपिता परमात्मा पर त्यागी जी की पूरी आस्था थी। ईश्वर, धर्म, परंपरा आदि को वे मानते थे। उनके शब्दों में—'वर्षों से मैं सोने से

पहले ईश्वर की प्रार्थना करता हूँ और उसने जो कुछ दिया है उसके लिए अपना आभार प्रकट करता हूँ। मैं आस्तिक हूँ और भाग्यवादी हूँ।¹² अपनी इसी आस्तिकता तथा भाग्यवाद के कारण ज्योतिष और भविष्य के बारे में दिलचस्प रहे।

त्यागी जी की रचनाओं 'पुरानी परंपरा का विकास' और 'वर्षफल' में उनकी भविष्य, ज्योतिष और वर्षफल के प्रति दिलचस्पी प्रतीत होती है। इसके संदर्भ में उन्होंने लिखा है—'आज का दिन बड़े सुख से बीता। अखबार में छपे राशिफल के अनुसार उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र वालों के लिए आज का दिन जो मंगलमय होना था वह एकदम सच निकला।'¹³

इस प्रकार त्यागी जी के व्यक्तित्व के कई पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है, पर उन्होंने अपने जीवन में कई शौक भी जतन कर रखे थे। जैसे—पढ़ना-लिखना, दोस्तों के साथ गप्पे हाँकना, शिकार करना, ग्रामोफोन पर पुराने संगीत सुनना, रेल की खिड़की वाली सीट पर बैठकर लंबा सफर करना, पहाड़ों पर चढ़ना, डायरी लिखना आदि। नौटंकी, जादू और उठाईगीर सिनेमा देखना तो उनके बचपन के शौक रहे थे।

त्यागी जी को आजकल का शोर करने वाला संगीत पसंद नहीं था, परंतु वे पुराने संगीत के प्रेमी जरूर थे। इस संदर्भ में वे लिखते हैं—'स्थिति यह नहीं है कि मैं कोई संगीत का दुश्मन हूँ, यह तो आजकल का संगीत है, जो पागलों को ठीक करते हैं, मैं तो मात्र उस शोर के खिलाफ हूँ, जो भले-चंगों को पागल बनाने की कोशिश में लगा है।'¹⁴ उन्होंने अपने जीवन में कुंदनलाल सहगल, गायक किशोरकुमार, बड़े गुलाम अलीखान, उदयशंकर, ओंकारनाथ ठाकुर, दिलीपकुमार राय और बिस्मिल्ला खाँ के दर्शन किए हैं। वे संगीत के प्रेमी ही नहीं, बल्कि ज्ञाता भी थे। उनकी रचनाओं में श्यामकल्याण, मालकोश, भैरवी आदि रागों का संदर्भ भी मिलता है।

त्यागी जी को अपने बचपन की जो चीज सबसे ज्यादा याद आती थी, वह है नौटंकी। किसी पुरानी फिल्म में वे जब नौटंकी की झलक देखते थे तब उनका सारा बचपन आँखों के सामने नाचने लगता। नौटंकी की लोक-कला को समाप्त होते देखकर उन्हें दुख होता। बचपन में देखी नौटंकी के बारे में उन्होंने लिखा है—'मशहूर और मारुफ मास्टर मुंशीराम की कंपनी कस्बे में हर साल आती थी और कमाल दिखाकर चली जाती थी। खेल जो होते थे वे ऐसे होते थे कि उनके नाम तो हैरतअंगेज होते थे और उपनाम जो होते थे वे सनसनीखेज होते थे। कुछ नाम तो मुझे अभी तक याद हैं, जैसे—'गुलबदन' उर्फ 'मुहब्बत का फूल' या 'शैबा की बेगम' उर्फ 'कातिल हसीना' या 'सुलताना डाकू' उर्फ 'शेरे बिजनौर'।¹⁵ त्यागी जी ने अपने नौटंकी शौक के बारे में अपनी रचना 'मृत्युबोध के क्षण' में विस्तृत रूप से लिखा है।

त्यागी जी शतरंज के खिलाड़ी थे। वे इस खेल में जरूर हारते रहे, परंतु वे इसके बेहद शौकीन रहे। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है—'मैं शतरंज का काफी पुराना मरीज हूँ। जब भी समय मिलता है, मैं शतरंज ही खेलता हूँ। वैसे शतरंज खेलने में मुझे शत-प्रतिशत रंज ही प्राप्त होता है, क्योंकि मैं प्रायः पराजित हो जाता हूँ, पर मुँह से लगी काफिर की भाँति यह छूटती नहीं है।'¹⁶

त्यागी जी ने 'भारतवर्ष' का भ्रमण किया था। नौकरी के दौरान वे प्रयाग, मेरठ, पटना, रुड़की आदि जगहों पर रहे थे। प्रकृति-प्रेमी होने के कारण वे अकसर पहाड़ चले जाते। पहाड़ी-यात्रा उनके लिए ज्यादा दिलचस्प चीज थी। उन्होंने अपने भ्रमण के संदर्भ में लिखा है—'मुझे यात्रा करने का इतना शौक है कि यदि मैं पाँच या छः शताब्दी पहले पैदा हुआ होता

तो मेरी गिनती इब्नबतूता, फाह्यान, इत्सिंग व ह्वेनसांग जैसे यात्रियों के साथ होती।¹⁷ इस प्रकार स्पष्ट है कि त्यागी जी का व्यक्तित्व सचमुच भव्य एवं निहायत आकर्षक था। चाहे वह अंतरंग हो या बहिरंग।

संदर्भ

1. रवींद्रनाथ त्यागी : प्रतिनिधि रचनाएँ, डॉ० कमलकिशोर गोयनका, पृ० 5
2. रवींद्रनाथ त्यागी : कवि एवं हास्य-व्यंग्यकार, डॉ० सुरेखा शहापुरे, पृ० 25
3. रवींद्रनाथ त्यागी : प्रतिनिधि रचनाएँ, डॉ० कमलकिशोर गोयनका, पृ० 225
4. इतिहास का शव (मेरी षष्ठीपूर्ति), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 148
5. शोक सभा (गर्दिश के दिन), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 114
6. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी व्यंग्य निबंध, डॉ० शशि मिश्र, पृ० 243
7. पदयात्रा (मेरी पहली नौकरी), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 51
8. इतवारी अमृत संदेश, 2 दिसंबर, 1991, विनोदशंकर शुक्ल, पृ० 4
9. वही, पृ० 4
10. पदयात्रा (एक आवारा रचना), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 94
11. मल्लिकानाथ की परंपरा (डायरी के पन्ने), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 36
12. रवींद्रनाथ त्यागी : प्रतिनिधि रचनाएँ, डॉ० कमलकिशोर गोयनका, पृ० 325
13. मल्लिकानाथ की परंपरा (पुरानी परंपरा का विकास), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 36
14. फूलों वाले कैक्टस (सात से अगले स्वर), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 31
15. इस देश के लोग (अखबार पढ़ने के बाद), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 101
16. देवदार के पेड़ (शतरंज के खिलाड़ी), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 105
17. प्रसंगवश (मेरी पहाड़ी यात्राएँ), रवींद्रनाथ त्यागी, पृ० 47

वृंदावन
ग्राम-पोस्ट-बाली
तहसील-प्रांतिज
जिला-साबरकांठा 383205 गुजरात
मो० 0987907353

दलित-विमर्श और साहित्यिक संदर्भ

डॉ० कृष्णकुमार गुप्ता

वरिष्ठ व्याख्याता, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग,
विनोबा भावे विश्वविद्यालय,
हज़ारीबाग (झारखंड)
मो० 09431796419

इसमें कोई दो राय नहीं कि दलित साहित्य अभी हिंदी साहित्य की मुख्यधारा और आलोचना केंद्र में है। केवल भारती के अनुसार वर्तमान में दलित साहित्य के भीतर तीन धाराएँ प्रवहमान हैं। उन्होंने 'दलित विमर्श की भूमिका' में लिखा है—'पहली धारा स्वयं दलित जातियों में जन्मे लेखकों की है, जिनके पास स्वानुभूतियों का विराट संसार है। दूसरी धारा हिंदू (गैर दलित) लेखकों की है, जिनके रचना-संसार में दलितों का चित्रण सौंदर्य-सुख की विषयवस्तु के रूप में होता है। तीसरी धारा प्रगतिशील लेखकों की है, जो दलित को सर्वहारा के रूप में देखते हैं।' श्री भारती के इस कथन को उद्धृत करने का मेरा अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि अनुभूति की जिस प्रामाणिकता का हवाला देकर साहित्य रचना की बात हो रही है वह जाति आधारित साहित्य है। यह कहना ग़लत न होगा कि पिछले दो दशकों से चर्चित दलित साहित्य प्रगतिवादी साहित्य का जातिवादी संस्करण है। अपनी रचनाओं में दीर्घकाल से जीवित वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, सूर, कबीर, रैदास, नागार्जुन, दिनकर, प्रेमचंद आदि की रचनाओं में आखिर ऐसी कौन-सी चीज है, जो हमें प्रभावित करती रही है? क्या उनमें अनुभूतियों की गहराई नहीं है या उनकी अनुभूतियाँ दलित विरोधी रही हैं? मेरा विरोध न तो दलित साहित्य से है और न ही मैं दलितेतर साहित्य का प्रशंसक हूँ। मुझे दलित साहित्य को परिचालित करने वाली उस राजनीति से क्षोभ होता है, जो साहित्य को कर्लाकित करना चाहता है। मुंशी प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।

भारत में दलित समुदाय की स्थिति में सुधार या परिवर्तन के संकेत ईसाई मिशनरियों के आने के बाद शुरू हुआ। इसके लिए उन्होंने अस्पताल और शिक्षण संस्थान खोलकर उन्हें सहारा ही नहीं, बल्कि उन्हें प्रशिक्षित किया और विभिन्न तरह के कार्यों में उन्हें भागीदार बनाया। लेकिन उससे भी पहले मध्यकालीन संतों ने वर्ण-व्यवस्था पर सैकड़ों वर्षों तक जोरदार चोट की। अंधविश्वास, छुआछूत जैसी सामाजिक बुराई को उखाड़ फेंकने की नीयत से 19वीं सदी में राजाराम मोहनराय, केशवचंद्र सेन, स्वामी दयानंद सरस्वती प्रभृति समाज-सुधारकों ने जो आंदोलन चलाए उनमें दलितोद्धार का भाव निहित था। विवेकानंद, महात्मा गांधी और विनोबा की

मानवतावादी दृष्टि भी जाति-पाँति और वर्ण-व्यवस्था की संकीर्णता से काफी ऊपर थी।

किंतु, इस संदर्भ में मैं कहना चाहूँगा कि दलित साहित्यकारों द्वारा वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था का विरोध किया जाना दलित साहित्य का एक सराहनीय हिस्सा है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार और सामाजिक शोषण के लिए पुरानी वर्ण-व्यवस्था जिम्मेदार है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भी दलितों की स्थिति के लिए जाति-व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराते हुए लिखा है—

बाँहें फड़कती हैं
जिहवा मचलती है
प्रगति अवरुद्ध
जाति-व्यवस्था के बंधन में अतीत शोषित-प्रताड़ित
इतिहास गहन अंधकार में डूब गया है।’
उन्होंने उम्मीद जाहिर की है—
‘बिता दिए हमने हजारों वर्ष
इस इंतजार में
कि भयानक त्रासदी का युग
अधबनी इमारत के मलबे में
दबा दिया जाएगा किसी दिन
जहरीले पंजों समेत
फिर हम सब
एक जगह खड़े होकर
हथेलियों पर उतार सकेंगे
एक-एक सूर्य
जो हमारी रक्त शिराओं में
हजारों परमाणु क्षमताओं की ऊर्जा
समाहित करके
धरती को अभिशाप से मुक्त कराएगा।

सोहनपाल सुमनाक्षर इस स्थिति के लिए प्रचलित शास्त्रों और गलित परंपराओं को जिम्मेदार मानते हैं। उन्होंने ‘पूर्वजन्म का ढकोसला’ कविता में धारपूर्ण तरीके से अपनी बात रखते हुए लिखा है—

उनमें पूर्व जन्मों के कर्मों का ढकोसला
मुझे साफ नज़र आया है
मुझमें इंसानियत
स्वाभिमान जाग उठा है
और अब पूर्व जन्मों का झूठा भय भाग चुका है।
अब मैं पूर्व जन्म नहीं, वर्तमान देखता हूँ।
असमानता, अन्याय, दुराचार को निरखता हूँ,

परखता हूँ
जमींदार की नवपीढ़ी अब
मेरा शोषण-दमन नहीं कर पाएगी।
अब मेरी आगामी पीढ़ी
कायर नहीं शूर कहलाएगी।

कवि अगर पूर्वजन्म के ढकोसले को पहचानकर इससे हमें सावधान कर रहा है, तो यह बहुत ही अच्छी बात है। आगामी पीढ़ी को कायर न बनकर शूरवीर बनने की बात कवि कहता है, तो यह वीरता, अज्ञानता और अंधविश्वास के ऊपर विजय प्राप्त दिखाने की जरूरत है, न कि सवर्णों से जातीय लड़ाई में। सवाल यह भी उठता है कि बाँहें अगर फड़कती हैं तो किससे दो-चार करने के लिए? अब वह मध्यकालीन वर्ण-व्यवस्था नहीं रही और न वह शोषक पीढ़ी, जो कर्मकांड, शास्त्र-पुराण का हवाला देकर दलितों का शोषण करती रही। अब लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के अंतर्गत संविधान ने जाति, धर्म, लिंग, वर्ण के भेदभाव से ऊपर उठकर समानता स्थापित करने का एक बहुत बड़ा हथियार मौलिक अधिकारों के रूप में हमें दिया है। इसका सदुपयोग करते हुए हमारी सामाजिक व्यवस्था में तेजी से सुधार भी हुए हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। जरूरत है तो बस शिक्षा और काबिलियत की। आज वैश्वीकरण और बाजारवाद के दौर में जो व्यक्ति जितना काबिल होगा वह उतने ही लाभ का हकदार होगा। प्रतिस्पर्धा की दौड़ में व्यक्ति को अपनी क्षमता प्रदर्शित करनी होगी। संत ज्योतिबाफुले ने भी दलितों की स्थिति के लिए अशिक्षा को जिम्मेदार ठहराते हुए अपनी पुस्तक 'गुलामगिरी' में लिखा है—

विद्या बिन मति गई, मति बिन नीति गई
नीति बिन गति गई, गति बिन धन गया,
धन बिन शूद्र पतित हुए
इतना घोर अन्याय
मात्र अविद्या के कारण हुआ।

'सत्यशोधक समाज' की स्थापना कर जो कार्य ज्योतिबा ने किए उसको आगे बढ़ाने की जरूरत है, किंतु इस तरह की कोई बात दलितों के बीच नहीं दिखाई दे रही। चिंता का कारण यह भी है कि दलितोत्थान के लिए जो आरक्षण-व्यवस्था की गई उसका लाभ कुछ गिने-चुने परिवारों तक ही सिमटकर रह गया है। एक ही परिवार के तमाम लोग सरकारी नौकरी में हैं और पूरा समुदाय अशिक्षित रहकर उनकी सेवा करने को बाध्य है। गौर से देखने पर यहाँ साफ दिखाई देता है कि दलित ही दलित का हक छीन रहा है। ऐसी स्थिति में सरकार को यह नीतिगत फैसला लेना ही होगा कि वह आरक्षण को विकेंद्रीकरण करे और आरक्षण का आधार जाति न रखकर आर्थिक स्थिति निर्धारित करे। मेरे हिसाब से आरक्षण-व्यवस्था ही समाप्त कर देनी चाहिए, क्योंकि यह व्यवस्था सामाजिक वैमनस्य को बढ़ावा देने के साथ-साथ यह राष्ट्र की क्षमता को भी कुंठित करती है। भूमंडलीकरण के दौर में कहीं से भी इसमें राष्ट्रहित नज़र नहीं आता। पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी ने भी 'सवालों के सूरज' कविता में जात-पांत, वर्ग-संप्रदाय से ऊपर राष्ट्रीय चरित्र की हिमायत करते हुए विचार दिया है—

बहुत कठिन है जीना जाति-वर्ण-संप्रदाय के झमेले में

मिल जाना श्रेयस्कर अपने भाई-बहिन के मेले में
राष्ट्रीय चरित्र की भावना प्रबल सहज नहीं हो पाती
जब तक राष्ट्र को परिवार मानने की गति एक नहीं हो जाती।

किंतु ऐसा तभी संभव है, जब वोट की राजनीति करने वाले शासकों की मंशा को समझते हुए हम तमाम विभेदों से दूर रहकर, ईमानदारी और एकजुटता का परिचय दें। 'फूट डालो राज करो' की राह पर चलने वाले शासक समुदाय को मुँहतोड़ जवाब देना ही होगा। दलितों की स्थिति के लिए आज की तारीख में कोई जाति नहीं, बल्कि शासक वर्ग जिम्मेदार है और स्वयं हम भी। इस स्थिति को स्वीकारते हुए मोहनदास नैमिशराय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय दलित आंदोलन' में लिखा है—'आजादी के बाद जहाँ दलितों को स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे की भावनाओं की खुशफहमी हुई, वहीं उसकी अस्मिता और महत्त्वकांक्षा को स्वयं शासकदल के कुछ सिपहसालारों ने रौंदने का कार्य भी किया।' (पृ० 90)

सोहनपाल सुमनाक्षर, ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराजसिंह बेचैन, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, जयप्रकाश कर्दम, मोहनदास नैमिशराय, कँवल भारती, सुशीला टॉकभौरे, रजतरानी मीनू आदि की रचनाओं का अध्ययन करने पर यह मालूम होता है कि विचारधारा के स्तर पर दलित साहित्य की दो धाराएँ हैं—एक उग्र और दूसरा विवेकशील। उग्र धारा पहाड़ी मौसमी नदियों की तरह तल्लख तेवर लिए हुए है, जो जातीय दंश का समाधान जातीयता को बढ़ावा देकर करने में विश्वास रखती है। दूसरी धारा धैर्य में विश्वास रखती हुई संपूर्ण मानव समुदाय के बीच अस्मिता की स्थापना पर बल देती है। दलित साहित्य के सुधी अध्येता डॉ० विजयकुमार संदेश ने अपनी पुस्तक 'दलित चेतना और स्त्री-विमर्श' में लिखा भी है—'दलित कविता का आधार न कोई धर्म है, न नस्ल, न जाति, न बिरादरी, न रंग, न रूप, न क्षेत्र, न भाषा। प्रत्युत् कवि का अभिप्राय यह है कि इसमें किसी से भी जुड़ा हुआ मनुष्य हो वह प्रिय तब तक है, जब वह मनुष्य हो। दलित कविता में मनुष्य की पहचान मनुष्य होने में है। इसके बावजूद यह स्वीकार किया जा सकता है कि यदि कवि कहीं-कहीं उग्र है और अपनी उग्रता नहीं छोड़ पा रहे हैं तो इसके पीछे उनका अपना विगत इतिहास है, जो रह-रहकर नासूर हो कुरेदता रहता है।'

वस्तुतः अपनी पीड़ा या बेबसी के सच को, अपनी अनुभूतियों को सामने रखने का हक हर किसी को है और हिंदी साहित्य के इतिहास में समय-समय पर साहित्यकारों ने अपने-अपने तरीके से ऐसी अनुभूतियों को रखा भी है, किंतु पूर्वाग्रह से ग्रस्त कोई भी साहित्य समय के थपेड़े में नहीं टिक सकता है, यह भी उतना ही सच है। साहित्य तोड़ता नहीं, जोड़ता है, जो रचना तोड़ने में विश्वास रखती हो, वह साहित्य का दर्जा नहीं पा सकती। इस साहित्यिक संदर्भ में देखा जाए तो कुछ रचनाएँ आज के दौर में जाति, वर्ग, संप्रदाय में बाँटकर अपना उल्लू सीधा करने वाली राजनीति का हिस्सा बनकर साहित्य को उसके व्यापक सरोकारों से वंचित करने की एक साजिश के रूप में मालूम पड़ती हैं, किंतु साहित्य की धारा भागीरथी की तरह है, जो अनावश्यक तत्त्वों को छोड़ने में कहीं-न-कहीं किनारे लगा ही देती हैं।

मेरी कामना यही है कि दलित साहित्य हिंदी साहित्याकाश में एक चमकते तारे के रूप में अपनी पहचान बनाने में समक्ष हो सके, समय की धारा में विलुप्त न हो जाए।

महाकवि सेनापति : चमत्कारशीलता और सामाजिक चेतना

डॉ० अशोक उपाध्याय

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है।'।¹ इसलिए महाकवि सेनापति ने सुंदर वर्ण और अनेक प्रकार के अर्थसमुदाय को धारण करने वाली कविताओं की धरोहर सहृदय समाज को प्रसन्नता प्रदान करने के लिए सौंपने का प्रयत्न किया है—

बानी सौँ सहित सुबरन मुँह रहैं जहाँ
धरती बहुत भाँति अरथ समाज कौँ।
संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामैं
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज को
सुनौ महाजन चोरी होति चारि चरन की
ता तैं सेनापति कहै तजि उर लाज कौँ।
लीजिए बचाय ज्यौँ चुरावै नाहिं कोउ सौँपी
वित्त की सी थाती मैं कवित्तन के राज कौँ।²

महाकवि सेनापति के नाम के संदर्भ में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। संभवतः यह इनका उपनाम है, जिसे वह अपनी रचनाओं में प्रयुक्त करते थे। 'कवित्त रत्नाकर' की पहली तरंग में इनके द्वारा अपना परिचय इस प्रकार दिया गया है—

दीक्षित परसराम, दादौ है बिदित नाम,
जिन कीने जज्ञ, जाकी जग मैं बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर की समान जाके,
गंगतीर बसत अनूप जिन पाई है।
महा जानमनि, विद्यादान हू मैं चिंतामनि,
हीरामनि दीक्षित तैं पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।³

अतः स्पष्ट है कि इनका जन्म अनूशहर में हुआ था, जो कि बुलंदशहर जिले की

तहसील है। सेनापति के पिता का नाम गंगाधर और पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था। संवत् 1706 वि० में लिखे गए 'कवित्त रत्नाकर' के आधार पर श्री उमाशंकर शुक्ल ने इनका जन्म 17वीं शताब्दी के अंतिम चरण में और मृत्यु 18वीं शताब्दी के प्रथम चरण में मानी है।⁴ आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनका जन्मकाल संवत् 1646 वि० के आस-पास माना है।⁵ श्री उमाशंकर शुक्ल ने बुलंदशहर गजेटियर को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'अनूपशहर में बड़गुज्जर राजाओं का शासन था। हिंदू बड़गुज्जर राजाओं के प्रधान अनीराय थे जिन्होंने अनूप शहर बसाया था। संभवतः सेनापति के पिता का संबंध इनके दरबार से रहा होगा और स्वभावतः सेनापति भी अपने पिता के साथ इनके यहाँ आया-जाया करते होंगे, किंतु सेनापति की रचनाओं में इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता है। खेद है कि इतिहास में अनीराय का कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। अनीराय मुसलमान बादशाहों के सहायक थे। इतिहास में केवल इस बात का उल्लेख मिलता है कि ये एक बार जहाँगीर के साथ शिकार पर गए हुए थे। वहीं चीते ने जहाँगीर पर आक्रमण किया। अनीराय ने बड़ी तत्परता के साथ उसकी रक्षा की। बादशाह इनकी वीरता पर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने पुरस्कार स्वरूप इन्हें अनूपशहर का परगना दिया था।'⁶

यह भी कहा जाता है कि संस्कृत के प्रकांड विद्वान भट्ट नागेश दीक्षित ही सेनापति थे। इसका मुख्य आधार भट्ट नागेश दीक्षित और सेनापति का समकालीन होना माना गया है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने इसका खंडन करते हुए लिखा है कि 'यह सत्य है कि सेनापति भी अपनी रचनाओं के आधार पर संस्कृत के प्रकांड विद्वान सिद्ध होते हैं, परंतु वे भट्ट नागेश दीक्षित ही हैं—यह कहना कठिन है, क्योंकि भट्ट नागेश दीक्षित के पिता का नाम शिव भट्ट था और वे शृंगवेरपुर के महाराज रामदत्त के आश्रय में थे। वे प्रसिद्ध वैयाकरण थे और अधिकतर काशी में रहे।' वास्तविकता यह है कि ये महाराष्ट्रियन ब्राह्मण थे। इनके द्वारा अनेक संस्कृत ग्रंथों की टीका लिखने के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। भट्ट नागेश दीक्षित के गुरु का नाम हरि दीक्षित था। ये न तो सेनापति गुरु थे और न ही इनके द्वारा रचित किसी हिंदी काव्य की सूचना उपलब्ध है। 'सेनापति' उपनाम से भी इनका कोई संबंध सिद्ध नहीं होता है।

सेनापति की दो रचनाएँ हैं—एक 'काव्यकल्पद्रुम' और दूसरी 'कवित्त रत्नाकर'। इनमें कवित्त रत्नाकर ही उपलब्ध है। इसके 394 छंद पाँच तरंगों में विभाजित हैं। इनके विषय हैं—अलंकार, शृंगार, षड्भूत, रामायण और राम रसायन। 'छंदों की मूल चेतना रीतिकालीन है, इसलिए इन्हें रीतिबद्ध कवि मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।'⁸ डॉ० रामकुमार वर्मा ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'ये इतने कोमल और सरस कवित हैं कि इनसे किसी भी साहित्य का गौरव बढ़ सकता है। इन्हें भाषा पर उतना ही अधिकार था, जितना एक सेनापति को अपनी सेना पर।'⁹

अर्थ की रमणीयता की प्रभावमयी शब्द सृष्टि कविता व्यक्ति एवं समाज के हित से सदैव अनुप्राणित रहती है। यदि समाज में कोई विसंगति है, तो काव्य के रचयिता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उसका निराकरण करके सही दिशा निर्देश प्रदर्शित करने का प्रयास करे। काव्य का उद्देश्य न तो सामाजिक प्रक्रिया का विश्लेषण करना है और न उसका उद्देश्य समाज मनोरंजन करना मात्र है। उसका लक्ष्य तो सामाजिक सुरुचि को पहचानते हुए परिष्कारशील बौद्धिक सामग्री प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न करना है। इस प्रकार कवि समाज की सुरुचि का

परिष्कारक भी है और जो भी समाज के लिए गृहणीय है उसको मानवीय संवेदना से संपृक्त करके आनंदमयता प्रदान कर्ता भी है। महाकवि सेनापति का काव्य इस संदर्भ में पूर्णतया सफल प्रतीत होता है। इसमें युग-चेतना के अनुरूप धार्मिक भाव भी है और आचार्य केशवदास द्वारा प्रवर्तित चमत्कारशीलता युक्त श्लेषा का पराक्रम भी है। उदाहरण के लिए निम्न कवित्त देखिए—

राखति न दोषै पोषै पिंगल को लच्छन कौं,
 बुधकवि के जो उपकंठ ही बसति है।
 जोए पद मन कौं हरष उपजावति है
 तजै कोकन रसै जो छंद सरसति है।
 अच्छर हैं विशद करति उपै आप सम
 जातैं जगत की जड़ताऊ विनसति है।
 मानौ छवि ताकी उदवत सविता की सेना—
 पति कविता की कविताई विलसति है।¹⁰

स्पष्ट है कि सेनापति की कविता उदयकाल के सूर्य के समान शोभा संपन्न है। जिस प्रकार सूर्य रात्रि के दोषों को समाप्त करके उदित होता है और पिंगलवर्णीय प्रकाश से बुध एवं शुक्र नक्षत्रों के सामीप्य स्वभाव से प्रसन्नता की रश्मियाँ विकीर्ण करता है; उसी प्रकार सेनापति की कविता भी निर्दोष तथा पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र के लक्षणों से पुष्ट होकर बुद्धिमान आचार्यों के कंठ में विराजमान होती है। इससे गन्ने के रस जैसा मधुर रस उत्पन्न होता है और अंधकार का विनाश करने वाले सूर्य के प्रकाश के समान सामाजिक जीवन के दोष अथवा अज्ञान का भी विनाश होता है। प्रभात में विकसित कमलों के समान इसको सुनने वालों के मन प्रफुल्लित हो उठते हैं। रीतिकालीन चेतना से अनुप्राणित सेनापति की श्लेष पद योजना श्लेष अलंकार पूर्ण उक्तियाँ पर्याप्त मनोरंजक तथा भावग्राही प्रतीत होती हैं। कहीं-कहीं इनमें निहित व्यंग्य बड़ी गहरी चोट करता है। प्रमाण के लिए दाता और सूम को लेकर लिखा गया निम्नलिखित कवित्त देखिए—

नाहीं-नाहीं करैं थोरी माँग सब दैन कहैं
 मंगन को देखि पर देत बार-बार हैं।
 जिनकौं मिलत भली प्रापति की घटी होति
 सदा सब जन मन भाए निरधार हैं।
 भोगी हूँ रहत विलसत अवनी के मध्य
 कन-कन जोरैं दान पाठ परिवार हैं।
 सेनापति बचन की रचना बिचारौ जायैं
 दाता और सूम दोऊ कीने इकसार हैं।¹¹

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस कवित्त की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'इनकी कविता बहुत मर्मस्पर्शनी और रचना बहुत ही प्रौढ़ प्रांजल है। जैसे एक ओर इनमें पूरी भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूरी निपुणता भी। श्लेष का ऐसा साफ उदाहरण शायद ही और कहीं मिले। भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है। इनकी भाषा में बहुत कुछ माधुर्य ब्रजभाषा का ही है, संस्कृत पदावली पर अवलंबित नहीं। अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पाई है।'¹² प्रमाण के लिए निम्न कवित्त

अवलोकनीय है। इसमें अनुप्रास के साथ-साथ यमक का सहज और प्रभावशाली प्रयोग द्रष्टव्य है—

संतन के तीर, सेनापति बरती रहि कै
तीरथ के तीर बसि बासर बराह हौं।
माया के बिलास, तातैं ह्वै करि उदास, हरि
दासन की गनती मैं आपहू गनाह हौं।
राखौं और साध न, चलौंगों मन साधन कै,
बिना जोग साधन परम पद पाइहौं
बिषै की कतार, ताकी करि हटतार, कोरु
लै कै करतार करतार गुन गाह हौं।¹³

काव्य में अन्य अलंकारों के प्रयोग के प्रति सतर्क होते हुए भी सेनापति का प्रिय अलंकार श्लेष ही है। सुजान अथवा सहृदय जनसमुदाय से आदर प्राप्त विमल कीर्तियुक्त सरल, सरस कवित्त रचना सेनापति का आदर्श नहीं था। वह कलात्मक चातुर्य से परिपूर्ण शब्दार्थ की गवेषणा में संलग्न पाठकों एवं श्रोताओं का मन-हरण करने के लिए श्लेषयुक्त कवित्त रचना को ही अपना आदर्श मानते थे। इस संदर्भ में वह आचार्य केशवदास के काव्यादर्श के पक्षपाती होते हैं। विपक्षी को नष्ट करके उज्वल कीर्ति को विकीर्ण करना उनके कवित्त रूपी वाणों का चमत्कारशील श्लेष अलंकार युक्त लक्ष्य है—

तुकन सहित भले फल कौं धरत सूधे
दूरि कौं चलत जे हें, धीर जिय ज्यारी के।
लागत विविध पक्ष सोहत हें गुन संग
स्रवन मिलत मूल कीरति उज्यारी के।
सोई सीस धुनै जाके उर मैं चुभत नीके
बेग बिधि जात मन मोहैं नर-नारी के।
सेनापति कवि के कवित्त बिलसत अति
मेरे जान बान हें अचूक चापधारी के।¹⁴

वास्तविकता यह है कि 'सेनापति का कवि का आदर्श तुलसी से भिन्न है। केशव की भाँति सेनापति भी अर्थ की विलक्षणता को कविता का मुख्य तत्त्व मानते हैं। वे सर्वजन सुलभ नहीं, वरन् तीक्ष्ण बुद्धि और काव्याभ्यासी पुरुषों की ही समझ में आने वाली कविता को ही कविता कहते हैं। इसी कारण वे श्लेषयुक्त कविता करना ही गौरव की वस्तु समझते हैं।¹⁵ रीतिकालीन सामाजिक जीवन के महत्त्वपूर्ण आधार थे—राजदरबार में प्रतिष्ठा और जीवन-यापन के सुखकारक साधनों को उपलब्ध करने का प्रयास। कवि समुदाय भी इन्हीं कारणों से राजाश्रित होने में और वहाँ प्रतिष्ठा प्राप्त करके सुखद जीवन व्यतीत करने के लिए अन्य कलाबंतों के समान तत्पर था। आत्मप्रदर्शन, चमत्कार और रसिकता से परिपूर्ण सामाजिक जीवन में अलंकरण की प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में स्वाभाविक मनोवृत्ति के रूप में परिलक्षित होती है। 'वैसे तो साहित्य में जन व्यवहृत भाषा की अपेक्षा प्रभविष्णुता तथा ग्रहणशीलता की मात्रा अधिक होती है, किंतु उक्ति-चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना इस युग के कवियों

का लक्ष्य और सफलता का मानदंड बन गया था। एक तो उस समय का दरबारी विलासी वातावरण था, दूसरा जनसामान्य की मनोवृत्ति भी कुछ इस प्रकार की बन चुकी थी कि राजदरबारी कवि को अपने काव्य को कृत्रिम भड़कीले रंगों में रँगना पड़ा। इस अलंकारिता का एक अन्य कारण था। अलंकारशास्त्र के अनुसार अपनी कविता-कामिनी को साँचों में ढालना।¹⁶

राज-समाज के आश्रय में पुष्पित-पल्लवित काव्य के रचयिताओं की प्रायः यह प्रवृत्ति बन गई थी कि वे अपने-आपको सुकवि अथवा महाकवि सिद्ध करने के साथ-साथ अपने बहुज्ञतापूर्ण पांडित्य को भी प्रमाणित करें। राजसभा में इसी प्रकार के बहुज्ञान संपन्न कवियों को ही आदरणीय या प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त होता था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि रीतिकाल में लोक-भाषाओं की साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रतिष्ठा हुई थी; जबकि हमारा समस्त परंपरागत चिंतन मनन संस्कृत साहित्य एवं काव्यशास्त्र में अवरुद्ध हो चुका था। ज्ञान की कमी के कारण सामान्यजन तथा राज-समाज को सुशोभित करने वाले विशिष्ट व्यक्ति भी ज्ञान एवं साहित्य के इस भंडार तक बहुत कम मात्रा में पहुँच पाते थे; फिर भी उनके मन में इसके प्रति न्यूनाधिक जिज्ञासा अवश्य रहती थी। इसीलिए इन सबसे परिचित प्रबुद्ध कविगण अपने ज्ञान-वैशिष्ट्य को लोक भाषाओं में किसी-न-किसी प्रकार प्रस्तुत करके पाठकों एवं श्रोताओं की रसिकतापूर्ण प्रवृत्ति के साथ-साथ विकसित बौद्धिक-पिपासा को भी शांत करने में सहायक होते थे। दरबारी समाज का जीवन-क्षेत्र सीमित तथा जीवन-पद्धति रूढ़ थी। इसमें अपना भविष्य निर्माण करने वाले कवियों को भी इसी अनुकरण करना पड़ता था। यही कारण है कि इनकी काव्य-रचनाओं में अनुभूतियों की विशदता एवं गंभीरता का अपेक्षाकृत अभाव परिलक्षित होता है। इस अभाव की परिपूर्ति के लिए उत्तम काव्य-रचना में दक्ष दरबारी कवि विभिन्न प्रकार से शास्त्रीय चिंतन की प्रेरणा से उद्वेलित कल्पना-शक्ति की सहायता ग्रहण करते हुए काव्य-रचना के लिए विषय वस्तु एवं शब्द-सामग्री संवर्द्धित करते रहते थे। महाकवि सेनापति के श्लिष्ट प्रयोगों का एक महत्वपूर्ण कारण यही है—

मूढ़न को अगम, सुगम एकता कौं जाकी,
तीछन अमल बिधि है अथाह की।
कोई है अभंग कोई पद है सभंग, सोधि,
देखे सब अंग, सम सुधा प्रवाह की।
ज्ञान के निधान, छंद कोष सावधान, जाकी,
रसिक सुजान सब करत हैं गाह की।
सेवक सियापति कौं सेनापति कवि सोई,
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की।¹⁷

हिंदी काव्य-जगत में सेनापति की प्रसिद्धि का एक विशेष कारण उनके द्वारा किया गया विभिन्न ऋतुओं का वर्णन भी है। इस पर तत्कालीन राज-समाज द्वारा विनिर्मित सामाजिक जीवन का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। राजसी ठाट-बाट के दृश्य नित्य ही उनकी आँखों के सामने रहते थे। समाज में ये ही दृश्य भौतिक सुख के आदर्श माने जाते होंगे और साधारण जनता में इनके अनुकरण की चाल भी खूब रही होगी। स्वभावतः कविगण अपनी रचनाओं में इन्हीं आदर्श मानी जाने वाली बातों का चित्रण भी करते रहते थे। व्यवहारिक दृष्टि से भी राजवैभव आदि का

चित्रण करना उनके लिए आवश्यक होता गया, क्योंकि अपने संरक्षक को प्रसन्न करना उनके लिए अत्यंत आवश्यक था।¹⁸ सेनापति ने प्राकृतिक सौंदर्य का दर्शन सामंतीय वैभव-विलास के प्रतीक राजभवनों के वातायनों से किया था। इसीलिए उनकी दृष्टि राज-वैभव के वशीभूत अपार सुख-प्राप्ति की आकांक्षा करते हुए सामाजिक रुचि के अनुरूप विकसित नागरिक सभ्यता के कटे-छँटे रमणीय उद्यान में निहित प्राकृतिक उपकरणों तक ही सीमित रह गई। उनके द्वारा विरचित ऋतुवर्णन में राज-भवनों की प्राकृतिक वस्तुस्थिति इत्यादि का वर्णन यथेष्ट मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। इनमें ऋतुओं के तीक्ष्ण प्रभाव से बचने की व्यवस्था का भी उल्लेख अत्यंत प्रभावशाली रूप में किया गया है। ग्रीष्म ऋतु के संदर्भ में इसका एक उदाहरण देखिए—

सुंदर बिराजें राज मंदिर सरस, ताके
बीच सुखदैनी, सैनी सीरक उसीर की।
उछरैं सलिल जन जंत्र हवै विमल उठैं,
सीतल सुगंध मंद लहर समीर की।
भीने हैं गुलाब तन सने हैं अरगजा सों,
छिरकी पटीर-नीर टाटी तीर-तीर की।
ऐसे बिहरत दिन ग्रीष्म के बितषत,
सेनापति दंपति मया तैं रघुवीर की।¹⁹

इस सीमित परिधि में भी कवि ने अपनी दृष्टि का प्रसार करने में यथासंभव सफलता अर्जित की है। 'यही उसकी महानता है। महलों के वातायनों से देखता हुआ भी प्रकृति में होने वाले छोटे-से-छोटे, कोमल-से-कोमल और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परिवर्तनों को लक्ष्य करने में वह सफल हुआ है। यदि उसने प्रकृति एवं ऋतुओं के अनुकूल सामंतों की विलास चेष्टाओं, दैनिक कृत्यों एवं अन्य परिवर्तनों को लक्ष्य किया गया है, तो दूसरी ओर जनसाधारण के जीवन की विवशता को भी वाणी दी है।'²⁰ इस संदर्भ में निम्नलिखित कवित्त पठनीय है—

दूरि जदुराई, सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पाउस, ना पाई प्रेमपतियाँ।
धीर जलधर की, सुनत धुनिधर की है
दरकी सुहागिल की छोह भरी छतियाँ।
आई सुधि बरकी, हिए मैं आनि खरकी तू
मेरी प्रान प्यारीं यह पीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की, लाल मनभावन की,
डग भई बाबन की, सावन की रतियाँ।²¹

सेनापति के रामायण वर्णन और 'राम रसायन वर्णन' से प्रतीत होता है कि वे भगवान श्रीराम के प्रति अगाध श्रद्धाओं और प्रेम की भावना से ओत-प्रोत थे। उन्होंने अपने कवित्तों में पूरी तन्मयता से अपने आराध्यदेव का गुणगान किया है। वे विद्वान कवि थे और काव्य के क्षेत्र में युगीन प्रवृत्तियों का विचार करते हुए काव्य-रचना करने में सक्षम थे। इस संदर्भ में उन्हें गोस्वामी तुलसीदास जी का अनुयायी तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन आचार्य केशवदास जी से समान भक्ति-परंपरा के पोषक अवश्य थे। उनकी भक्ति-भावना से परिपूर्ण कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

भूषित रघुवर बंस, भक्त-वत्सल भव-खंडन
मुनिजन मानस हंस, बिहित सीता-मुख मंडन
त्रिभुवन पालन धीर, वीर रावन-मद गंजन
उदित विभीषण भाग, धेय निज परिजन रंजन
सुरपति नरपति भुजगपति, सेनापतिबंदित चरन।²²

तीर्थ व्रत, उपासना, नाम-स्मरण तथा अन्य देवी-देवताओं के प्रति महाकवि की गहन आस्था तथा पतित-पावनी गंगा का महात्म्य इत्यादि इस तथ्य के परिचायक हैं कि तत्कालीन सामाजिक जीवन में भोग-विलास के प्रति गहन रुचि होने के साथ-साथ धार्मिक भावना भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी और सामाजिक प्रतिष्ठा का भी सूचक भी मानी जाती थी। सेनापति ने भगवान राम की जीवन-संगिनी सीता के महत्त्व का वर्णन भी किया है—

मोहिनी कौं सिव, सारदाहू कौं बिरंचि पुर—
हूतहू अहिल्या कौं विलोकिन भलाई की।
भूली है समाधि सिद्धि रिद्धि भुलई है सुधि,
पारबती, सावित्री, सचीसरूप ताई की।
सेनापति राम एक नारी व्रतधारी भयौ,
सौ तौ न बड़ाई रघुवीर धीरताई की।
जा पर गँवारि देव नारि बारिडारी, सोहै
महिमा अपार सियरानी की निकाई की।²³

संदर्भ

1. रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि, पृ० 113, इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्रा० लि०, प्रयाग, 1971 ई०
2. सेनापति, कवित्त रत्नाकर, पृ० 4, संपादक उमाशंकर शुक्ल, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1936 ई०
3. वही, पहली तरंग, पृ० 2
4. वही, भूमिका, पृ० 5
5. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 154, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2040 वि०
6. उमाशंकर शुक्ल, कवित्त रत्नाकर, भूमिका पृ० 1-2, हिंदी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग, 1936 ई०
7. डॉ० भगीरथ मिश्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल, पृ० 346, सं० डॉ० नगेंद्र मयूर, पेपर बैक्स, नोएडा, 1992 ई०
8. वही, पृ० 346
9. डॉ० रामकुमार वर्मा, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 473, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, 1971 ई०
10. सेनापति, कवित्त रत्नाकर, पृ० 3-4, संपादक उमाशंकर शुक्ल, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1936 ई०
11. वही, पृ० 16
12. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 155, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् 2040 वि०

13. सेनापति, कवित्त रत्नाकर, पृ० 152, संपादक उमाशंकर शुक्ल, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1936 ई०
14. वही, पृ० 9
15. डॉ० भगीरथ मिश्र, हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० 291, लखनऊ विश्वविद्यालय हिंदी विभाग, संवत् 2022 ई०
16. डॉ० शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० 339, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1986 ई०
17. सेनापति, कवित्त रत्नाकर, पृ० 3, सं० उमाशंकर शुक्ल, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1936 ई०
18. वही, भूमिका, पृ० 32
19. वही, पृ० 76
20. रामचंद्र तिवारी, रीतिकालीन हिंदी कविता और सेनापति, पृ० 73-74 विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, 1953 ई०
21. सेनापति, कवित्त रत्नाकर, पृ० 80, संपादक उमाशंकर शुक्ल, हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1936 ई०
22. वही, पृ० 95

6/7 खन्ना भवन, सुभाष नगर,
बरेली (उ०प्र०)

नवजागरण और हिंदी-उपन्यास (1870-1890)

कविता यादव

हिंदी साहित्य में उपन्यास सर्वाधिक प्रचलित विधा है। यह मनुष्य के जीवन का महाकाव्य है। उपन्यास जीवन का संपूर्ण निरीक्षण करता है। 'वस्तुतः उपन्यास एक ऐसी साहित्यिक विधा है, जिसमें आकर्षक रूप में मनुष्य की वैविध्यपूर्ण प्रकृति, उसके बुद्धि-वैभव और भाव-समृद्धि का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।' प्रेमचंद ने उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र माना है और उसका उद्देश्य मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों का उद्घाटन करना बताया है।² उपन्यास जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है। उपन्यास काल्पनिक गद्य-कथा है।

उपन्यास निम्न प्रकार के होते हैं—सामाजिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास व ऐतिहासिक उपन्यास आदि।

हिंदी उपन्यास का भारतीय नवजागरण से गहरा संबंध है। बंगाल और महाराष्ट्र की तुलना में हिंदी-क्षेत्र में नवजागरण की प्रक्रिया कुछ बाद में आरंभ हुई, इसलिए हिंदी में उपन्यास का आरंभ भी बंगला और मराठी की अपेक्षा तनिक बाद में हुआ। यों तो राजनीतिक दृष्टि से हिंदी-क्षेत्र में पुनर्जागरण का आरंभ 1857 ई० से माना जाता है। बंगाल में आरंभ हुए पुनर्जागरण की लहर 1860 के आस-पास रही है।

'स्त्री-शिक्षा का आंदोलन, विधवा-विवाह का समर्थन, बाल और वृद्ध-विवाह का विरोध आदि इसी के परिचायक थे।'³ हिंदीभाषा और देवनागरी लिपि का आंदोलन भी इसी की अभिव्यक्ति था।

हिंदी उपन्यास का आरंभ कहाँ से माना जाए अथवा हिंदी का प्रथम उपन्यास कौनसा है, यह प्रश्न आज भी विवादास्पद बना हुआ है। हिंदी में नॉवेल के अर्थ में उपन्यास पद का प्रथम प्रयोग 1875 ई० में हुआ। बंगला में नॉवेल के अर्थ में उपन्यास पद का प्रयोग 1862 ई० में भूदेव मुखोपाध्याय ने किया था, जिसे बंकिमचंद्र चटर्जी ने अपनी रचनाओं के द्वारा लोकप्रिय बनाया। हिंदी में पहली मौलिक गद्य-कथा 'रानी केतकी की कहानी' (1803 ई०) के लगभग लिखी गई थी। उसके लगभग सत्तर वर्ष बाद दूसरी मौलिक गद्य-कथा, गौरीदत्त (1836) कृत 'देवरानी जेठानी के कहानी' (1870) प्रकाशित हुई। इसके बाद ही मौलिक गद्य-कथाओं का लेखन और मुद्रण सिलसिलेवार शुरू हुआ। ईश्वरीप्रसाद और कल्याण राय लिखित 'वामा शिक्षक' (1872), श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' (1877), राधाकृष्ण दास लिखित 'निस्सहाय हिंदू

(1881), लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' (1882) आदि इस सिलसिले की कुछ उल्लेखनीय गद्य-कथाएँ हैं।⁴

प्रश्न उठता है कि वह कौनसी मूल विशेषता है, जो उपन्यास को कहानी या कथा से अलग करती है। लिखित गद्य-कथा होने की शर्त उपन्यास पर पूरी तरह से लागू है, पर वह उसका प्रभेदक तत्त्व नहीं है। उपन्यास लेखकों को अस्पष्ट रूप में इस बात का बोध था कि उपन्यास की कथा कुछ लंबी अथवा पर्याप्त बड़े आकार की होनी चाहिए। 'इस प्रकार यदि हम उपन्यास को उसकी अल्पतम माँग के साथ परिभाषित करने का प्रयास करें तो कह सकते हैं कि उपन्यास पर्याप्त आकार की वह मौलिक गद्य-कथा है, जो पाठक को एक काल्पनिक, पर यथार्थ संसार में ले जाती है, जो लेखक द्वारा व्यक्तिगत रूप से अनुभूत और सर्जित होने के कारण नवीन होता है।⁵ इस दृष्टि से रानी केतकी की कहानी मध्यकालीन प्रेमाख्यानों के ढंग की गद्य-कथा है। अतिलौकिक तत्त्वों काव्यरूढ़ियों और प्रेम के काव्य-परंपरागत चित्रण से भरा हुआ यह एक आदर्शवादी-रूमानी प्रेमाख्यान है। 'रानी केतकी की कहानी' (1803) से 'देवरानी-जेठानी की कहानी' (1870) की हिंदी कथा-यात्रा क्रमिक विकास के रूप में नहीं, बल्कि एक छलौंग के रूप में दिखाई पड़ती है।⁶

'देवरानी-जेठानी की कहानी' की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें पहली बार परंपरा से हटकर कथा कहने का प्रयास किया गया है। कथाकार ने पुराने आख्यान लेखकों की तरह किसी राजा, सेठ, सामंत या शूरवीर की कथा न कहकर साधारण मध्यवर्गीय वैश्य परिवार की 'देवरानी-जेठानी की कहानी' कही है।

'देवरानी-जेठानी की कहानी' में कथा को विश्वसनीय और यथार्थवादी बनाने के लिए उस प्रणाली का प्रयोग किया गया है, जो हिंदी के लिए सर्वथा नई है। वह विशिष्ट तथा यथार्थवादी है। इसके विपरीत 'देवरानी-जेठानी की कहानी' के पात्र जिन स्थानों के निवासी हैं, उनका भौगोलिक अस्तित्व है। मेरठ, दिल्ली, हापुड़, खुर्जा, गुड़गाँव आदि जिन स्थानों के नाम इस 'कहानी' में आए हैं, उनकी वास्तविक भौगोलिक स्थिति है। पात्रों के नाम भी पार्वती, सुखदेई, दौलतराम, छोटे आदि वास्तविक व्यक्तियों के नाम हैं।⁷

1871 के दशक में 'देवरानी-जेठानी की कहानी' के ढंग की दो और कथापुस्तकें लिखी गईं—ईश्वरी प्रसाद और कल्याण राय कृत 'वामा शिक्षक' (1872), जो ग्यारह वर्ष बाद 1883 ई० में प्रकाशित हुईं और श्रद्धाराम फिल्लौरी रचित भाग्यवती (1877), जिसका प्रकाशन 1887 ई० में हुआ। ईश्वरी प्रसाद-कल्याण राय भी मेरठ के निवासी थे और आश्चर्य नहीं कि उन्हें गौरीदत्त से अपनी पुस्तक लिखने की प्रेरणा मिली हो। लेखक ने हिंदुओं की कन्याओं के चरित्र-निर्माण तथा उन्हें सामाजिक कुरीतियों और पाखंडों से विमुख करने और बचाने के उद्देश्य से इस कथा-पुस्तक की रचना की थी।

'लड़कियों के पाठ्यक्रम में पढ़ना-लिखना, गिनती-पहाड़ा सीखना, सब्जी बनाना, सीना-पिरोना, जाली काटना, बेलबूटे काढ़ना आदि शामिल हैं। इससे उस काल की लड़कियों के जीवनादर्श, कुशल गृहिणी बनने-बनाने की आकांक्षा का पता चलता है।⁸

वामा शिक्षक की रचना के पाँच वर्ष बाद, 1877 ई० में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने (1863) भाग्यवती की रचना की। कहा नहीं जा सकता कि फिल्लौरी जी 'देवरानी-जेठानी की कहानी'

और वाया शिक्षक से प्रभावित हुए थे या नहीं। फिल्लौरी जी ने भाग्यवती की 'भूमिका' में 'हिंदीभाषा' में एक ऐसी 'पोथी' लिखने की अपनी 'बहुत दिनों की इच्छा' की बात कही है। जिसके पढ़ने से भारत खंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।' फिल्लौरी जी हिंदू स्त्रियों की पिछड़ी दशा से बहुत चिंतित थे, क्योंकि, '.....यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी-लिखी तो होती हैं, परंतु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश-विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से बात-व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती और कई बार ऐसा भी देखने में आया कि जब कभी उनको विदेश में जाना पड़ा तो अपना गहना, कपड़ा, बर्तन आदि पदार्थ खो बैठों और घर में बैठी भी किसी छली स्त्री-पुरुष के बहकाने से अपने हाथ से अपने घर का नाश कर लिया। फिर यह भी देखा जाता है कि बहुत स्त्रियाँ अपनी देवरानियों-जेठानियों से आठों पहर लड़ाई रखतीं और सास-ससुर और अपने भ्राता का निरादर करने लग जाती है। कई स्त्रियों को अपने घर के हानि-लाभ की ओर कुछ भी ध्यान न होने के कारण घर का सारा ठाट बिगाड़ लेतीं और कड़ियों के घरों को नौकर-चाकर लूट-लूट खाते और उनको संयम और यत्न से कुछ काम न होता। कई स्त्रियाँ विपत काल में उदास होकर अपनी लाज को बिगाड़ लेतीं और अयोग्य और अनुचित कामों से अपना पेट पालने लग जाती हैं और कई विद्या से हीन होने के कारण सारी आयु चक्की और चरखा घुमाने में समाप्त कर लेती है।”

भाग्यवती में उन्नीसवीं शताब्दी के काशी के समाज तथा हरिद्वार के कुंभ मेले की सच्ची तस्वीर देखने को मिलती है। 'कई साधु वहाँ खड़ेसरी और ऊँचे भुजा वाले आते हैं और बहुत वहाँ ऐसे आते हैं कि जो झूले पर लटकते रहते हैं और कभी अन्न नहीं खाते, एक पाव दूध पीकर निर्वाह करते हैं। कई वहाँ जैसे भी सुने जाते हैं कि जो सदा नंगे रहते और शीतकाल में जलधारा में बैठते और ग्रीष्म में पंचाग्नि तपते हैं।

एक उल्लेखनीय बात यह है कि गौरीदत्त, ईश्वरीप्रसाद, कल्याण राय और श्रद्धाराम फिल्लौरी में से किसी ने भी अपनी रचना को उपन्यास या नॉवेल की संज्ञा नहीं दी है। 1877 ई० तक उपन्यास पद हिंदी में प्रचलित नहीं हुआ था। यद्यपि 1875 ई० में भारतेंदु (1850) इसे बँगला से हिंदी में ला चुके थे। 'देवरानी-जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक' और 'भाग्यवती' तीनों के ही लेखक दिल्ली के आसपास के थे, जहाँ अभी बँगला साहित्य की अनुगूँज नहीं पहुँची थी। अँग्रेज़ी शिक्षा की दृष्टि से दिल्ली और उसके आसपास के थे। कथा-लेखकों का अपनी रचनाओं के लिए उपन्यास या नॉवेल पद का प्रयोग न करना आश्चर्य की बात नहीं, पर तीनों ही कथाकारों को अपनी कथाओं के 'नएपन' और 'वास्तविक जीवन से संबद्ध होने' का बोध था।¹⁰

लाला श्रीनिवास दास की रचना 'परीक्षागुरु' (1882) हिंदी का पहला उपन्यास माना जाता है।

'नॉवेल के लिए उपन्यास पद का प्रयोग तो हिंदी को बँगला की देन है ही, बँगला में भी उपन्यास-पद का प्रयोग भूदेव मुखोपाध्याय ने 1862 ई० में अपनी 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक कथा-पुस्तक के शीर्षक में किया था, जिसमें लगभग 60 पृष्ठों का 'अंगुरीय विनिमय' नामक उपन्यास और लगभग 12 पृष्ठों की 'सफल स्वप्न' नामक लघुकथा संकलित थी।¹¹

राधाचरण गोस्वामी ने अपनी कथावस्तु 'सौदामिनी' में नॉवेल के लिए नवन्यास पद का

विकल्प दिया था, पर तब तक उपन्यास पद इतना प्रचलित हो चुका था कि अर्थ की दृष्टि से नॉवेल के अधिक निकट होने पर भी यह उपन्यास को विस्थापित नहीं कर सका। हिंदी में नॉवेल के अर्थ में उपन्यास पद का प्रथम प्रयोग भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 1875 ई० में 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के फरवरी और मार्च 1875 के अंकों के धारावाहिक रूप में प्रकाशित अपूर्ण कथा मालती के लिए किया था। यद्यपि मालती के लेखक का नाम शीर्षक के साथ नहीं दिया गया था, पर अनुमानतः इसके लेखक भारतेन्दु ही रहे होंगे। कोष्ठक में दिया हुआ उपन्यास शब्द तो भारतेन्दु का होगा ही।

भारतेन्दु ने सर्वप्रथम 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के प्रवेशांक में (15 अक्टूबर, 1873) नॉवेल शब्द का उल्लेख किया था। 1873 से 1875 के बीच हरिश्चंद्र मैगजीन और हरिश्चंद्र चंद्रिका में 'कादंबरी' 'गुणसिंधु' और 'धैर्यसिंधु' नामक गद्य-कथाएँ प्रकाशित हुईं, पर भारतेन्दु ने इन्हें उपन्यास की संज्ञा नहीं दी। फरवरी 1875 में प्रकाशित 'मालती' को उन्होंने उपन्यास का ही नाम दिया। इसका कारण संभवतः मालती को कथारूप का नवीन प्रयोग है।

ब्रजरत्न दास के अनुसार भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' नाम से एक उपन्यास लिखना आरंभ किया था, जिसका केवल प्रथम खेल प्रकाशित हुआ था। ज्ञानचंद जैन के अनुसार यह उपन्यास अंश, 'कवि वचन सुधा'..... भाग-8 से 22 वैशाख कृष्ण 4 संवत् 1933 (1876 ई०) में प्रकाशित हुआ था।¹²

भारतेन्दु के बाद उपन्यास शब्द का प्रयोग करने दूसरे लेखक राधाकृष्ण दास (जन्म 1865) थे, जिन्होंने भारतेन्दु से प्रेरणा लेकर 1878 ई० में 'नाटकोपन्यास' नामक पाक्षिक पत्र निकालने का असफल प्रयास किया था। इस पत्र में धारावाहिक रूप में नाटक और उपन्यास प्रकाशित करने की योजना बनाई गई थी, पर 100 की संख्या में अग्रिम ग्राहक न मिल पाने के कारण योजना खटाई में पड़ गई थी। नवंबर 1879 में 'हिंदी प्रदीप' के जिल्द 3 से अपने रहस्यकथा उपन्यास का धारावाहिक प्रकाशन आरंभ कर बालकृष्ण भट्ट ने उपन्यास पद के प्रयोग को ही नहीं, बल्कि उपन्यास-लेखन की परंपरा को भी आगे बढ़ाया। 'जिस समय 'हिंदी प्रदीप' में 'रहस्यकथा उपन्यास' प्रकाशित हो रहा था, लगभग उसी बिहारबंधु में (9 सितंबर, 1880-9 दिसंबर 1880) 'सुंदर' नाम का उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इसके लेखक के नाम का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है।¹³

1881 में राधाकृष्ण दास (जन्म 1865) ने 'निस्सहाय हिंदू' नामक उपन्यास की रचना की, जो नौ वर्ष बाद, 1890 में प्रकाशित हुआ। प्रकाशन में हुए इस विलंब के कारण ही 'निस्सहाय हिंदू' हिंदी का प्रथम उपन्यास कहलाने से वंचित रह गया। इस उपन्यास में समकालीन राष्ट्रीय भावना और नवजागरण की चेतना भी अभिव्यक्त हुई है, यद्यपि उपन्यासकार ने स्पष्टतः ब्रिटिश शासन की आलोचना नहीं की है, पर इस शासन में देश की दुर्दशा, अंग्रेज़ सरकार के पिटुओं की करतूतों, अंग्रेज़ों से डरे हिंदुस्तानियों की हास्यास्पद हरकतों, टैक्स में होती निरंतर वृद्धि, उसकी वसूली में की जाने वाली धाँधली, पुलिस महकमे में फैले भ्रष्टाचार और सांप्रदायिकता, अंग्रेज़ों के आवास स्थान, सिविल लाइंस आदि की आलोचना के द्वारा उपन्यासकार का देशानुराग स्पष्टता के साथ अभिव्यंजित हुआ है।

उपन्यास के आरंभ में ही कथानायक मदनमोहन 'भारत हितैषिणी सभा' में व्याख्यान करते हुए हिंदू समाज की अधोदशा का उल्लेख एक छंद के रूप में करता है। इस छंद में हिंदू

समाज के शैव, शक्ति, वैष्णव आदि संप्रदायों तथा जातियों में विभाजन, खानपान में भेदभाव, जन्मपत्री मिलाकर शादी-ब्याह के निर्णय, बाल-विवाह, बहुविवाह, विधवाविवाह निषेध, विदेश यात्रा की मनाही, अनेक प्रकार के देवी-देवताओं और भूत-प्रेतों की पूजा, छुआछूत की भावना आदि की आलोचना की गई है, जो समकालीन नवजागरण आंदोलन से प्रेरित है। कथा में आगे चलकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पिछड़ेपन को समाप्त करने के लिए अंध परंपरागत विचारों का विरोध तथा आधुनिक सोच को अपनाने का—जैसे अँग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान तथा पुरानी विपणन-प्रणाली और रहन-सहन के गंदे तरीके को छोड़कर अँग्रेजों की विपणन-प्रणाली और साफ-सुथरे रहन-सहन को ग्रहण करना आदि का आह्वान भी किया गया है। इनमें से अनेक विचारों की अभिव्यक्ति पूर्ववर्ती कथा-रचनाओं में भी हो चुकी थी, पर उनकी पुनरावृत्ति और विदेश-यात्रा-निषेध, छुआछूत की भावना, सांप्रदायिक भेदभाव, सरकार द्वारा टैक्सवृद्धि, म्युनिसिपैलिटी द्वारा हिंदुस्तानियों के आवासक्षेत्र की उपेक्षा आदि को अपनी आलोचना की सीमा में लाकर कथाकार ने अपनी सामाजिक, राजनीतिक जागरूकता का परिचय दिया है।

‘इस पूरे दशक में बालकृष्ण भट्ट (जन्म 1844) उपन्यास-लेखन में सर्वाधिक सक्रिय रहे। भारतेंदु के बाद यदि किसी लेखक ने उपन्यास के प्रचार और उपन्यास-लेखन को सर्वाधिक प्रोत्साहन दिया तो वे भट्ट जी थे। उन्होंने न केवल स्वयं उपन्यास लिखे बल्कि ‘हिंदी प्रदीप’ में अन्य लेखकों के उपन्यास भी धारावाहिक रूप में प्रकाशित किए और उपन्यासों की समीक्षाएँ प्रकाशित कीं। स्वयं भट्ट जी के चार अधूरे और एक पूर्ण उपन्यास इस दशक में ‘हिंदी प्रदीप’ में (गुप्त बैरी, मई, जून और अगस्त, 1882, उचित दक्षिणा, दिस० 1884, नूतन ब्रह्मचारी : फरवरी-अप्रैल, 1886, सद्भाव का अभाव: फरवरी-अगस्त 1889) प्रकाशित हुए। इनमें से केवल ‘नूतन ब्रह्मचारी’ ही पूर्ण रूप में पुस्तकाकार 1886 ई० में प्रकाशित हुआ। ‘गुप्त बैरी’ में एक जमींदार-पुत्र के विपत्तिग्रस्त होने, उसी विपत्ति की अवस्था में एक ग्रामीण युवती से जो एक डाकू की बहन है, उसका प्रेम होने तथा डाकूओं के दल में शामिल होने का वर्णन है। इस अधूरी कथा की परिणति किस रूप में होती, यह कहना तो कठिन है, पर जो अंश उपलब्ध है उससे वल्लभ कुल के गोसाइयों के मठों में फैले भ्रष्टाचार, संपत्ति, लोभ, पाखंड, धूर्तता आदि का चित्रण और आलोचना लेखक का उद्देश्य जान पड़ता है। इस प्रकार बालकृष्ण भट्ट पहली बार उपन्यास के माध्यम से धार्मिक पाखंड का चित्रण करते हैं। उपन्यास का नायक नाहरसिंह एक साहसी और चरित्रवान पुरुष तथा उसकी प्रेमिका इरम्मदा एक तेजस्विनी नारी है। ‘गुप्त बैरी’ के प्रेमियों के प्रेम की क्या परिणति होती, यह नहीं कहा जा सकता। इस उपन्यास में समाज के गुप्तबैरी के रूप में देश की पाखंडी साधु-संतों और मठाधीशों का चित्रण ही प्रधान होगा। इससे उपन्यासकार की प्रखर सामाजिक चेतना का पता चलता है। उस काल की कचहरियों, वकीलों तथा मुख्तारों का चित्रण किया गया है जो कि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आवाज उठा रहा है।

नवें दशक के अंतिम तीन वर्षों में किशोरीलाल गोस्वामी (जन्म 1865) ने तीन मौलिक उपन्यास लिखे : प्रणयिनी परिणय, त्रिवेणी व सौभाग्य श्रेणी और स्वर्गीय कुसुम या कुसुम कुमारी। ‘प्रणयिनी परिणय’ 1887 में रचित और 1890 में प्रकाशित हुआ था। यह लगभग 6000 शब्दों का एक छोटा सा उपन्यास था। ‘त्रिवेणी’ की रचना 1888 में हुई थी और वह 1890 में

‘विहार बंधु’ में प्रकाशित हुआ था। 1907 ई० में यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। ‘स्वर्गीय कुसुम’ 1889 में लिखा गया था, जिसके कुछ अंश 1889 में ही सारसुधानिधि तथा ‘विज्ञ वृंदावन’ में छपे, पर पुस्तक रूप में 1901 में प्रकाशित हुआ। ‘बंगभाषा के आश्रय से लिखित गोस्वामी जी के उपन्यास ‘लावण्यमयी’ (प्र०का० 1871) ‘प्रेममयी’ (सर्वहित नामक पत्र में 1889 में प्रकाशित), ‘सुखसर्वरी’ (प्र०का० 1892) आदि थे, जो इसी काल में रचे गए थे। ‘सुखसर्वरी’ की भूमिका में गोस्वामी जी ने सूचित किया था, ‘आज तक हमने दस-पंद्रह उपन्यास हिंदी में लिखे हैं। पर उन्होंने इन उपन्यासों के नाम नहीं दिए। संभव है, 1901 के बाद प्रकाशित गोस्वामी जी के कुछ उपन्यास 1890 तक लिखे जा चुके हों। 1875 ई० में ही शालग्राम मिश्र ने भवभूति के मालती माधव नाटक के आधार पर ‘मालती माधव की कथा’ नामक प्रेमाख्यान की रचना की, जो 1881 ई० में प्रकाशित और ‘क्षत्रिय पत्रिका’ के आश्विन विजयादशमी 1938 (1881 ई०) अंक में उपन्यास के रूप में समीक्षित हुआ। 1879 ई० में ही रमेशचंद्र दत्त के बंगला उपन्यास बंग विजेता का गदाधर सिंह कृत अनुवाद ‘सारसुधानिधि’ के दो अंकों में प्रकाशित हुआ था। ‘1880 में ही केशवराम भट्ट द्वारा बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय कृत ‘युगलागुलीय का एक जोड़ा अँगूठी’ शीर्षक अनुवाद पहले ‘विहारबंधु’ में प्रकाशित हुआ। सन् 1880 के ही आसपास (संभवतः) मल्लिका देवी द्वारा रूपांतरित और स्वयं भारतेन्दु द्वारा संशोधित ‘कुलीन कन्या’ अथवा ‘चंद्रप्रभा’ और ‘पूर्ण प्रकाश’ नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ।

मल्लिकादेवी के ही राधारानी (बंकिमचंद्र चटर्जी) और ‘सौंदर्यमयी’ शीर्षक अनूदित उपन्यास क्रमशः 1883 और 1887 में प्रकाशित हुए थे। 1881 ई० में ही व्यास रामशंकर शर्मा ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र की सम्मति से बंगला से ‘मधुमती’ नामक उपन्यास का अनुवाद किया था, जो 1886 ई० में प्रकाशित हुआ। बंकिमचंद्र चटर्जी द्वारा लिखित ‘दुर्गेशनदिनी’ के गदाधरसिंह द्वारा प्रस्तुत अनुवाद का प्रथम खंड 1982 में तथा द्वितीय खंड 1984 में प्रकाशित हुआ। राध कृष्ण दास ने बंगला से किसी उपन्यास का अनुवाद ‘मरता क्या’ शीर्षक से किया था।

सिंहावलोकन

यदि हम हिंदी-उपन्यास के विकास के आरंभिक दौर पर दृष्टिपात करें तो कई आश्चर्यजनक तथ्य सामने आते हैं। पहला चौंकाने वाला तथ्य यह है कि हिंदी उपन्यास के उद्भव और विकास में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और मध्यवर्ग की भूमिका बहुत नगण्य है। यूरोपीय उपन्यास के विकास में पूँजीवादी अर्थतंत्र और मध्यवर्ग का योगदान बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है और प्रायः इस अवधारणा को हिंदी उपन्यास के इतिहास पर भी थोप दिया जाता है। पर हिंदी क्षेत्र की परिस्थितियों को देखते हुए हिंदी उपन्यास के संबंध में इस सामान्यीकरण को संगत नहीं माना जा सकता। सन् 1870-90 की अवधि में हिंदी-क्षेत्र में न तो पूँजीवादी अर्थतंत्र का कोई वर्चस्व था, न ही मध्यवर्ग पैदा हुआ था। इस समय भारत ब्रिटिश उपनिवेशवाद के चंगुल में तड़फड़ा रहा था और एक विदेशी पूँजीवाद उसका हर तरफ से शोषण कर रहा था। इस विदेशी पूँजीवाद की भाषा अँग्रेजी थी। इस विदेशी पूँजीवाद के पोषक और सहायक के रूप में अँग्रेजी पढ़ा-लिखा मध्यवर्ग सामने आ रहा था। ये वर्ग अधिकतर अहिंदीभाषी, विशेष रूप से बंगलाभाषी था।

इस काल के उपन्यासों में उच्च मध्यवर्गीय समाज का चित्रण हुआ है। समाज का

निचला वर्ग, यहाँ तक कि निम्न और सामान्य वर्ग भी, इनमें अनुपस्थित था। 'देवरानी-जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक' और 'भाग्यवती' तीनों में समृद्ध वैश्य, कायस्थ और ब्राह्मण परिवारों की जिंदगी का अंकन किया गया है।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेंदु हरिश्चंद, पंडित बालकृष्ण भट्ट आदि इसी नई चेतना के संवाहक हैं। स्वामी दयानंद सरस्वती ने 1875 ई० में आर्यसमाज की स्थापना कर हिंदी क्षेत्र में नवजागरण की चेतना को आंदोलन का रूप दे दिया। 1857 के स्वाधीनता-संग्राम ने, और उसके बाद हुए उपनिवेशवादी दमन ने, हिंदीभाषी क्षेत्र में एक प्रच्छन्न राष्ट्रीयता बोध पैदा कर दिया था। हिंदीभाषा और नागरी लिपि के विकास, स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह, कल-कारखानों की उन्नति, पश्चिमी ज्ञानविज्ञान के प्रचार, भारतीय वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति आदि के समर्थक तथा बालविवाह, वृद्धविवाह, शादी-ब्याह के अवसरों पर होने वाले अपव्यय, अंध-विश्वास, तर्कहीन सामाजिक व्यवहार आदि के विरोध में किए जाने वाले आंदोलनों के रूप में यह चेतना प्रकट हो रही थी।

लेखराम भट्ट, लाला श्रीनिवास दास ने देश में उद्योग-धंधों की उन्नति, स्वाबलंबन, ज्ञानविज्ञान की शिक्षा आदि पर अधिक बल दिया है। नवयुवकों द्वारा अँग्रेजों के रहन-सहन की नकल की आलोचना कर लाला जी ने उस खतरे की ओर संकेत किया है, जो भारत की अस्मिता और पहचान को नष्ट करने वाला था। हिंदुओं और मुसलमानों की एकता की समस्या भी कम से कम एक उपन्यास 'निस्सहाय हिंदू' में उठाई गई है।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत में सांस्कृतिक संकट की स्थिति भी पैदा कर दी थी। अँग्रेजी को सरकारी कामकाज और शिक्षा का माध्यम बनाकर उन्होंने उसे एक प्रकार से भारतीयों पर थोप भी दिया था। इसका सबसे बड़ा नुकसान यह था कि अँग्रेजी सीखने में ही छात्रों का बहुत सारा समय नष्ट हो जाता था। इस कारण इस शिक्षा का लाभ बहुत थोड़े लोगों को ही मिल पाता था और भारत में एक ऐसा वर्ग पैदा होता जा रहा था, जो अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए देश की बहुत कम चिंता करता था। कथाकार यूरोपीय ज्ञानविज्ञान, वाणिज्य-व्यापार के तरीकों, उनके अनुकरण पर कल-कारखानों की स्थापना, इंजीनियरी आदि का तो समर्थन करते थे, पर उनके रहन-सहन, वेशभूषा, तौर-तरीकों की नकल का विरोध भी करते हैं। अँग्रेजों द्वारा भारत के धन की लूट इनकी चिंता का प्रमुख कारण है, जिससे बचने के लिए ये कारीगरी की निरर्थक चीजों पर धन के अपव्यय का विरोध करते हैं। अँग्रेजी सभ्यता और फैशन के विरोध के मूल में भी यही भावना काम कर रही है।

प्रेम की संवेदना इस काल के उपन्यासों में बहुत नगण्य है। सत्तर के दशक की 'नवल' कथाओं में प्रेम के प्रसंग सर्वथा अनुपस्थित हैं। इस काल का कथाकार युवक-युवती के विवाहपूर्व प्रेम की कल्पना ही कदाचित् नहीं करता था। नवें दशक के आरंभिक उपन्यासों 'सुंदर' 'निस्सहाय हिंदू', 'परीक्षागुरु', 'नूतन ब्रह्मचारी' आदि में प्रेम का चित्रण नहीं मिलता।

इस काल की कथा-रचनाओं में भाषा की दो परंपराएँ साफ तौर पर दिखाई पड़ती हैं। बोलचाल के गद्य की परंपरा देवरानी जेठानी की कहानी, वामा शिक्षक, भाग्यवती, सुंदर, निस्सहाय हिंदू, परीक्षागुरु आदि में विकसित होती है। इसके समानांतर बालकृष्ण भट्ट, जगमोहन सिंह, किशोरीलाल गोस्वामी आदि के उपन्यासों में संस्कृत गद्यकाव्य की परंपरा का अनुसरण

किया गया है। उपन्यासों के लिए इनमें से भाषा का कौनसा रूप ग्राह्य है, यह अभी स्पष्ट नहीं हुआ था। दरअसल, अब तक उपन्यास सौंदर्यशास्त्रीय अनुभव का विषय बन ही नहीं पाया था, अतः सर्जनात्मक स्तर पर उसकी भाषा भी पिछड़ी हुई थी।

संदर्भ

1. राधेश्याम कौशिक, हिंदी के आंचलिक उपन्यास, पृ० 4
2. सुषमा शर्मा, उपन्यास और राजनीतिक, पृ० 30
3. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास, पृ० 23
4. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास, पृ० 23
5. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास, पृ० 24
6. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास, पृ० 24
7. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास, पृ० 25
8. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास, पृ० 30
9. श्रद्धाराम फिल्लौरी : भाग्यवती, (भाग्यवती की पृष्ठ भूमिका)
10. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास, पृ० 36
11. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास, पृ० 36
12. ज्ञानचंद्र जैन, प्रेमचंद पूर्व के हिंदी उपन्यास, 1998, पृ० 8
13. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास, पृ० 42
14. प्रो० गोपाल राय, नवजागरण और हिंदी उपन्यास

पुत्री श्री सुनिलकुमार
ग्राम व पोस्ट पालावास
जिला रेवाड़ी (हरियाणा) 123035

इक्कीसवीं सदी की हिंदी-कहानियों में

वृद्धावस्था की समस्या

दीपारानी

शोध-छात्रा, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र

वृद्धावस्था जीवन एक बहुत बड़ी भयावह अवस्था है, जिसमें मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक स्थिति क्षीण होने के साथ-साथ कमजोर भी हो जाती है। इस प्रकार का व्यक्ति अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। बुजुर्ग, जो अनुभवों की एक निधि अर्थात् खजाना होते थे, उन वृद्धों की आज के उपयोगितावादी तथा उपभोक्तावादी समाज में और उनके परिवार में स्थिति दयनीय है। जिन औलादों के पालन-पोषण के लिए उन्होंने अपना पूरा जीवन कष्टों में बिताया और अपनी संतान पर सब-कुछ समर्पित कर दिया, वही संतान उन्हें तरह-तरह के कष्ट दे रही हैं। अपने बुजुर्ग माँ-बाप को साथ रखना उन्हें बोझ लग रहा है। अपने माँ-बाप को वे दो रोटी के लिए इस प्रकार तरसा रहे हैं, जैसे वे उनके नहीं, अपितु भिखारी हों। अपने घर से निष्कासित बुजुर्ग वृद्धाश्रमों में अथवा सड़कों पर भीख माँगने के लिए विवश हो रहे हैं। इन परिस्थितियों में धिरे वृद्धजन शारीरिक पीड़ा के साथ-साथ आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं से भी ग्रस्त हो जाते हैं।

वृद्धावस्था को ही देखकर महात्मा बुद्ध का मन उद्वेलित हो उठा था। मगध के राजपथ पर झुककर चलती हुई एक वृद्धा को देखकर आचार्य चाणक्य ने मजाक में पूछा, माताजी आप झुककर उस राजपथ पर क्या खोज रही हो? वृद्धा ने उत्तर दिया, 'ऐ मूर्ख! क्या तू नहीं जानता कि मेरा जवानी रूपी मोती खो गया है? युवावस्था का स्फूर्तिमान शरीर वृद्धावस्था में शिथिल हो जाता है। शरीर के अंगों की कार्यशीलता क्षीण हो जाती है। ऐसे में मनुष्य को दूसरों पर आश्रित होना पड़ता है।'

वर्तमान इक्कीसवीं सदी के परिदृश्य में बुजुर्गों की समस्या अंतर्राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर चुकी है। औद्योगीकरण और शहरीकरण के फलस्वरूप वृद्धों की मुसीबतों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। इस प्रकार इक्कीसवीं के आरंभिक वर्षों में वृद्धावस्था की समस्याओं पर विचार-विमर्श शुरू हो गया। आज इस अवस्था ने विकराल रूप धारण कर लिया। इस समस्या के चलते हमारे नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों की पुनर्प्राप्ति की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। वर्तमान

हिंदी-कहानी में वृद्धों की समस्याओं को लेकर काफी गंभीर लेखन हुआ है, जो इस अवस्था की समस्याओं की जड़ों को खँगालने के साथ-साथ उसके वर्तमान तथा भविष्य पर भी प्रकाश डालता है। इन कहानियों में वृद्धों के प्रति युवापीढ़ी के उपेक्षापूर्ण रवैये के साथ ही वृद्धों की पीड़ा तथा व्यथा को भी चिह्नित किया गया है।

संयुक्त परिवारों में वृद्ध-वृद्धाओं की उपेक्षाओं व दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण आधुनिक कहानियों में एक विराट समस्या के रूप में हुआ है। राकेशकुमार सिंह की कहानी 'कंदील' की वृद्धा पात्र फुआ अपने ही घर में उपेक्षित है, लज्जित है, अपनी संतान से पीड़ित है, प्रताड़ित है। उसकी दशा घर में दासी से भी बदतर है। फुआ का पोता अँग्रेजी में चिढ़ाते हुए कहता है—'सब समझती है बुढ़िया। तनिक एक रोटी और दे दो बहूरानी और लैट्रीन के समय भोली बन जाती है, कपड़े-फर्श-बिस्तर, कहीं भी पगली एक नंबर की खचड़ी है।'¹¹

वर्तमान पारिवारिक स्थितियाँ और सामाजिक पारंपरिक मूल्यों को दरकिनार करते हुए परिवार-विघटन और सामाजिक विखंडन की ओर उन्मुख है।

'रोमियो जूलियट और अँधेरा' कहानी के युवा लेखक कुणाल सिंह बुजुर्ग, वृद्ध असहाय लोगों के प्रति अपार संवेदना रखते हैं। कहानी में एक नौजवान लड़का ग्रीनरूम में किसी लड़की को तलाशता है। नौजवान लड़की के विषय में उस वृद्ध से पूछता है कि तुम उस लड़की से परिचित हो, जिसके बारे में मैं तुमसे बार-बार पूछ रहा हूँ, लेकिन तुम जान-बूझकर अनदेखी कर रहे हो। यह सुनना था कि वृद्ध को गुस्सा आ गया और वह आवेशित स्वर में बोला—'तुम्हें शर्म आनी चाहिए नौजवान। जानते हो, मैं कम-से-कम तुम्हारे आदरणीय बाप की उम्र का होऊँगा, चाहे उससे भी ज्यादा, क्या तुम्हें मेरी उम्र का सही अंदाजा है? मैं शर्त बद सकता हूँ कि तुम जैसा एक अनुभवहीन बाँका-छैला मेरी उम्र ठीक नहीं बता सकता। बहरहाल! तुम बताओ इस उम्र में भला मैं किसी लड़की को क्यों जानने, पहचानने जाऊँ, जबकि मुहावरे के अनुसार मेरे पैर कब्र में लटके हुए हैं।'¹²

हमारे पूर्वजों को इस बात की चिंता थी कि समाज में वृद्धवर्ग उपेक्षित न हो वरन् उसे उचित सम्मान दिया जाए, इसलिए उन्होंने कई आचरण संहिताएँ बनाई हैं और शास्त्रों में भी वृद्धों के प्रति कई नैतिक नियमों का उल्लेख भी किया गया है। वृद्ध लोग ज्ञान व अनुभव के आधार होते हैं, परंतु नई पीढ़ी संस्कारहीन और अनुशासनहीन होती जा रही है। वह इन वट वृक्षों की छाया से दूर रहती है। दिल्ली जैसे महानगरों में बीते कुछ वर्ष पहले वृद्ध दंपतियों की हत्या के मामले बड़े चर्चित रहे हैं। बेटे अच्छी नौकरियों के चक्कर में अपना परिवार लेकर बाहर चले जाते हैं और बँगलों में एकाकी जीवन जीने के लिए वृद्धों को छोड़ जाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि या तो घरेलू नौकर या पड़ोसी का बेटा किसी दिन वृद्ध दंपति की हत्या कर सारा सामान लेकर चंपत हो जाता है।

कहानीकार हिमांशु जोशी ने कहानी 'इस बार' में वृद्धों की समस्या को उठाया है। स्त्री-पात्र अति जो अमेरिका में रहती है और उसके बाबूजी दिल्ली में रहते हैं। वह अक्सर फोन पर उनके कुशलक्षेम के विषय में पूछती रहती है। एक बार उसे बाबूजी का फोन कई दिनों तक नहीं मिला तो वह परेशान हो गई। न्यूजर्सी की कृष्णा खरबंदा ने अति को बताया—'साउथ दिल्ली

में आए दिन बूढ़ों की हत्याएँ हो रही हैं। घरेलू नौकर-चाकर या चोर-डाकू गला घोटकर चले जाते हैं। हर दिन दिल्ली के अखबारों में ऐसी खबरें छपती रहती हैं। अब तो ये बातें आम हो गई हैं।³

कृष्णा की इस खबर ने अति की परेशानी को कम करने की बजाय और बढ़ा दिया।

वहीं दूसरी ओर औद्योगिकरण और शहरीकरण के फलस्वरूप भी वृद्धों की मुसीबतों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। कुछ बेटे अपनी पत्नी और बच्चों को लेकर शहर में आ बसते हैं और गाँव में तकलीफ की जिंदगी जीने के लिए बूढ़े माँ-बाप को छोड़ देते हैं। यहाँ तक कि शहरों में निवास कर रहे समृद्ध परिवारों के वृद्ध-वृद्धाओं को भी उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है।

मैत्रेयी पुष्पा की कहानी 'अपना-अपना आकाश' वृद्धा अम्मा के उपेक्षित एवं कारुणिक जीवन की व्यथा है। पाल-पोषकर, योग्य बनाने वाले बच्चों से माँ-बाप यही अपेक्षा करते हैं कि ये बुढ़ापे में उनकी सेवा करेंगे। किंतु अम्मा के इन सुनहरे स्वपनों को उसकी कलियुगी संतानों ने पल-भर में छिन्न-भिन्न कर दिया। माँ को साथ रखने हेतु बेटों में अनुबंध हुआ कि वे बारी-बारी से तीन-तीन महीनों के लिए उसे साथ में रखेंगे। नौ महीने गर्भ में और अपना पूरा जीवन इनके कल्याण में समर्पित करने वाली माँ के साथ तीन महीने भी उन्हें भारी लगे। अतः बेटों ने निर्णय लिया कि माँ को वृद्धाश्रम में भेजा जाए। उनकी बात को नौकर लल्लू चुपके से सुन रहा था। लल्लू बेटों की करतूत का पर्दाफाश करते हुए अम्मा से कहता है—'मई बंगलौर की, तुम्हें पाय पत्तौ सो? राति दोऊ भइया बात करि रहे कि बहौत परेसान करन लगी है अम्मा। सब बहुएँ दुखी है गई हैं इनते, से इन्हें मई करि आओ। खच्चा की सबरी बात सोनु भइया ते पूछि लई। अकेली परी-परी अकुलाई जाओगी। वहाँ न कोई अपनौ न जानि-पहचानि को।'⁴

वृद्धावस्था में न केवल शरीर बल्कि उसके अन्य अंग भी कमजोर पड़ जाते हैं। मस्तिष्क क्षीण और स्मृति-भंग हो जाती है। वृद्धाश्रमों में वहाँ इनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं होता है और वे बचे जिंदगी के दिन गिन-गिनकर व्यतीत करते हैं।

लेखिका की दूसरी कहानी 'बेटी' की स्त्री-पात्र चाची जो पाँच लड़कों की माँ और उनकी बहुओं की सास है, तिरस्कृत तथा उपेक्षित जीवन जीने को बाध्य है। आज के नाभिकीय परिवार में पति-पत्नी और बच्चों के अलावा बूढ़ों को कोई स्थान नहीं है। चाची भी इन्हीं परिस्थितियों से गुजर रही है। बेटों के दंभ में उसने अपनी बेटी को पढ़ाया नहीं, अपितु उसे धिक्कारा भी था। चाची की बेटी मुन्नी की सहेली, वसुधा चाची के त्रासदीपूर्ण जीवन का वृत्तांत सुनाते हुए कहती है, 'चाची के लड़कों के विवाह होते गए, बहुएँ आती गई, लड़कों के तेवर बदलते चले गए। चाची की चाय-चीनी तक का हिसाब बड़ी तंगदिली से रखने लगी। अतः चाची कुलवधुओं से चूल्हा अलग कर बैठी।' इस प्रकार कोई किसी तरह तो किसी बहाने सब अपना-अपना घोंसला अलग कर बैठे। चाचा-चाची निपट अकेले न्यारे पूत पड़ोसी दाखिल हो गए। मुन्नी के रहते चाची ने तवे पर चँदिया नहीं डाली थी, लेकिन बुढ़ापे में तो खटकना ही लिखा था। आँखें साथ नहीं देती थीं। धुँधला दिखने लगा था। घुटनों के जोड़ अकड़ने लगे थे। लड़कों के साथ बुढ़ापे ने भी तेवर दिखाने शुरू कर दिए। इसके अलावा पाँच-पाँच बहुओं की सास अपनी चार रोटी अलग डाले...इस तौहीन का दंश कहीं गहरे टीसता था। आस-पड़ोस में निकलने में झिझक लगती थी।⁵

ममता कालिया की चर्चित कहानी 'वारदात' समाज में उपेक्षित व तिरस्कृत वृद्धों की समस्याओं को उजागर करती है। सेवानिवृत्ति के पश्चात् घर में वृद्धों की स्थिति नाजुक होती जा रही हैं। उन्हें मानसिक यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। कहानी का नायक साहबसिंह निरंतर पत्नी चंद्रप्रभा के उलाहनों से पीड़ित है। एक दिन दोनों में खाना खाते समय झगड़ा हो गया। साहबसिंह उदास हो गया, पत्नी उदास पति को कहती है, ऐसे में तो तुम रोटी भी न खाओ, चाय भी न पीओ। पत्नी के इस व्यंग्य पर साहबसिंह अपनी चुप्पी तोड़ता हुआ बोला—'अच्छा है बुढ़ापे में भूख-प्यास कम हो जाती है, नहीं तो ये भी दुख देती।'⁶

कहानी 'चलो अब मर जाएँ' के वृद्ध दंपती अपने पुत्र तथा पुत्रवधू के व्यवहार से इतने परेशान एवं दुखी हैं कि वे जहर खाकर अपनी जीवनलीला समाप्त कर लेते हैं। शरीर से कमजोर वृद्ध बलवंत अपनी पत्नी से कहता है—'जीने को किसका मन नहीं चाहता। मुझे अशोक के बेटे को गोद में खिलाने की बड़ी चाह है। निकिता बिटिया को बस्ता लटकाए स्कूल जाता देखने की तमन्ना है। पर निर्मला तू यह मत समझ कि मैं मात्र शारीरिक पीड़ा से तंग आकर मृत्यु की कामना करता रहता हूँ, एक ही तो संतान है। वह घड़ीभर को मुस्कराकर मेरी तबीयत पूछ ले तो मेरी पीड़ा कम हो जाए। मुझे बेटे की उपेक्षा अधिक दुख देती है निर्मला।'⁷

यहाँ दूसरी ओर कामकाजी वृद्ध स्त्रियों की स्थिति भी दयनीय है। यहाँ वृद्ध औरतों को दोहरे अभिशाप को झेलना पड़ता है। एक ओर वृद्धावस्था की पीड़ा, दूसरी ओर पितृसत्तात्मक पारिवारिक संरचना का दंश। 'जीने का अंदाज' कहानी इस विषय को बेबाकी से उठाती है—'दुनिया के लिए मैं लायन्स क्लब की प्रेसीडेंट हूँ लेकिन घर में तो मेरी जगह धापू बाई की है। कहने को तो दो-दो बहुएँ हैं, चार नौकर हैं, लेकिन यदि सामने खड़े होकर काम न करवाऊँ तो देखो कितना सामान खराब हो जाता है।'⁸

यहाँ दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस से लौटी मिसेज अग्रवाल पितृसत्तात्मक परिवार में स्त्री की स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है—'डॉ० मिसेज अग्रवाल पंद्रह दिन में न्यूजीलैंड से कांफ्रेंस अटैंड करके इंडिया लौटी थी। सोचा जाकर मिल आऊँ। उनके घर पहुँची तो हाथ में झाड़ू लिए, साड़ी ऊँची करके पटलियाँ कमर में खोसी हुई, घर झाड़ने में लगी थी। डॉक्टर बेटा और डॉक्टर पति दोनों ही पेपर पढ़ने में मग्न थे।'⁹

इस प्रकार 21वीं सदी की हिंदी-कहानी में वृद्धावस्था की समस्याओं के अनेक पहलुओं का रेखांकन हुआ है। हमारे युग में संयुक्त से एकल, फिर लिव-इन होते संबंधों, घटते नैतिक मूल्यों औद्योगिकीकरण तथा नगरीकरण की प्रक्रिया के बीच हमारे बुजुर्गों का घटता सम्मान और उन पर बढ़ते अत्याचार हमारी निरंकुशता एवं दिशाहीनता को प्रकट करते हैं। इन कहानियों में उन्नतशील और विकसित मानवीय सभ्यता के अमानवीय चेहरे से नकाब हटा है। इन कहानियों में हमारी विरासत की सिसकियाँ दर्ज हैं, जो हमारे वर्तमान और भविष्य के लिए सुखद संदेश नहीं हैं।

सरकारी और गैर सरकारी संगठन वृद्धों के कल्याण के लिए कार्यरत हैं और काफी हद तक वे उनके रोटी, कपड़ा और मकान की भी व्यवस्था कर देते हैं। वृद्धाश्रमों में रह रहे बुजुर्गों का एक भावनात्मक पहलू भी है। जिन बेटे-बेटियों के लिए युवावस्था में उसने अनेक कष्ट सहे, जिनको उसने खून-पसीने से पाला, आज यदि वे उसकी उपेक्षा करते हैं, तो वह सदैव एक

अंतर्वेदना से पीड़ित रहेगा। मूल आवश्यकता इस बात की है कि समाज की मानसिकता बदली जाए, उसमें वृद्धजनों की सेवा का नैतिक भाव भरा जाए।

संदर्भ

1. राकेशकुमार सिंह, जोड़ा हारिल की रूपकथा, पृ० 82
2. वही, पृ० सं. 104
3. हिमांशु जोशी, जलते हुए डैने तथा अन्य कहानियाँ, पृ० 213
4. मैत्रेयी पुष्पा, 'चिन्हार', पृ० 19
5. वही, पृ० 22
6. वही
7. डॉ० बानो सरताज, चलो अब मर जाँ, पृ० 11
8. डॉ० सुरेखा सिन्हा, उस धूप की छाँह, पृ० 87
9. वही

सुपुत्री श्री वेदप्रकाश
गांव सालेहपुर, पो० धीन
हसील बराड़ा, (अंबाला) हरियाणा
मो० 098139-03618

जीवन के विविध आयाम और महिला हिंदी-उपन्यासकार

डॉ० करनैल सिंह

वर्तमान महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में जीवन की सच्ची त्रासदियाँ उभरकर आयी हैं। कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान, चित्रा मुद्गल, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा आदि ऐसी उपन्यासकार हैं, जिन्होंने अबला कहे जानी वाली औरतों के सशक्त, जुझारू व्यक्तित्व को दर्शाया है। जीवन की तेज रफ़्तार के भंवर में दम घुटकर जीने के लिए अभिशप्त इंसान की जिंदगी के यथार्थ इनके उपन्यासों का केंद्र-बिंदु है। बेरोजगारी आज की युवा पीढ़ी के सामने भयावह रूप में खड़ी है। आधुनिकता और विकास के दौर में नौकरी की तलाश में भटकते इंसान की दयनीयता का असली रूप सूर्यबाला ने अपने उपन्यास 'अग्निपंखी' के जरिए पाठकों के सामने रखा है। तहसीलदार के ओहदों पर तैनात पिल्णी ने अपने पुत्र जयशंकर को अच्छी तालीम दी थी। वे चाहते थे कि उनका पुत्र हाकिम बने किंतु पिता की आकस्मिक मृत्यु के बाद यह बोझ माँ पर आ पड़ा था। खेती-बाड़ी का काम करने वाली माँ ने कभी जयशंकर को पिता के न होने का अहसास नहीं होने दिया। उसकी पढ़ाई में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे, इस कारण उसे कभी खेत में हल जोतने नहीं दिया। जयशंकर ने अपने-आपको खेत-क्यार से बिल्कुल अलग रखा था। नौकरी के लिए आवेदन करते ही उसकी समझ में आ गया था कि बिना रिश्तों के गाड़ी पटरी पर नहीं बैठ सकती। उपन्यास की इन पंक्तियों में जयशंकर का उत्साह, आशा और विश्वास निराशा में बदल गया। अरसे बाद उसे शहर में काम मिला भी तो रहने के लिए छत नहीं, तन ढाँपने को कपड़ा तक नहीं। आशाओं की डोर में बँधकर शहर की ओर पलायन करने वाला जयशंकर एकदम निराश हो चुका था। उसकी स्थिति क्या थी?

आज़ाद भारत की सच्ची तस्वीर है यह। जयशंकर और उसके साथ सड़क पर सोने के लिए अभिशप्त जवान की जिंदगी वर्तमान भारत की हकीकत है। महिला उपन्यासकार सूर्यबाला बड़े ही मार्मिक ढंग से अपने पात्र जयशंकर के व्यथित जीवन का वर्णन करते हुए कहती हैं—'पत्नी के साथ तंग कोठरी में जीवन गुज़ारने वाला यह युवक अपनी बेबसी और लाचारी भरी व्यथा-कथा को न तो रिश्तेदारों को सुनाना चाहता है और न ही गाँव वालों को। घर की हालत इतनी खराब है कि भूख मिटाने के लिए खाना या ओढ़ने के लिए कपड़े तक उनके पास नहीं है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि समाज से प्रतिबद्ध साहित्यकार समस्याओं से आँख चुराकर नहीं रह सकता। बेरोजगारी के कारण समाज में होने वाले असर का यथार्थ चित्र यहाँ मौजूद है। युवा पीढ़ी की आक्रोश-भरी प्रतिक्रिया जहाँ अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्ति पाती है, वहीं अपने में सिमटकर जड़वत् भी बन जाती है। महिला उपन्यासकारों ने ऐसे पात्रों के मानसिक तनाव का

बारीकी से विश्लेषण किया है। चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवाँ' की नमिता अपनी पढ़ाई पूरी न कर पाने के कारण दुखी है। लकवे से पीड़ित पिताजी का इलाज साथ में छोटे भाई-बहनों की पढ़ाई का जिम्मा उसके बूते से बाहर की बात थी। नमिता अपनी माँ के साथ मिलकर परिवार की गाड़ी को किसी तरह खींच रही थी। चित्रा मुद्गल उस जुझारू महिला का वर्णन करती हुई कहती है—'श्रमजीवा में पापड़ बेलकर, कभी किसी की साड़ी में फॉल लगाकर जो कुछ मिलता था, वही परिवार की कमाई थी। कभी वह ट्यूशन भी करती। एक ओर परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी, वहीं दूसरी ओर रोजगार कार्यालय के चक्कर काटने वाली नमिता अपनी जीवन-यात्रा में तमाम विरोधी ताकतों का सामना करती है। उद्योगपति संजय कनोई के प्रलोभनों की शिकार नमिता देरी से ही सही, पर उसकी काली करतूतों को समझ जाती है कि यह आदमी प्रेमी होने की आड़ में उसकी अपनी कोख को खरीदने का षड्यंत्र रच रहा था। महत्वाकांक्षा का फल तो उसे भोगने ही था। युवतियों के लिए, युवाओं के मोहजाल में न फँसने की यह चेतावनी इसमें अंतर्निहित है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया अम्मा की तरह कभी नहीं होना चाहती। वह भाभी की घुटन भरी जिंदगी की नियति कदापि स्वीकार नहीं कर सकती। वह कहती है—'प्रिया जिंदगी को जिंदादिली से जीना चाहती है। वह महसूस करती है कि संघर्ष भरी जिंदगी के बीच जीने की जद्दोजहद में लगी स्त्री का यथार्थ इस उपन्यास में है।

चंद्रकांता के 'अपने-अपने कोणार्क' की कुनी घर का पूरा भार अपने कंधों पर ढोती है, पर ऊफ तक नहीं करती। अंत में परिवार से अलग होने की पीड़ा भी झेलती है। कुनी के लिए भीतर-बाहर का माहौल तनाव भरा है। 'वक्त का मिजाज' न समझ पाने की भागती हुई दुनिया के साथ जीना नहीं सीखने की पीड़ा उसे महसूस होती है। 'सुबह के इंतजार तक' की निरीह लड़की 'मानो' बलात्कार से गर्भवती हो गई थी। 'मानो' के साथ उसकी परिस्थितियों ने, समाज ने धोखा दिया था। वह हारने के लिए कदापि तैयार नहीं थी बल्कि मेहनत की कमाई करके आत्मनिर्भर हो समाज से जूझते रहने का दृढ़ निश्चय उसने कर लिया था। मैत्रेयी पुष्पा के 'झूलानट' उपन्यास की शीलो पति द्वारा तिरस्कृत होने पर रोती-तड़पती नहीं अपितु प्रतिशोध की ज्वाला में धधककर, स्त्री-शक्ति का पर्याय बनकर शान से जीती है। वह जानती है कि यदि उसे सम्मान की जिंदगी जीनी है, तो उसे अकेले ही लड़ना है। 'कठगुलाब' के स्त्री-पात्र इसी आत्मशक्ति के बल पर परिस्थितियों से जूझते हैं। अपने जीजा के व्यवहार से परेशान स्मिता घर छोड़ने की हिम्मत जुटा लेती है। असीमा उसे बताती है कि मर्दों की दुनिया में रहने के लिए होमसाइंस नहीं, कराटे सीखने की जरूरत है। बिखराव के माहौल में स्त्री घर-बाहर कहीं भी सुरक्षित नहीं है। ऋता शुक्ल की 'अरुंधती' अपने ही लोगों के बीच असुरक्षित अनुभव करती है। पिता के निधन के पश्चात् माँ-बेटी महसूस करती है कि वे दोनों अपनों के लिए परायी हो गई हैं। अरुंधती साफ कहती है—आज रिश्तों की जीवंतता और आत्मीयता कहीं दिखाई नहीं देते, केवल नफा-नुकसान की दृष्टि से ही रिश्तों को नापा जाता है। चित्रा मुद्गल का 'गिलीगड्ड' आज के बदलते जीवन संबंधों को, बदलते जीवनमूल्यों को उनकी वास्तविकता के साथ परिभाषित करने वाला उपन्यास है। बुजुर्गों की अनदेखी तथा युवा नौजवान पीढ़ी का उनके प्रति अलगाव उपन्यास की मूल कथावस्तु है। रिटायर्ड सिविल इंजीनियर जसवंत सिंह तथा रिटायर्ड कर्नल विष्णुनारायण स्वामी ऐसे उपेक्षित पात्र हैं, जो अपनों के बीच अजनबी हैं। कर्नल बनावटी

रिश्तों के सहारे अपना अकेलापन बाँटना चाहता है, वहीं जसवंत सिंह की मौजूदगी बहू सुनयना और बेटे नरेन्द्र को एकदम फालतू लगती है। कैसा विरोधाभास है कि बहू सुनयना तथा बेटा नरेन्द्र पिता के घर को, उनकी संपत्ति को उनके बचत खातों को अपना समझते हैं और उस पर मालिकाना हक भी जताते हैं, किंतु पिता के प्रति जिम्मेवारियों से कन्नी काट जाते हैं। 'गिलिगड्ड' उपन्यास में चित्रा मुद्गल ने दलित स्त्री पर होने वाले अत्याचार को बखूबी उठाया है। नेता रामखिलावन यादव दलित स्त्री सुनगुनिया बाई को ग्राम-पंचायत की प्रधान बनाना चाहता है। नेता दलित सुनगुनिया को ब्राह्मणों व ठाकुरों के खिलाफ उकसा उसे पार्टी कार्यालय में नौकरी दिलवाने का झाँसा देकर फुसलाना चाहता है। लेकिन सुनगुनिया ने नेता जी को साफ-साफ बता दिया—'वह अपने लिए किसी राजनीतिक पार्टी को नहीं चुनती, बल्कि शांति से घर का चौका-बर्तन करके अपने बच्चों को पालना चाहती है। चंद्रकांता का उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' की कुनी पूरी जिदगी अपने भाई-बहनों के लिए समर्पित रही। शादी के बाद ससुराल आई। बहुओं के लिए कुनी अनब्याही ननद के साथ-साथ 'नये-पुराने के बीच' पुल बनकर खड़ी है। लेकिन अपने से छह साल बड़ी ननद कुनी को भाभी कावेरी सही तौर-तरीके अपनाने की सलाह देती है। कावेरी कहती—कुनी समझ गई थी कि अब उसके दिन लद गए हैं। वह महसूस करती है कि—कुनी को अफसोस है कि वक्त में आया बदलाव एक ही माँ की संतानों को आपस में किस तरह विलग करता है।

स्त्री-पुरुष संबंधों में एक ओर खोखलापन है तो दूसरी ओर स्वार्थ। अंतरंगता के सूत्र में, ढीलापन नजर आता है। मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी', मृदुला गर्ग का 'उसके हिस्से की धूप', राजी सेठ का 'निष्कवच' ऐसे ही उपन्यास हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों, विशेषकर दांपत्य में आई दरार का खुलासा 'यह खबर नहीं' उपन्यास में हुआ है। अविवेक अनैतिक कार्यों से जुड़कर अपने नाम को सार्थक करता रहता है। अपनी पत्नी अमृता के प्रति वह इतना संवेदनाशून्य हो गया था कि हर वक्त उसे धमकाता था। अमृता पति से तंग आकर अपने बेटे के साथ मायके चली आई थी। यहाँ भी अविवेक उसे फोन पर धमकाता था कि वह उसे बर्बाद कर देगा। उस पर इतने मुकदमे करेगा कि उनका दिवाला निकल जाएगा। इतना ही वह उसे मानसिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से अपंग बना देना। जहाँ तक पुलिस का सवाल है उसे खरीदने में कितना वक्त लगता है? परिणाम उसे ही भुगतना पड़ेगा। बुरे और असफल संबंधों की पीड़ा के साथ वह किसी भी स्थिति को हादसा बना दिए जाने के भय और आशंका से सहम जाती थी।

महिला उपन्यासकार यह बताने में सफल रही है कि आज भी असंख्य बेबस औरतें हैं, जो पढ़ी-लिखी होकर भी ससुराल में बदहाली का जीवन जीने को विवश हैं। गुलामों की तरह जीने वाली ये औरतें पति के निर्मम और क्रूर अत्याचारों को सहन करती जाती हैं। अमृता जैसी बेबाक स्त्रियाँ बहुत कम हैं, जो अपने प्रतिकूल परिस्थितियों में पति से नाता तोड़कर ससुराल रूपी कैद से बाहर निकलने में कामयाब हो जाती हैं।

आज की युवा पीढ़ी के सामने सबसे बड़ा संकट पारिवारिक रिश्तों को बनाए रखने का है। भूमंडलीकरण, बाजारवाद और उपभोक्तावाद के दौर में पारिवारिक संबंधों में आई यांत्रिकता की भयावह परिणति का सच्चा रूप ममता कालिया के 'दौड़' उपन्यास में उभर आया है। उपन्यास का नायक एम०बी०ए० कर चुका है। वह अच्छी कंपनी में नौकरी करता है तथा अपनी मनपसंद

लड़की स्टैला से शादी करना चाहता है। पिता राकेश पांडे पत्नी रेखा को पवन के पास लड़की देखने इसलिए भेजता है कि बेटा पिता से ज्यादा माँ को मानता है। रेखा को पवन के पास पहुँचने पर मालूम हुआ कि स्टैला-पवन के घर में स्टैला का शासन चलता था। दरअसल, रेखा माँ की हैसियत से परेशान थी और तनाव में थी। राकेश पांडे अपनी पत्नी को समझाते हुए कहते हैं—‘अपनी गरिमा इसी में होती है कि बच्चों से टकराव की स्थिति न आने दे।’ शादी के बाद पवन और स्टैला अपने कैरियर के लिए अलग-अलग रहने के लिए तैयार हो जाते हैं और उनका दांपत्य सेटलैट और इंटरनेट से चलने वाला दांपत्य बन जाता है। उपन्यास का छोटू ताइवान से अपने देश इसी शर्त पर वापस आने के लिए तैयार होता है कि सेवानिवृत्त माँ-बाप उसे अपना अलग बिजनेस शुरू करने के लिए मोटी रकम दें। रिश्तों में आया ठंडापन उपन्यास के दूसरे पात्र सिद्धार्थ के माध्यम से उजागर हुआ है। पिता के अंतिम संस्कार में भाग लेने में अपनी असमर्थता जाहिर करता है। अपनी चौंसठ साल की गठियाग्रस्त माँ से फोन पर कहता है—‘दरअसल, आज का युग कैरियर की सोच में माँ-बाप के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भूल चुका है। या यूँ कहें कि युवाओं की संवेदना पूर्णतः लुप्त हो गई। भावनाएँ मर चुकी हैं, संस्कार दफन हो चुके हैं। अपने दायरे में सिमटा आज का युवा हर रिश्ते में केवल मतलब साधता है।’

वर्तमान राजनीति और नौकरशाही के दबाव में पिसती जनता के दुख-दर्द को वाणी देने में मन्नु भंडारी अग्रणी हैं। ममता कालिया अपने ‘दौड़’ उपन्यास में उपभोक्तावादी संस्कृति को बेनकाब करती हैं। कमलकुमार ने राजनीति और सत्ता-तंत्र में फैले भ्रष्टाचार को ‘यह खबर नहीं’ उपन्यास में उठाया है। राजनीतिक उठा-पटक में लिप्त ट्रेड यूनियन नेताओं की कारगुजारी का यथार्थ चित्रण चित्रा मुद्गल की रचना ‘आवों’ में मौजूद है। ‘महाभोज’ में राजनीतिक गुटबाजी और उसके कारण हरिजन बिसेसर की हत्या को आत्महत्या में तब्दील करने के पीछे दा-साहब की तिकड़म बाजी काम करती है। दा-साहब वास्तविक हत्यारे जोरावर को बचाते हैं, जबकि बेगुनाह बिंदा को बिसेसर की हत्या के आरोप में इसलिए फँसाया जाता है कि वह बिसेसर का मित्र भी है और पुलिस तथा सत्ता के खिलाफ बोलता भी है। वास्तव में झूठे वायदों और कागजी योजनाओं से जनता की आँखों में धूल झाँकने वाली नेताओं की पोल इस उपन्यास में खोली गई है। भ्रष्ट राजनीति से आम जनता परेशान है। ‘इदन्नमम्’ की मंदा वंचितों के अधिकारों के लिए लड़ती है। कमलकुमार ने अपने उपन्यास में राजनीतिक घोटालों का भंडा-फोड़ किया है। नेताओं के भाषण अलग, करतूत अलग। बाजारवाद, गंदी राजनीति और भ्रष्ट शासन-तंत्र में पैसे का बोलबाला है।

वैश्वीकरण के दौर में जन्मी उपभोक्तावादी संस्कृति का सीधा संबंध विज्ञापनबाजी से जुड़ा है। विज्ञापन की चकाचौंध में मनुष्य अपनी आँखों की रोशनी खो बैठता है। वह विज्ञापन के पीछे भटकता है। ‘दौड़’ उपन्यास में शरद को लगता है—बूट पॉलिस बेचना सबसे मुश्किल काम है, रोजबिंदर के लिए ग्राहकों में नया टुथपेस्ट लोकप्रिय करना चुनौतीपरक है और पांडे को अपनी कंपनी का टारगेट पूरा करना है। सभी लोगों को अपना प्रोडक्ट बेचने से मतलब है। सच और झूठ की बात नहीं। सारा का सारा विज्ञापन सच्चाई से कोसों दूर है। यदि देखा जाए तो आज जिंदगी के बाजार और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपना आधिपत्य बनाए हुए हैं।

अंत में हम कह सकते हैं कि समकालीन महिला उपन्यासकार समाज में पनप रहे जटिल प्रश्नों के प्रति अत्यंत संवेदनशील हैं। समय के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में आए बदलावों को इन रचनाकारों ने बड़ी बारीकी से जाँचा, परखा और पकड़ा है।

संदर्भ

1. सूर्यबाला, अग्निपंखी, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, पृ० 21
2. वही, पृ० 24
3. सूर्यबाला, अग्निपंखी, सुबह के इंतजार तक, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, पृ० 109-110
4. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2004, पृ० 114
5. वही, पृ० 25
6. मृदुला गर्ग, कठगुलाब, भारतीय ज्ञानपीठ, चतुर्थ सं० 2004, पृ० 19
7. ऋता शुक्ल, अरुंधति, सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० 2004, पृ० 25
8. चित्रा मुद्गल, गिलिगड्ड, सामयिक प्रकाशन, तृतीय संस्करण 2005, पृ० 10
9. वही, पृ० 83
10. चंद्रकांता, अपने-अपने कोणार्क, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं० 1995, पृ० 86
11. कमलकुमार, यह खबर नहीं, अखिल भारती, दिल्ली, प्रथम सं० 2000, पृ० 65
12. ममता कालिया, दौड़, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2000, पृ० 89

श्रीराम स्वीट्स बिशनगढ़ गामड़ी
अंबाला रोड, कैथल (हरियाणा) 136027
मो० 094662-85623

कार्यरत तथा घरेलू महिलाओं की किशोरियों के मानसिक स्वास्थ्य में नर्वसनेस का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० शुभा शर्मा, डॉ० उमा जोशी

पूर्व प्रवक्ता, गृहविज्ञान

एस०डी०डी०के०के० (पी०जी०) कालेज, चिंगरावठी

रीडर गृहविज्ञान,

वी०एम०एल०जी० (पी०जी०) कालेज, गाजियाबाद

राष्ट्र की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ के मानवीय संसाधनों का पूरा उपयोग किया जाए और इन संसाधनों को जुटाने के लिए मानव का उचित विकास आवश्यक हो, जो माता की गोद से ही प्रारंभ हो जाता है। वस्तुतः किसी भी समाज या राष्ट्र की प्रगति के लिए पुरुषों की शिक्षा की तुलना में स्त्रियों की शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। स्वतंत्र भारत में स्त्री-शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाना अति आवश्यक है। इस कार्य के लिए अधिक संख्या में बालिका विद्यालयों की स्थापना की जाए। स्त्री के प्रति समाज में स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया जाए। ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों के लिए कुशल अध्यापिकाओं की नियुक्ति की जाए तथा शिक्षा प्राप्त कर रही बालिकाओं को पर्याप्त आर्थिक सहयोग दिया जाए। इसी के साथ पाठ्यक्रम में सुधार जैसे कदम उठाए जा सकते हैं।

कार्यरत माताओं का जीवन व्यवस्थित रहता है तथा वे बच्चों को दिन के कुछ घंटे अवश्य देती हैं। समय की कमी के कारण संभवतः यह समय-प्रबंधन अव्यवस्थित क्रम की तुलना में अधिक उपयोगी होता है। जो महिलाएँ बाहर जाकर कार्य नहीं करतीं, वे पूरा समय बच्चों को देती हैं। इस तरह अत्यधिक समय देना उनके स्वतंत्र विकास में भी बाधक हो सकता है। अतः कहा जाता है कि कार्यरत माताएँ भी अपने बच्चों को उनके विकास के लिए जितना समय वांछित है वह दे देती हैं और कम समय में ही समय का सदुपयोग अधिक कर लेती हैं। जबकि अकार्यरत माताओं के साथ समय का प्रतिबंध नहीं रहता। बाल्यावस्था के पश्चात् किशोरावस्था आती है। यह अवस्था बचपन की समाप्ति तथा वयस्कावस्था प्रारंभ होने तक रहती है। इस अवस्था में विकास की गति अत्यंत तीव्र रहती है। इस अवस्था में किशोर न तो बालक रहता है और न ही वयस्क, वरन् वह दुविधाजनक स्थिति में रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब उसके शरीर में कुछ परिवर्तन होना प्रारंभ होते हैं। बचपन के ढाँचे से प्रौढ़ बनने की प्रक्रिया आरंभ होती है। यह वयः संधि का काल ही किशोरावस्था है। हरलॉक ने कहा कि किशोरावस्था तीन प्रकार की है। अध्ययन

की सुविधा की दृष्टि से किशोरावस्था को निम्नलिखित तीन अवस्थाओं में बाँटा गया है—

1. **पूर्व किशोरावस्था**—इस अवस्था की अवधि 11 से 13 वर्ष है। बालिकाओं में 11 वर्ष की आयु से तथा बालकों में एकाध वर्ष बाद यह अवस्था प्रारंभ होती है। बहुलर ने इस अवस्था को नकारात्मक अवस्था कहा है, क्योंकि इस अवस्था में बालक के लैगिंग अवयवों का विकास शीघ्रता से होता है एवं उसका सामाजिक एवं संवेगात्मक नियंत्रण शिथिल होने लगता है, इस कारण अधिकांश बातों के प्रति बालक का दृष्टिकोण नकारात्मक होता जाता है।

2. **प्रारंभिक किशोरावस्था**—यह अवस्था 13 वर्ष से प्रारंभ होकर 16 या 17 वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में समायोजन संबंधी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ये समस्याएँ स्कूल तथा समाज से संबंधित होती हैं।

3. **उत्तर किशोरावस्था**—विकास की अवस्थाओं में यह अंतिम अवस्था है। यह 17 वर्ष से 21 वर्ष तक रहती है। यह जीवन का सबसे कठिन काल है, क्योंकि किशोरावस्था में बालक में ऐसे क्रांतिकारी परिवर्तन होते हैं, जो माता-पिता, शिक्षक, समाज, राष्ट्र एवं स्वयं किशोर के लिए समस्या बन जाते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य

किशोरावस्था में किशोरियों का मानसिक स्वास्थ्य उचित परामर्श के द्वारा अच्छा रहता है। अध्यापकों तथा अभिभावकों को इस अवस्था में होनेवाले किशोरियों के मानसिक स्वास्थ्य की जानकारी प्राप्त करके उन्हें जीवनवृत्ति परिपक्वता की ओर दिशा-बोध देने के महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करना चाहिए।

प्रति मानसिक स्वास्थ्य के तत्त्व—मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में किए गए विभिन्न अध्ययनों में कुछ मनोवैज्ञानिकों जैसे—कार्ल रोजर्स, मैसलों एवं मिटिलमैन (1951) द्वारा समीक्षा की गई और उसके आधार पर कुछ ऐसे सूचकों की सूची तैयार की है जिसे धनात्मक मानसिक स्वास्थ्य का प्रमुख तत्त्व के रूप में समझा गया है। ऐसे सूचकों में निम्नांकित तत्त्व महत्त्वपूर्ण बताए गए हैं—

1. सामान्य वर्धन एवं विकास
2. अपने प्रति उचित मनोवृत्ति
3. भविष्य की ओर उन्मुखता
4. स्वतंत्रता
5. अधिकतम स्तर तक अपनी क्षमता का उपयोग करना
6. जिदगी के प्रति समन्वित दृष्टिकोण तथा तनाव के प्रतिरोध
7. वास्तविकता का प्रत्यक्षण तथा आवश्यकता विकृति से स्वतंत्रता
8. स्वस्थ आत्म-सामान पर आधारित ज्ञान
9. अहम् पहचान का ज्ञान
10. अन्य लोगों के साथ स्नेह एवं विश्वास का भाव कायम रखना
11. सुरक्षा का भाव
12. तर्कसंगत निर्भरता
13. तर्कसंगत आक्रामकता

14. समूह की आवश्यकताओं को संपन्न करने की क्षमता
15. उत्तम अंतर्वैयक्तिक घनिष्ठता विकसित करने की क्षमता
16. अनुभवों में खुलापन
17. कल्याणकारी संवेगों—जैसे खुशी, हर्ष, सुखद भाव आदि उत्पन्न करने की क्षमता
18. प्रयोगात्मक आँकड़ों के अनुरूप उचित संकेतीकरण का प्रयोग
19. नवीनतम क्षणों के साथ सर्जनात्मक अनुकूलन
20. अपने अनुभवों के साथ आत्म-संरचनाओं की संगतता
21. लचीलापन।

उद्देश्य

1. कार्यरत महिलाओं की किशोरियों के मानसिक स्वास्थ्य में नर्वसनेस का परीक्षण 2. घरेलू महिलाओं की किशोरियों के मानसिक स्वास्थ्य में नर्वसनेस का परीक्षण 3. कार्यरत तथा घरेलू महिलाओं की किशोरियों के मानसिक स्वास्थ्य में नर्वसनेस का अंतर ज्ञात करना।

शोध पद्धति

इस अध्ययन के लिए हमने वैज्ञानिक विधि के आधार पर सर्वप्रथम समस्या का चुनाव किया। जिसमें मेरठ जनपद के 5 इंटर कालिज व 3 महाविद्यालयों का चयन किया गया। जिसमें 200 कार्यरत व 200 घरेलू महिलाओं की किशोरियाँ जिनकी उम्र 16 से 21 वर्ष चयनित की गई इन किशोरियों के मानसिक स्वास्थ्य में नर्वसनेस का परीक्षण करने हेतु डॉ॰ प्रमोद कुमार के मैटल हैल्थ चैकलिस्ट का प्रयोग किया गया।

कार्यरत और घरेलू महिलाओं की किशोर बालिकाओं के मानसिक स्वास्थ्य में नर्वसनेस का परीक्षण

उत्तरदाता	हमेशा	अक्सर	कभी-कभी	न के बराबर	कुल योग
कार्यरत महिलाओं की	10	17	95	78	200
किशोर बालिकाएँ (200)	(13.0)	(20.0)	(98.5)	(68.5)	
घरेलू महिलाओं की किशोर	16	27	102	59	
बालिकाएँ (200)	(13.0)	(20.0)	(98.5)	(68.5)	200
कुल योग	26	40	197	137	400

$$X^2 = 5.1682, T.V. = 7,815, DF = 3$$

उपर्युक्त तालिका के अनुसार कार्यरत महिलाओं की किशोर बालिकाओं के मानसिक स्वास्थ्य में नर्वसनेस का स्तर क्रमशः 10, 17, 95, 78 हमेशा, अक्सर, कभी-कभी, न के बराबर पाया गया। इसी प्रकार घरेलू महिलाओं की किशोर बालिकाओं का मानसिक स्वास्थ्य में नर्वसनेस का अध्ययन करके परीक्षण करने पर (कुल कैलकुलेटिड वैल्यू अंककित) 5.1682 पाया गया। जिसका प्रमाणिक मान 0.5 स्तर पर 7.815 पाया गया।'

अतः प्रमाणिक मान आंककित मान से अधिक है इसलिए शून्य परिकल्पना सत्य है। कहा जा सकता है कि कार्यरत महिलाओं की किशोर बालिकाओं में नर्वसनेस का स्तर घरेलू

महिलाओं की किशोर बालिकाओं से कम है।

संदर्भ

1. नीता अग्रवाल, मातृकला एवं शिशुपालन, विनोद पुस्तक मंदिर
2. काजी गौस आलम, रामजी श्रीवास्तव, आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, तृतीय संस्करण, 2002
3. ललिता देवी, स्टेट्स एंड एंप्लायमेंट ऑफ वूमैन इन इंडिया, न्यू दिल्ली
4. रामबाबू गुप्ता, बालविकास, रतन प्रकाशन मंदिर, सप्तम संस्करण, 2000
5. एम० शारदा देवी और टी०आर० रायलू, डिटरमिनेंट्स ऑफ एमपावरमेंट ऑफ वर्किंग एंड नान वर्किंग वूमैन, 2003
6. शीला सलूजा, चुन्नीलाल सलूजा, कामकाजी महिलाएँ, संस्करण, अक्टूबर 1999
7. स्वास्तिका दूबे, अलग हटकर सोचती हैं उच्च शिक्षित महिलाएँ, 2005, न्यूज पेपर मैगजीन
8. अनंतकुमार, गरीबी और किशोरियों का स्वास्थ्य योजना, अक्टूबर 2001 पृ० 11-14
9. डी०एन० श्रीवास्तव, प्रीति बाल मनोविज्ञान बाल विकास, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृ० 390
10. शशि प्रभा जैन, मानव विकास परिचय, द्वितीय संशोधित संस्करण, 2007, पृ० 194-197
11. डी०एन० श्रीवास्तव, अनुसंधान विधियाँ, चतुर्थ संस्करण, साहित्य प्रकाशन आगरा, पृ० 512 से 525

शोध दिशा

के आजीवन सदस्य बनकर
शोध और साहित्य के क्षेत्र में
अपना अमूल्य सहयोग दीजिए।
आजीवन सदस्यों को पत्रिका
के पहले छपे अंक बिना मूल्य
भेंट किए जाते हैं।

हिंदी साहित्य निकेतन

महत्त्वपूर्ण कोश एवं संदर्भ ग्रंथ

● निश्तर खानकाही एवं डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल राजल और उसका व्याकरण	250.00
● डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश : भाग-1	495.00
हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश : भाग-2	700.00
हिंदी तुलनात्मक शोधसंदर्भ	995.00
शोधसंदर्भ-भाग-1	500.00
शोधसंदर्भ-भाग-2	550.00
शोधसंदर्भ-भाग-3	525.00
शोधसंदर्भ-भाग-4	595.00
शोधसंदर्भ-भाग-5	895.00
हिंदी तुकांत कोश	300.00
शोध अंक भाग-1	100.00
शोध अंक भाग-2	100.00
शोध अंक भाग-3	100.00
शोध अंक भाग-4	100.00
शोध अंक भाग-5	100.00
शोध अंक भाग-6	100.00
शोध अंक भाग-7	100.00
शोध अंक भाग-8	100.00
शोध अंक भाग-9	100.00
शोध अंक भाग-10	100.00
शोध अंक भाग-11	100.00
शोध अंक भाग-12	100.00
शोध अंक भाग-13	100.00
शोध अंक भाग-14	100.00
शोध अंक भाग-15	100.00
शोध अंक भाग-16	100.00
शोध अंक भाग-17	150.00
शोध अंक भाग-18	200.00

शोध अंक भाग-19	200.00
शोध अंक भाग-20	200.00
शोध अंक भाग-21	200.00
शोध अंक भाग-22	200.00
शोध अंक भाग-23	200.00
शोध अंक भाग-24	200.00
शोध अंक भाग-25	200.00
शोध अंक भाग-26	200.00

समीक्षा एवं समालोचना

सवाल साहित्य के • डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
हिंदी सिनेमा और दांपत्य संबंध • डॉ. चंद्रकांत मिसाल	500.00
सिनेमा और साहित्य का अंतःसंबंध • डॉ. चंद्रकांत मिसाल	200.00
डॉ. कुँअर बेचैन के साहित्य में प्रतीक विधान • डॉ. अंजु भटनागर	500.00
मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध • डॉ. ज्योति सिंह	150.00
मृदुला गर्ग और नारी-अस्मिता का प्रश्न • डॉ. ज्योति सिंह	300.00
काका हाथरसी : एक समीक्षा-यात्रा • डॉ. मिथिलेश माहेश्वरी	300.00
सांप्रदायिकता और हिंदी कथासाहित्य • डॉ. मनोजकुमार	250.00
अपनी कविताओं में अशोक चक्रधर • डॉ. दीपा के.	250.00
आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में संगीत (पुरस्कृत) • डॉ. मीना अग्रवाल	450.00
डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य • डॉ. हरीशकुमार सिंह	350.00
डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल का व्यंग्य-साहित्य : कथ्य एवं भाषा • डॉ. वी. जयलक्ष्मी	450.00
साठोत्तरी हिंदी-गज़ल : डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान • डॉ. अनिलकुमार शर्मा	350.00
एक साक्षात्कार : पं. अमृतलाल नागर के साथ • डॉ. शंकर क्षेम	150.00
गज़ल : सौंदर्य और यथार्थ • अनिरुद्ध सिन्हा	150.00
समय के हस्ताक्षर (हिंदी के आधुनिक कवि) • डॉ. ज्योति व्यास	150.00
कालिदास के साहित्य में भौगोलिक तत्त्व • डॉ. लालबहादुर रावल	300.00
जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार • डॉ. अशोककुमार	350.00
बिजनौर क्षेत्र की ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन • डॉ. ओमदत्त आर्य	500.00
आस्थावाद एवं अन्य निबंध • डॉ. मिथिलेश दीक्षित	300.00
साहित्य और संस्कृति • डॉ. मिथिलेश दीक्षित	300.00
हिंदी व्यंग्य-निबंध : स्वतंत्रता के बाद • डॉ. आशा रावत	350.00
आजादी के बाद का हिंदी गद्य व्यंग्य • डॉ. प्रेम जनमेजय	500.00

हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष • विनोदचंद्र पांडेय	300.00
हिंदी बालसाहित्य : डॉ० सुरेंद्र विक्रम का योगदान • डॉ० स्वाति शर्मा	450.00
वादविवाद प्रतियोगिता : पक्ष और विपक्ष • डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
फिजी में प्रवासी भारतीय • डॉ० शुचि गुप्ता	300.00
मुक्तिबोध का रचना-संसार • डॉ० शिवशंकर लधवे	200.00
भीष्म साहनी का कथासाहित्य : सांप्रदायिक सद्भाव • डॉ० पी०आर० वासुदेवन	300.00
हिंदी ब्लॉगिंग : अभिव्यक्ति की नई क्रांति • अविनाश वाचस्पति, रवींद्र प्रभात	495.00
हिंदी ब्लॉगिंग का इतिहास • रवींद्र प्रभात	300.00
साठोत्तरी हिंदी रेखाचित्र : शैलीवैज्ञानिक अध्ययन • डॉ० मीनल रश्मि	250.00
सिनेमा, साहित्य और संस्कृति • नवलकिशोर शर्मा	150.00
हिंदी सिनेमा में दांपत्य-संबंध • डॉ० चंद्रकांत मिसाल	450.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (गीत खंड) • डॉ० आदित्य प्रचण्डिया	700.00
डॉ० महेंद्र सागर प्रचण्डिया समग्र (दोहा खंड) • डॉ० आदित्य प्रचण्डिया	700.00
अमरकांत का कथासाहित्य • डॉ० योगेश पाटिल	450.00
नारी-समस्याओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन • डॉ० अनुभूति भटनागर	450.00
सूरदास का सौंदर्य-चित्रण • डॉ० विजय इंदु	250.00
हरिऔध का सौंदर्य-चित्रण • डॉ० विजय इंदु	500.00
हरिवंशराय बच्चन के काव्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ • डॉ० राजकुमार जमदग्नि	500.00
समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक चेतना • डॉ० शीला गहलौत	500.00
नाटककार पंडित राधेश्याम कथावाचक • डॉ० अशोक उपाध्याय	200.00
हास्य-व्यंग्य	
मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
मेरे इक्यावन व्यंग्य • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
चुनी हुई हास्य कविताएँ • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
मंचीय व्यंग्य एकांकी • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बाबू झोलानाथ • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
राजनीति में गिरगिटवाद • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
आदमी और कुत्ते की नाक • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
आओ भ्रष्टाचार करें • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
भज्जी का जूता • महेशचंद्र द्विवेदी	150.00
क्लियर फंडा • महेशचंद्र द्विवेदी	120.00
प्रिय-अप्रिय प्रशासकीय प्रसंग • महेशचंद्र द्विवेदी	170.00
वीरप्पन की मूँछें • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
काका की विशिष्ट रचनाएँ • काका हाथरसी	300.00

काका के व्यंग्य-बाण • काका हाथरसी	200.00
कक्के के छक्के • काका हाथरसी	200.00
लूटनीति मंथन करी • काका हाथरसी	200.00
खिलखिलाहट • काका हाथरसी	200.00
वसीयतनामा • पं० सूर्यनारायण व्यास, सं० राजशेखर व्यास	150.00
पैसे कहाँ से दें • डॉ० आशा रावत	200.00
चाहिए एक और भगतसिंह • डॉ० आशा रावत	100.00
नमस्कार प्रजातंत्र • महेश राजा	150.00
ए जी सुनिए • अशोक चक्रधर	100.00
इसलिए बौड़म जी इसलिए • अशोक चक्रधर	100.00
चुटपुटकुले • अशोक चक्रधर	60.00
तमाशा • अशोक चक्रधर	60.00
सो तो है • अशोक चक्रधर	60.00
हँसो और मर जाओ • अशोक चक्रधर	60.00
नमस्ते जी • डॉ० बलजीत सिंह	150.00
अब हँसने की बारी है • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
अजगर करे न चाकरी • बाबूसिंह चौहान	200.00
दूध का धुला लोकतंत्र • गोपाल चतुर्वेदी	150.00
सच का सामना • हरीशकुमार सिंह	150.00
• डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
1995 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	65.00
1996 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	100.00
1997 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	100.00
1998 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	100.00
1999 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	120.00
2002 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	150.00
2003 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	150.00
2004 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ	170.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियाँ	200.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कविताएँ	200.00
पिछले दशक के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य एकांकी	200.00
शिवशर्मा के चुने हुए व्यंग्य • डॉ० शिव शर्मा	50.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • डॉ० शिव शर्मा	150.00
अपने-अपने भस्मासुर • डॉ० शिव शर्मा	150.00

प्रतिनिधि व्यंग्य • दामोदरदत्त दीक्षित	100.00
धमकीबाषी के युग में • निश्तर खानकाही	60.00
नो टेंशन • डॉ० सुरेश अवस्थी	170.00
ला खर्चा निकाल • गजेंद्र तिवारी	200.00
जलनेवाले जला करें • गजेंद्र तिवारी	60.00
ये है इंडिया • डॉ० हरीशकुमार सिंह	120.00
आँखों देखा हाल • डॉ० हरीशकुमार सिंह	150.00
लिफ्ट करा दे • डॉ० हरीशकुमार सिंह	200.00
देवेंद्र के कार्टून • देवेंद्र शर्मा	80.00
कार्टून कौतुक • देवेंद्र शर्मा	120.00
लिफ़ाफ़े का अर्थशास्त्र • डॉ० पिलकेंद्र अरोरा	120.00
पेट में दाढ़ियाँ हैं • सूर्यकुमार पांडेय	100.00
हँसते-हँसते कट जाएँ रस्ते • मधुप पांडेय	200.00

कहानी

एक सपना मेरा भी था • डॉ० आश रावत	200.00
एक थी माया • विजयकुमार	200.00
सरहदों के पार • सुरेशचंद्र शुक्ल	200.00
छोटे-छोटे सुख • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
कथा जारी है • बाबूसिंह चौहान	150.00
इक्कीस कहानियाँ • सत्यराज	100.00
अंदर धूप बाहर धूप (नारी-मन की कहानियाँ) • डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
उत्तराखंड की लोकगाथाएँ • डॉ० दिनेशचंद्र बलूनी	200.00
एक बौना मानव • महेशचंद्र द्विवेदी	100.00
लव जिहाद • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
हैं आस्माँ कई और भी • नीरजा द्विवेदी	200.00
कौन कितना निकट • रेणु 'राजवंशी' गुप्ता	120.00
लघु कथाएँ • डॉ० हरिशरण वर्मा	150.00
कमरा नंबर 103 • सुधा ओम ढींगरा	150.00
इमराना हाज़िर हो • महेशचंद्र द्विवेदी	150.00
कहानियाँ अमेरिका से • सं० इला प्रसाद	150.00
कुत्तेवाले पापा • मीना अग्रवाल	150.00
प्रेमचंद की कालजयी कहानियाँ • सं० डॉ० कमलकिशोर गोयनका	150.00
लघुकथाएँ मानव-जीवन की • सं० सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'	150.00

उपन्यास

इतिहास की आवाज़ • राजेन्द्र मिश्र	450.00
अनोखा उपहार • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
आसरा • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	100.00
तीन बीघा ज़मीन • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
मन के जीते जीत • श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
कालचक्र से परे • श्रीमती नीरजा द्विवेदी	200.00
भीगे पंख • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
मानिला की योगिनी • महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
और लहरें उफनती रहीं • डॉ० तारादत्त निर्विरोध	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास) • डॉ० शिव शर्मा	150.00
अराज-राज • डॉ० मोहन गुप्त	200.00
सुराज-राज • डॉ० मोहन गुप्त	350.00
एक गुमनाम फौजी की डायरी • डॉ० आशा रावत	150.00
एक चेहरे की कहानी • डॉ० आशा रावत	150.00
गुरुदक्षिणा (व्यंग्य-उपन्यास) • डॉ० आशा रावत	100.00
इतिहास की आवाज़ • डॉ० राजेन्द्र मिश्र	450.00

एकांकी-नाटक

• डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
मंचीय सामाजिक एकांकी	200.00
मंचीय हास्य-व्यंग्य एकांकी	200.00
बच्चों के हास्य नाटक	200.00
बच्चों के रोचक नाटक	200.00
बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक	200.00
बच्चों के अनुपम नाटक	200.00
बच्चों के उत्तम नाटक	200.00
भारतीय गौरव के बाल-नाटक	200.00
प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित नाटक	200.00
ग्यारह नुक्कड़ नाटक	200.00
नीली आँखें	60.00
बच्चों के अनोखे नाटक • प्रकाश मनु	200.00
हास्य-व्यंग्य के बाल नाटक • प्रकाश मनु	200.00
संसार : एक नाट्यशाला • बाबूसिंह चौहान	150.00
ग्यारह एकांकी • डॉ० हरिशरण वर्मा	200.00
दमन • रामाश्रय दीक्षित	100.00

स्वप्न पुरुष • डॉ० उर्मिला अग्रवाल	150.00
अफलातून की अकादमी • डॉ० शिव शर्मा	150.00

ललित निबंध एवं रेखाचित्र

कैसे-कैसे लोग मिले • निश्तर खानकाही	125.00
यादों का मधुबन • कृष्ण राघव	150.00
समय के चाक पर • डॉ० लालबहादुर रावल	125.00
समय एक नाटक • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
दर्पण झूठ बोलता है • बाबूसिंह चौहान	60.00
मकड़जाल में आदमी • बाबूसिंह चौहान	80.00
उफनती नदियों के सामने • बाबूसिंह चौहान	100.00
पीठ पर नील गगन • बाबूसिंह चौहान	100.00
इन दिनों समर में (प्रकाशनाधीन) • डॉ० कृष्णकुमार रत्नू	250.00
अनुभव के पंख • चंद्रवीरसिंह गहलौत	250.00

गीत-गुज़ल

निश्तर खानकाही समग्र (प्रकाशनाधीन)/ निश्तर खानकाही	500.000
ग़षल मैंने छेड़ी (ग़ज़ल-संग्रह)/ निश्तर खानकाही	80.00
ग़षलों के शहर में (ग़ज़ल-संग्रह)/ निश्तर खानकाही	200.00
मेरे लहू की आग (ग़ज़ल-संग्रह)/ निश्तर खानकाही	150.00
कोई आवाष देता है • डॉ० कुँअर बेचैन	150.00
दिन दिवंगत हुए • डॉ० कुँअर बेचैन	150.00
कुँअर बेचैन के नवगीत • डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
कुँअर बेचैन के प्रेमगीत • डॉ० कुँअर बेचैन	150.00
पर्स पर तितली (हाइकु) • डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
अक्षर हूँ मैं (कविताएँ) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
सन्नाटे में गूँज (ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
भीतर शोर बहुत है (ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
मौसम बदल गया कितना (ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
रोशनी बनकर जिओ (ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
शिकायत न करो तुम (ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
आदमी है कहाँ (ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
प्रतिनिधि ग़ज़लें • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
मातृभूमि के लिए • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	200.00
संघर्ष जारी है • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	170.00

जीवन-पथ में • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
देश हम जलने न देंगे • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
तुम भी मेरे साथ चलो • रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
उजियारा आशाओं का • तारा प्रकाश	150.00
बुलंदी इरादों की • तारा प्रकाश	150.00
चलने से मंषिल मिलती है • तारा प्रकाश	200.00
इंद्रधनुष • तारा प्रकाश	200.00
संवेदनाओं के रंग • तारा प्रकाश	200.00
तारा प्रकाश समग्र • तारा प्रकाश	600.00
शमा हर रंग में जलती है • रामेश्वरप्रसाद	150.00
आदमी के हक में (ग़ज़ल-संग्रह) • रामगोपाल भारतीय	100.00
यहाँ तक वहाँ से (कविताएँ) • रमेश कौशिक	200.00
हास्य नहीं व्यंग्य (कविताएँ) • रमेश कौशिक	150.00
गांधारी का सच (खंडकाव्य) • आर्यभूषण गर्ग	200.00
राधेय (खंडकाव्य) • डॉ० आकुल	120.00
असित चंद्र : अवदात चंद्रिका (काव्य-नाटक) • डॉ० आकुल	120.00
ज़िंदगी गाती तो है/(ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० आकुल	120.00
आसमान मेरा भी है (ग़ज़ल-संग्रह) • किशनस्वरूप	100.00
बूँद-बूँद सागर मैं (ग़ज़ल-संग्रह) • किशनस्वरूप	100.00
आँचल-आँचल खुशबू (ग़ज़ल-संग्रह) • कर्नल तिलकराज	100.00
ज़ख्म खिलने को हैं (ग़ज़ल-संग्रह) • कर्नल तिलकराज	100.00
हिरना लौट चलें (गीत-संग्रह) • शर्चींद्र भटनागर	150.00
तिराहे पर (ग़ज़ल-संग्रह) • शर्चींद्र भटनागर	150.00
ढाई आखर प्रेम के (गीत-संग्रह) • शर्चींद्र भटनागर	200.00
अखंडित अस्मिता (मुक्तक) • शर्चींद्र भटनागर	200.00
सुरों के ख़त • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सुनहरे मंत्र का जादू • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सुनाते हुए ऋतुगीत • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	150.00
सुबह की अंगूठी • अश्विनीकुमार 'विष्णु'	150.00
सफ़र में साथ-साथ (मुक्तक-संग्रह) • डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
जो सच कहे (हाइकु-संग्रह) • डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
यादें बोलती हैं (कविताएँ) • डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
गुलमुहर की छाँव में (ग़ज़ल-संग्रह) • मनोज अबोध	100.00
मेरे भीतर महक रहा है (ग़ज़ल-संग्रह) • मनोज अबोध	150.00

अग्निसुता • राजेंद्र शर्मा	150.00
सीतायनी • डॉ० शंकर क्षेम	150.00
एक मुट्ठी धूप • नीरजा सिंह	100.00
कटे हाथों के हस्ताक्षर • डॉ० कमल मुसद्दी	150.00
फ़ासले मिट जाएँगे (ग़ज़ल-संग्रह) • डॉ० बलजीत सिंह	150.00
शब्द-शब्द संदेश (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	150.00
जीवन है मुस्कान (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	150.00
भीतर का संगीत (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
सुख के बिरवे रोप (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
इंद्रधनुष के रंग (दोहे) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
प्यार के गुलाल से (हाइकु) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
हारना हिम्मत नहीं (मुक्तक) • डॉ० बलजीत सिंह	200.00
बहती नदी हो जाइए (ग़ज़लें) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	150.00
औंधियारों से लड़ना सीखें (ग़ज़लें) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
जीवन-अमृत : पर्यावरण चेतना (दोहा-संग्रह) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
अक्षर-अक्षर हो अमर (दोहा-संग्रह) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
वैदुष्यमणि विद्योत्तमा (खंडकाव्य) • डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
अनजाने आकाश में • महेशचंद्र द्विवेदी	170.00
बातें कुछ अनकही • सत्येंद्र गुप्ता	200.00
मैंने देखा है • सत्येंद्र गुप्ता	200.00
हौसला तो है • सत्येंद्र गुप्ता	200.00
षिंदगी रुकती नहीं • सत्येंद्र गुप्ता	200.00
जष्वात की धूप • धूप धौलपुरी	250.00
मैं एक समुद्र • डॉ० तारादत्त 'निर्विरोध'	200.00
आड़ी-तिरछी यादों-सा कुछ • नवलकिशोर शर्मा	180.00
जब चाँद डूब रहा था • नवलकिशोर शर्मा	200.00
एड्स शतक • पूरणसिंह सैनी	150.00
श्रीगोगाचरित (महाकाव्य) • पूरणसिंह सैनी	300.00
खोजें जीवन सत्य (दोहे) • डॉ० ओमदत्त आर्य	150.00
अपनी एक लकीर (दोहे) • डॉ० ओमदत्त आर्य	200.00
राष्ट्र-शक्ति • सलेकचंद संगल	150.00
माँ तुझे प्रणाम • सलेकचंद संगल	150.00
लहरों के विरुद्ध • डॉ० रामप्रकाश	200.00
हर वृक्ष महाबोधि नहीं होता • महेंद्र कुमार	200.00

समय के भूगोल में • राजेंद्र मिश्र	200.00
असाबिया • राजेंद्र मिश्र	200.00
पीड़ा का राजमहल • डॉ० उर्मिला अग्रवाल	200.00
उड़ान जारी है • विनोद भृंग	200.00
सूर्यनगर की चाँदनी • रामेश्वर वैष्णव	150.00
कहता कुछ मौन (हाइकु-संग्रह) • हरिराम पथिक	200.00
डॉ० महेंद्रसागर प्रचण्डिया समग्र (भाग एक) • सं० डॉ० आदित्य प्रचण्डिया	700.00
डॉ० महेंद्रसागर प्रचण्डिया समग्र (भाग दो) • सं० डॉ० आदित्य प्रचण्डिया	700.00
मान भी जा छुटकी • गीतिका गोयल	150.00
धनुषभंजक राम • चंद्रवीरसिंह गहलौत 'बेदाग'	200.00
कविताएँ फेसबुक से • लालित्य ललित	200.00

आत्मकथा-संस्मरण, साक्षात्कार, पत्र

मेरा जीवन : ए-वन • काका हाथरसी	300.00
आमिर खान : हिंदी सिनेमा के सेवक • धर्मेन्द्र उपाध्याय	250.00
आत्मसरोवर • ओम्प्रकाश अग्रवाल	125.00
निष्ठा के शिखर-बिंदु • नीरजा द्विवेदी	200.00
स्विट्ज़रलैंड के वे 21 दिन • नीरजा द्विवेदी	200.00
सफ़र साठ साल का • डॉ० अजय जनमेजय (सं)	400.00
यादों की गुल्लक • गीतिका गोयल, डॉ० अनुभूति (संपादक)	300.00
आधी हकीकत आधा फ़साना • डॉ० बलजीतसिंह	150.00
मेरे साक्षात्कार • डॉ० बालशौरि रेड्डी	250.00
संवाद : साहित्यकारों से • डॉ० गंगाप्रसाद गुप्त 'बरसैया'	200.00
उत्तरोत्तर • डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल (संपादक)	250.00

बाल-साहित्य

धरती पर चाँद (पुरस्कृत) • शंभूनाथ तिवारी	150.00
हम बगिया के फूल (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	150.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	150.00
छुट्टी के दिन बड़े सुहाने (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
दिन बचपन के (बालगीत) • डॉ० बलजीतसिंह	200.00
जादूगर बादल (बालगीत) • विनोद भृंग	150.00
आटे-बाटे दही चटाके (शिशुगीत) • बालकृष्ण गर्ग	150.00
चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत) • गीतिका गोयल	150.00
किशोर मन की कहानियाँ • डॉ० सरला अग्रवाल	150.00

चलो आकाश को छू लें • डॉ तारादत्त निर्विरोध	200.00
मानव-विकास की कहानी • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
पार्टी गेम्स • चाँदनी कक्कड़	125.00
कागज की नाव • डॉ सरोजनी कुलश्रेष्ठ	150.00
गधा बत्तीसी • लक्ष्मी खन्ना 'सुमन'	200.00

विविध

सिनेमा, साहित्य और संस्कृति • नवलकिशोर शर्मा	150.00
उत्तराखण्ड में आध्यात्मिक पर्यटन • डॉ सरिता शाह	200.00
• निश्तर खानकाही, डॉ गिरिराजशरण, डॉ मीना अग्रवाल	
पर्यावरण : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
नारी : कल और आज	300.00
• निश्तर खानकाही, डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	
विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे	125.00
हिंसा : कैसी-कैसी	200.00
• रमेशचंद्र दीक्षित, निश्तर खानकाही,	
डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	
मानवाधिकार : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
अपराध-अपराधी : अन्वेषण एवं अभियोजन • डॉ गिरिराज शाह	200.00
गुरु नानकदेव • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
आप भी तनावमुक्त हो सकते हैं • डॉ गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
वेद-वेदान्त दर्शन • डॉ मूलचन्द दालभ	300.00
प्रकृति : एक ज्ञेय तत्त्व • डॉ मूलचन्द दालभ	300.00
कन्हैया गीता • डॉ मूलचन्द दालभ	900.00
टास्कफोर्स : हैल्थकेयर प्रोजेक्ट्स • डॉ गोविंद शर्मा एवं रवि लंगर	450.00
सिद्धाश्रम का संन्यासी • मनोज भारद्वाज	300.00
समुद्री दैत्य सुनामी • डॉ लालबहादुर रावल	300.00
Ecosystem in The Central Himalyas • Dr.Vikram Singh IPS	200.00

अपना आदेश निम्नलिखित पते पर भेजें

हिंदी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 0124-4076565

07838090732

जनसुलभ साहित्य माला

हिंदी साहित्य निकेतन ने जनसुलभ साहित्य माला के अंतर्गत निम्नलिखित पुस्तकों को प्रकाशित किया है। इनमें से प्रत्येक पुस्तक का मूल्य केवल पचास रुपए है। 12 पुस्तकों का पूरा सैट मात्र 500 रुपए में।

कहानी

कमरा नंबर 103 / सुधा ओम ढींगरा

इमराना हाज़िर हो / महेशचंद्र द्विवेदी

कुत्तेवाले पापा / डॉ० मीना अग्रवाल

प्रेमचंद : कालजयी कहानियाँ / सं० डॉ० कमलकिशोर गोयनका

लघुकथाएँ मानव-जीवन की /

सं० सुकेश साहनी, रामेश्वर कांबोज 'हिमांशु'

कहानियाँ अमेरिका से / सं० इला प्रसाद

व्यंग्य

दूध का धुला लोकतंत्र / गोपाल चतुर्वेदी

आदमी और कुत्ते की नाक / डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

सच का सामना / डॉ० हरीशकुमार सिंह

व्यंग्य-एकांकी

अफलातून की अकादमी / डॉ० शिव शर्मा

सिनेमा

सिनेमा, साहित्य और संस्कृति / नवलकिशोर शर्मा

कविता

मान भी जा छुटकी / गीतिका गोयल

